दलित प्रश्न और डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का लेखन

Dalit prashn aur Dr. Sheoraj Singh 'bechain' ka lekhan

The writing of Dr. Sheoraj Singh 'bechain' and the dalit question

पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबंध

शोध–निर्देशक

प्रो. राम चन्द्र

शोधार्थी

कविता यादव

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली–110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated:20/07/2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. Thesis entitle "**Dalit prashn aur Dr. Sheoraj Singh 'bechain' ka lekhan" (The writing of Dr. Sheoraj Singh 'bechain' and the dalit question)** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

Kavita Yadav

KAVITA YADAV
(Research Scholar)

PROF. RAM CHANDRA
(SUPERVISOR)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. GOBIND PRASAD
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

समस्त

प्रिय परिजनों

को समर्पित

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

भूमिका i-vii

प्रथम अध्याय 1-40

दलित प्रश्न और दलित साहित्य लेखन

1.1 दलित साहित्य : उद्‌भव–विकास, आंदोलन और उद्देश्य

1.2 दलित साहित्य : आशय, अवधारणा और विवाद

द्वितीय अध्याय 41-73

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का लेखन : रचना और आलोचना की निर्मिति

2.1 मेहनतकश और उत्पीड़ित–उपेक्षित दलित जीवन के भोगे हुए अनुभव

2.2 दलित अस्मिताओं के महानायकों का व्यक्तित्व, कृतित्व, विचार और आंदोलन

तृतीय अध्याय 74-118

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताएं : संवेदना और सरोकार

3.1 प्रज्ञा, शील, करुणा, समता, स्वतंत्रता और बंधुता के प्रति निष्ठा

3.2 वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्राह्मणवाद, जाति–जुल्मों और सामंती मूल्यों के प्रति विद्रोह

3.3 सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक व शैक्षिक उपेक्षा–उत्पीड़न के प्रति विद्रोह

चतुर्थ अध्याय 119-162

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में अभिव्यक्त बाल शोषण और दलित जीवन की दास्ताँ

4.1 साहित्य में दलित आत्मकथाओं की विशेषता और आवश्यकता

4.2 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में अभिव्यक्त बाल–शोषण तथा दलित जीवन

पाँचवां अध्याय 163-205

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानियों में अभिव्यक्त दलित चेतना

5.1 सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व धार्मिक उत्पीड़न और दलित चेतना

5.2 शैक्षणिक संस्थानों में छुआछूत–जातिगत भेदभाव और दलित चेतना

5.3 अंतर्जातीय प्रेम विवाह का मकड़जाल और दलित चेतना

5.4 सत्ता व राजनीति में ब्राह्मणवाद की कूटनीति और दलित चेतना

छठा अध्याय 206-229

दलित प्रश्न और डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का आलोचना–कर्म

6.1 छुआछूत तथा जातिगत भेदभावों से फैलती विषमता और मानवीय मूल्यों का ह्रास

6.2 पितृसत्ता तथा सामंती व्यवस्था में दलित, गैर–दलित स्त्रियों के अधिकार

6.3 भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के दौर में दलित अस्तित्व का प्रश्न

उपसंहार 230-240

परिशिष्ट – प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का साक्षात्कार 241-268

संदर्भ ग्रंथ सूची 269-287

भूमिका

भारतीय समाज में व्याप्त दलित उत्पीड़न व शोषण की करुण गाथा से आज कौन परिचित नहीं है ? सदियों से शोषित, पीड़ित एवं उपेक्षित दलित वर्ग को न्याय दिलाने के लिए आंदोलन भी होते रहे हैं, फिर भी इस अमानवीय व्यवस्था का कोई तर्कसंगत स्थायी हल नहीं निकल सका है। दलितों पर होने वाले अत्याचारों से संबंधित समाचार पत्र–पत्रिकाओं में मुखपृष्ठों पर खबर छपने लगी हैं, जुलूस निकाले जा रहे हैं, धरने–प्रदर्शन व भूख हड़तालें की जा रही हैं फिर भी शोषण व उत्पीड़न का सिलसिला खत्म ही नहीं हो रहा है। हर तरह के अधिकारों से वंचित दलित समाज को आज भी शोषक शक्तियों की ओर से घृणा, तिरस्कार व हिंसा झेलनी पड़ रही है।

चिंता का विषय तो यह है कि भारत की आजादी की स्वर्ण जयंती मनायी जा चुकी है। मानवाधिकारों की बहाली की घोषणा इस स्वर्ण जयंती के अवसर पर की जा चुकी है। देश को आजाद हुए सत्तर साल बीत चुके हैं, इसके बाद भी आम जन जीवन और साहित्य की परिधि में दलितों के लिए वह स्थान आज तक नहीं बन पाया, जो स्वाधीन देश में बनना अपेक्षित था।

समाज के विभिन्न क्षेत्रों सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व शैक्षणिक आदि में विकास तो कमोवेश हुए हैं, परंतु आज भी दलित समाज अपनी अस्मिता की तलाश में भटकते हुए शोषण व चुनौतियों के निरंतर शिकार हो रहे हैं। यद्यपि साहित्य के क्षेत्र में 'दलित प्रश्न' बहुत ज्यादा नवीन मुद्दा नहीं है बल्कि यह तो साहित्य में खासकर हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक दिनों से ही विभिन्न कवियों और विचारकों द्वारा उठाया जाता रहा है।

दलित जीवन को संपूर्ण मानवीय मूल्यों के साथ पारंपरिक व भारतीय समाज के बीच समरसता और सौहार्दपूर्ण माहौल में जीने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता रही है तथा जिन कर्त्तव्यों की मांग भारत सरकार से समय–समय पर की जाती रही है उसके बावजूद जो आज तक पूरी न हो सकी, उसे ही 'दलित प्रश्न' के रूप में जाना

जाता है। इसमें सबसे बड़ा व अनसुलझा सवाल अस्पृश्यता व जाति–भेद का सवाल है जोकि अन्य सभी विसंगतियों का मूल बिंदु रहा है।

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने भी कहा था कि 'हमारा उद्देश्य अछूतों को हिन्दुओं के अत्याचार से मुक्ति दिलाना है। जब तक वर्तमान भेदभाव वाली व्यवस्था जारी रहेगी अछूतों को हिन्दुओं के चंगुल से मुक्ति दिलाना अथवा उनका अस्पृश्यता से छुटकारा दिलाना असंभव होगा।' दलित साहित्य का उद्देश्य भी यही है जाति–पांति को खत्म करना और समरस समाज की रचना करना जिसमें प्रत्येक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के समान समझा जाए, सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था हो, सभी में बराबरी व भाई–चारे की भावना पैदा करना ही हमारा उद्देश्य हो। सार रूप में कहा जाए तो भारत का संविधान भी हमें यही शिक्षा देता है।

यही सामाजिक यथार्थ से जुड़ी विभिन्न विसंगतियां एवं विद्रूपताएं मुझे अंदर–अंदर सदैव कचोटती रही हैं। समाज में व्याप्त तरह–तरह की दलितों की उपेक्षा और स्त्री–दुर्दशा की समस्याओं को लेकर मेरे मन में सदैव एक गहरी चिंता और उथल–पुथल रही है। विशेषकर दलितों की स्थिति जो आज भी सोचनीय व बदतर बनी हुई है। पीएच.डी. के शोध–विषय के प्रति मेरी आकांक्षा थी कि मुझे मेरा मन पसंद विषय मिले। मेरे गुरु डॉ. राम चन्द्र ने इस आकांक्षा को जानकर मुझे दलित प्रश्नों पर शोध–कार्य करने का सुझाव दिया। अब जबकि लोकतांत्रिक व्यवस्था एवं समाज सुधार आंदोलनों के चलते शोषण एवं उससे मुक्ति की ओर लोगों का ध्यान गया है, तो दलित चिंतकों ने भी साहित्य और अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों से दलित पीड़ा को व्यक्त करना शुरू कर दिया है फिर भी व्यवस्था के शीर्ष पर बैठा एक तबका आज भी दलितों की इन आवाजों को दबा देना चाहता है। परंतु अब वह स्थिति नहीं रही जिसमें कि निरंतर शोषण करते जाना और शोषितों की चीख भी न निकलने देना संभव हो सके। इसलिए जहाँ साहित्य की विभिन्न विधाओं में दलित चिंतक व लेखक अपनी बराबर पैठ बना रहे हैं वहीं उच्च शिक्षा की ओर उन्मुख दलितों का एक तबका इन साहित्यिक विधाओं को शोध के माध्यम से विवेचित और विश्लेषित करके अपने समाज की पीड़ा को हर एक क्षेत्र तक ले जाना चाह रहा है। इसी प्रकार की एक और समसामयिक कड़ी के रूप में मेरा यह शोध–प्रबंध एक विनम्र प्रयास है।

मेरे शोध–प्रबंध का शीर्षक **"दलित प्रश्न और डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का लेखन"** है। हिन्दी दलित साहित्य के क्षेत्र में डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का नाम कोई अपरिचित नाम नहीं है। चूँकि वे अपनी रचना व आलोचना दोनों के माध्यम से दलितों के दुःख–दर्द व अन्य प्रश्नों को समाज के समक्ष उठाते रहे हैं और उनका चित्रण भी बड़े मार्मिक ढंग से करते रहे हैं। मैंने अध्ययन के दौरान पाया है कि मेरे शोध विषय के पात्र डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का लेखन अनेक विधाओं में उपलब्ध है। इसलिए मैंने अपना अध्ययन विधावार व्यवस्थित करने का प्रयास किया है। इस प्रकार मेरा यह शोध–प्रबंध छह अध्यायों में विभाजित हुआ है –

प्रथम अध्याय में मैंने दलित प्रश्नों पर विचार करते हुए दलित साहित्य लेखन की परंपरा और पृष्ठभूमि का अध्ययन किया है। यद्यपि दलित साहित्य की पृष्ठभूमि तो पहले से विद्यमान थी, लेकिन 'दलित' शब्द और 'दलित साहित्य' शब्द बाद में सामने आए तथा इनका अर्थ व स्वरुप क्या है, फुलेवादी और अम्बेडकरवादी वैचारिकी पर विचार करने के साथ–साथ हिन्दी क्षेत्र के दलित लेखन के मौलिक योगदान को ध्यान में रखते हुए इस अध्याय में मैंने दलित व गैर–दलित आलोचकों की आलोचना से हुए विवाद पर भी पूरी संजीदगी से चर्चा की है।

दूसरे अध्याय में मैंने डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का लेखन : रचना व आलोचना की निर्मिति में उनके मेहनतकश और उत्पीड़ित–उपेक्षित दलित जीवन के भोगे हुए अनुभवों को दर्शाया है। इसके साथ ही उनके लेखन में दलित अस्मिताओं के महानायकों के व्यक्तित्व–कृतित्व, विचार और आंदोलन की क्या भूमिका रही है, इस प्रश्न पर भी विचार किया है।

तीसरे अध्याय में मैंने डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के पद्य की ओर दृष्टि दौड़ाई है, उनकी कविताओं में समाहित व्यापक मानवीय संवेदना और सरोकारों पर विचार किया है। लेखक की संवेदना उनके लेखन के शुरूआती दौर से ही मेहनतकश किसानों, मजदूरों, दलितों व स्त्रियों के साथ रही है। इसलिए उन्होंने अपनी कविताओं में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक व शैक्षिक उपेक्षा–उत्पीड़न के प्रति भी विद्रोह व्यक्त किया है। जैसा कि हम जानते हैं कि जाति का सवाल उनकी कविताओं के केंद्र

में उभर कर आया है, इसलिए उन्होंने अपनी कविताओं में वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्राह्मणवाद, पूँजीवाद, जाति–जुल्मों व सामंतवादी मूल्यों के प्रति भी विद्रोह व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त लेखक ने प्रज्ञा, शील, करुणा, स्वतंत्रता, समता, बंधुता व शिक्षा के प्रति निष्ठा को भी अपनी कविताओं में दर्शाया है।

चौथे अध्याय में मैंने डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की बहुचर्चित व बहुपठित आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में अभिव्यक्त बाल शोषण और दलित जीवन की दास्ताँ में निहित मर्मस्पर्शी प्रसंगों का विश्लेषण किया है। सर्वप्रथम मैंने साहित्य में दलित आत्मकथाओं की विशेषता और आवश्यकता पर विचार किया है। इसके पश्चात् बालक श्यौराज की शिक्षा, परवरिश, परिवार व शिक्षक के प्रति क्या दृष्टि रही है, छुआछूत की भावना और आर्थिक विपन्नता के कारण शिक्षा, सम्मान, स्वाभिमान व भूख की राह में उन्हें किन–किन मुश्किलों का सामना करना पड़ा, रोटी व शिक्षा के लिए उन्होंने बचपन में स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाने वाले कौन–कौन से बालश्रम किए, इस पर विचार किया है। इसके साथ–साथ आत्मकथा में अभिव्यक्त ब्राह्मणवादी व सामंती मूल्यों के शिकंजे में स्त्रियों का संघर्ष भी विश्लेषित किया है।

पाँचवे अध्याय में मैंने डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानियों में अभिव्यक्त दलित चेतना में 'दलित चेतना क्या है' पर विचार करते हुए श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानियों के विषय व समस्याओं पर विचार किया है जिसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व धार्मिक उत्पीड़न, शैक्षणिक संस्थानों में छुआछूत–जातिगत भेदभाव, अंतर्जातीय प्रेम विवाह का मकड़जाल, शिक्षा के निजीकरण व व्यवसायीकरण से दलितों को दुर्लभ हुई गुणकारी शिक्षा की समस्या और सत्ता व राजनीति में ब्राह्मणवाद की कूटनीति और दलित चेतना नामक उपविषयों पर भी विचार किया है।

छठे अध्याय में मैंने दलित प्रश्न और डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का आलोचना कर्म में निम्नलिखित बिंदुओं को विश्लेषित किया है– छुआछूत तथा जातिगत भेदभावों से फैलती विषमता और मानवीय मूल्यों का ह्रास, शिक्षण संस्थानों तथा प्रशासनिक सेवाओं में आरक्षण व दलितों की पदोन्नति, साहित्य, पत्रकारिता, मीडिया और राजनीति में दलितों की हिस्सेदारी के प्रश्न पर चर्चा की है। पितृसत्ता तथा सामंती व्यवस्था में

दलित, गैर–दलित स्त्रियों के अधिकारों पर विचार करने के साथ–साथ भूमंडलीकरण, निजीकरण, उदारीकरण के दौर में दलित अस्तित्व के प्रश्न का विश्लेषण भी किया गया है।

अंतिम अध्याय सात परिशिष्ट के रूप में है, जिसमें रचनाकार डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का मेरे द्वारा लिया गया साक्षात्कार शामिल है। इस साक्षात्कार के दौरान लेखक के जीवन और साहित्य से जुड़ी कई नई–नई बातों की जानकारी मिली जो कहीं उपलब्ध नहीं थी।

इस शोध–प्रबंध के अंत में उपसंहार है, जिसमें सभी अध्यायों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

शोध–प्रबंध के दौरान मैंने विभिन्न संस्थाओं व अनेक व्यक्तियों से सहायता प्राप्त की। इनमें दिल्ली की तीन मूर्ति लाइब्रेरी, दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी, दिल्ली विश्वविद्यालय की सेंट्रल लाइब्रेरी, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय की भीमराव अम्बेडकर लाइब्रेरी इत्यादि प्रमुख हैं।

शोध–कार्य के दौरान मुझे गहरे आत्ममंथन से गुजरना पड़ा। मेरी जिज्ञासा को बढ़ाने तथा सोच–विचार और चिंतन को तलाशने और एक नई दृष्टि प्रदान करने में मेरे शोध–निर्देशक डॉ. राम चन्द्र की अहम् भूमिका रही है। उनकी सहमति विषय चुनने से लेकर शोध कार्य करने के दौरान स्वतंत्र विचार प्रस्तुत करने तक बराबर बनी रही। शोध–कार्य के पूरा होने तक निर्देशन के साथ–साथ उनका स्नेह, अपनत्व व सहयोग मुझे बराबर मिला है। उनके आभार के लिए मेरे पास शब्द नहीं है, लेकिन यह जरुर कह सकती हूँ कि यदि उनका मार्गदर्शन न मिलता तो यह कार्य निश्चित ही अधूरा रह जाता।

विशेष रूप से डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का सहयोग बहुमूल्य है। उनसे समय–समय पर की बातचीत से मेरा उत्साहवर्द्धन करने के साथ–साथ कई विषयों को समझने में मेरी सहायता की तथा अपनी संपूर्ण रचना व आलोचना सामग्री मुझे उपलब्ध कराने में उनका बहुत बड़ा योगदान है।

एक शोधार्थी के रूप में मैं अत्यंत भाग्यशाली रही हूँ कि डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की पत्नी डॉ. रजत रानी 'मीनू' जी से मेरा परिचय वर्ष 2005 में ही हो गया था, जब मैंने कमला नेहरु कॉलेज में बी.ए. हिन्दी ऑनर्स में दाखिला लिया था, तब वह मेरे जीवन में हिन्दी की प्राध्यापिका बन कर आई, और हमें "हिन्दी भाषा, साहित्य व संस्कृति" नामक प्रश्न–पत्र पढ़ाती थीं, इसी प्रश्न–पत्र के अंतर्गत दलित साहित्य और स्त्रीवादी विमर्श शामिल हुए थे जो हमारे लिए जिज्ञासा के विषय थे। डॉ. रजत रानी 'मीनू' ने हमें 'दलित विमर्श' नामक उपविषय का भी अध्ययन कराया और सर्वप्रथम तभी मैं 'दलित साहित्य' से परिचित हुई। उससे पूर्व मैं इस शब्द से अपरिचित थी। चूँकि हमारे कॉलेज और विश्वविद्यालय में दलित साहित्य भी दलितों की तरह अछूत समझा जाता था। उनके मेरे जीवन में आने से ही मैंने अपना एम.फिल. व पीएच.डी. के विषय दलित साहित्य पर आधारित रखे। उन्होंने मेरे शोध–कार्य के दौरान समय–समय पर मेरा मार्गदर्शन किया, जिसकी मैं आभारी हूँ।

इसके अतिरिक्त भारतीय भाषा केन्द्र के एसोसिएट प्रोफेसर डॉ. गंगा सहाय मीणा सर तथा जे.एन.यू. के ही शोधार्थी रहे डॉ. नितिन गायकवाड जी को हृदय से धन्यवाद देती हूँ क्योंकि उन्होंने समय–समय पर मुझे शोध–कार्य करने के लिए प्रेरित किया, नितिन भैया ने तो मेरा पीएच.डी. का विषय पास होने के बाद शोध–प्रबंध के अध्याय व उपअध्याय बनाने तथा उन विषयों को समझने में मेरी मदद की, जिससे मैं आसानी से अपने शोध–प्रबंध को लिख पाई। इसके अलावा मेरे अग्रज जनों में डॉ. रमेश सोनी का बहुत सहयोग रहा उन्होंने मुझे हिन्दी में टाइपिंग करना सिखाया और मेरे शोध की प्रूप रीडिंग भी की तथा मेरी मित्र मंडली में कल्पना, पूजा राधा, प्रेमपाल, मनीषा व अंशिता शुक्ला को धन्यवाद देती हूँ क्योंकि ये मेरे जीवन के अभिन्न मित्र हैं, जिन्होंने हर परेशानी में मेरा साथ दिया है। कल्पना ने समय–समय पर मेरे छात्रावास आकर श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताएं व कहानियां समझने में मेरी मदद की।

व्यक्ति को लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जिस लगन, सहायता, तप और परिश्रम की आवश्यकता होती है, उसको फलीभूत करने में मेरे जीवनसाथी अनिप का सहयोग मुझे बराबर मिला। जिस समय मेरा पीएच.डी. का विषय पास हुआ, उस समय मेरा बेटा एक वर्ष का था जब वह ढाई साल का हुआ तब से¬ मैंने उसे उसकी दादी के पास छोड़ा

तभी से लेकर आज तक वह अपनी मम्मी से आज भी उतना ही प्यार करता है जितना तब करता था। इसके लिए मैं अपने बेटे हनी के प्रति भावुक हूँ। उसमें मेरी सास का बहुत बड़ा योगदान है इसलिए मैं सुनीता यादव (सासू माँ) के प्रति कृतज्ञ हूँ, क्योंकि अगर मुझे उनका सहयोग नहीं मिलता तो आज मैं अपना शोध–प्रबंध पूर्ण नहीं कर पाती। इसके साथ ही मैं अपने मम्मी, पापा, मामा, मामी, मौसी, भैया, भाभी, दीदी की भी आभारी हूँ, जिन्होंने समय–समय पर मुझे सहयोग किया।

कविता यादव

प्रथम अध्याय

दलित प्रश्न और दलित साहित्य लेखन

1.1 दलित साहित्य : उद्‌भव–विकास, आंदोलन और उद्देश्य

1.2 दलित साहित्य : आशय, अवधारणा और विवाद

दलित प्रश्न और दलित साहित्य लेखन

वर्तमान में दलित साहित्य और दलित आंदोलन एक ऐसे मुकाम पर पहुँच गया है, जहाँ उसको कई प्रकार के जटिल प्रश्नों का सामना करना पड़ रहा है। दलित साहित्यकारों को इन प्रश्नों का सामना किए बगैर आगे निकलना संभव नहीं है, बल्कि दलित साहित्य लेखन के लिए यह जरुरी है कि वे आसन्न समस्याओं, चुनौतियों का सामना करें।

दलित साहित्य को पढ़ते समय मन में कई तरह के प्रश्न उठते हैं – मसलन क्या वाकई हम इक्कसवीं सदी में जी रहे हैं ? आज भी हमारे देश में दलितों की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षणिक स्थितियां सोचनीय हैं। आज भी इस समाज में ऐसे लोगों की भरमार है, जो अस्पृश्यता, गरीबी, बेकारी, अशिक्षा तथा अन्धविश्वास में जीवन जीने को आज भी मजबूर हैं। आज भी दलित सामंती–क्रूरता, शोषण और धार्मिक भेदभाव, बलात्कार के शिकार हैं, इस बात का अंदाजा इस उदाहरण को देखकर लगाया जा सकता है कि – "दलितों पर अत्याचारों की हालत यह है कि देश में हर एक घंटे में दो दलितों को हिंसक घटनाओं का शिकार होना पड़ता है, प्रत्येक दिन तीन दलित औरतों के साथ बलात्कार होता है, प्रत्येक दिन दो दलितों की हत्या कर दी जाती है और दो दलित घरों में आग लगा दी जाती है।"[1]

आखिर सोचने वाली बात यह है कि क्यों हर एक घंटे में दो दलितों को हिंसक घटनाओं का शिकार होना पड़ता है ? आखिर क्यों प्रत्येक दिन तीन दलित स्त्रियों के साथ बलात्कार होते हैं ? आखिर क्यों प्रत्येक दिन दो दलितों की हत्या कर दी जाती है और क्यों प्रत्येक दिन दो दलितों के घरों में आग लगा दी जाती है ? आखिर क्या आशय है इन घटनाओं का ? क्या ये घटनाएं दलितों की दीन–हीन, शोषित–पीड़ित स्थिति की परिचायक नहीं है ? इसका उत्तर इस बात में निहित है कि भारतीय समाज में वर्णवादी व्यवस्था का ऐसा घोल विद्यमान है, जिसे तथाकथित सवर्ण हिन्दू छोड़ने के लिए कतई तैयार नहीं है बल्कि हर कीमत पर अपनी जातीय श्रेष्ठता और भेदभावपूर्ण असमानता को बनाए रखना चाहते हैं। अतः 'जातिवाद का प्रश्न' एक ऐसा जटिल प्रश्न है, जिसने इस समाज में बहुत सारी समस्याएं उत्पन्न की हैं।

दलित साहित्य लेखन में जातिवाद के प्रश्न से तात्पर्य जाति से मुक्ति के सवाल से है। जाति–व्यवस्था ने हजारों वर्षों के इतिहास में गैर–बराबरी, ब्राह्मणवादी वर्चस्व को स्थापित करके जाति आधारित शोषण की नींव पुख्ता की है। इसके कारण दलित लगातार विपन्नता, दरिद्रता, अस्पृश्यता तथा सामाजिक विद्वेष के शिकार होते रहे हैं। उन पर बेगार–प्रथा का अंकुश लगाकर उन्हें दासता की गहरी खाई में डाल दिया गया है। बंधुआ मजदूर जैसे अमानवीय बंधनों तक में उन्हें पीढ़ी–दर–पीढ़ी बाँधकर रखा गया। जाति–व्यवस्था आज भी भारतीय जीवन का एक विशिष्ट अंग है और समूचे परिदृश्य को प्रभावित कर रही है। जिनका वर्चस्व है वे इसे छोड़ना नहीं चाहते और अपने प्रभाव का दायरा लगातार विकसित करते जा रहे हैं।

वर्णवादी व्यवस्था के उत्पन्न होने के साथ ही कई प्रश्न उभर कर आते हैं। दलित साहित्य लेखन में सबसे बड़ा और अनसुलझा सवाल अस्पृश्यता का सवाल है, जोकि अन्य सभी विसंगतियों का मूल बिंदु रहा है। इसके अतिरिक्त अस्मिता का प्रश्न, समानता का प्रश्न, गरीबी का प्रश्न, भूमि का प्रश्न, आरक्षण का प्रश्न, शिक्षा का प्रश्न आदि भी इसी जातिवादी व्यवस्था के कारण पैदा हुए हैं। चूँकि 'जाति' भारतीय समाज व्यवस्था की एक ऐतिहासिक विडंबना है जो सामाजिक वर्चस्व कायम करने के उद्देश्य से रची गई है। इसे धार्मिक दार्शनिकता में लपेटकर समाज के ऊपर थोपा गया है। इसे सही व उचित ठहराने के लिए अनेक टोटके रचे गये हैं, जो आज भी जारी है।

डॉ. अम्बेडकर का कथन है कि – "जाति एक ऐसा दैत्य है, जो आपके मार्ग में खड़ा है। आप जब तक इस दैत्य को नहीं मारोगे, आप न कोई राजनीतिक सुधार कर सकते हैं, न कोई आर्थिक सुधार।"[2]

अतः भारतीय समाज में 'जाति' एक महत्त्वपूर्ण घटक है जो जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित करता है अर्थात् जब तक यह नहीं पता होता कि आप दलित हैं तो सब कुछ ठीक रहता है, जाति मालूम होते ही सब कुछ बदल जाता है, दलित होने की पीड़ा नस–नस में उतर जाती है।

डॉ. तुलसीराम का मानना है कि – "अभी भी दलितों की असली समस्या जाति–व्यवस्था है, जिसे मजबूत करने का नए सिरे से प्रयास भी किया जा रहा है।"[3]

डॉ. जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं कि – "दलितों की असली समस्या है वर्ण और जाति की समस्या, समाज में उनके सम्मान और स्वीकृति की समस्या, जिसके चलते आज भी वे जन्म लेते ही तथाकथित उच्च वर्णों की घृणा, उपेक्षा और तिरस्कार के पात्र बनते हैं। यह उपेक्षा–बोध उनमें हीनता का भाव पैदा करता है और यह हीनता भाव उन्हें जीवन–भर उबरने नहीं देता। हिंसा और आतंक के साए में जीने वाला व्यक्ति कभी स्वछन्द जीवन जी नहीं सकता। वह सदैव सहमा–सहमा और बुझा–बुझा रहेगा। इस सहमेपन के कारण उसका स्वाभाविक विकास नहीं हो सकता है। तब इस तरह के असहज और प्रतिकूल वातावरण में दलितों का स्वाभाविक उत्थान और विकास कैसे हो सकता है ?"[4]

भारत में जाति का मसला बहुत जटिल है जो पिछले तीन हजार वर्षों के लंबे ऐतिहासिक काल में जटिल से जटिलतर होता रहा है। इस मसले ने भारतीय जीवन को लगातार अपनी गिरफ्त में जकड़कर रखा है। समाज की आंतरिक धारा में 'जाति' हर एक बिंदु पर सामाजिक रिश्तों को तय करती है जो जाति–व्यवस्था के पक्षधर हैं, वे इस पर बात करना धर्म और संस्कृति के विरुद्ध मानते हैं। इसके अस्तित्व को नकारते हैं। यहाँ तक कहते हैं कि 'जाति' अब पुरानी बात हो गई है। अब जाति पर बात करना, समाज में जहर फैलाना है, घृणा को बढ़ावा देना है। जबकि वे स्वयं घृणा और जहर फैलाने का कार्य कर रहे होते हैं, कभी जान–बूझकर तो कभी अनजाने में। वास्तविकता में इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं जिसने सामान्य जीवन की सोच और दृष्टि को प्रभावित करके सहज और सामान्य गुण में परिवर्तित कर दिया है।

जातिवादी व्यवस्था के कारण ही दलितों को पहचान का संकट का सामना करना पड़ा, अर्थात् दलितों के प्रश्न के रूप में 'अस्मिता का प्रश्न' भी उभरा। जाति और अस्मिता का मुद्दा दलितों की अस्मिता से जुड़ा है, जो उसके लिए रोटी से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि अभी भी दलितों को समाज में भेदभाव वाली व्यवस्था का सामना कर पड़ रहा है।

दलित साहित्य लेखन में इसी भेदभाव वाली व्यवस्था के कारण भूमि व मकान का प्रश्न, बेरोजगारी का प्रश्न, शिक्षा का प्रश्न, आरक्षण व हिस्सेदारी का प्रश्न तथा

जातिवाद के चलते सामाजिक सम्मान का प्रश्न आदि प्रश्न मुख्यतः उभर कर आते हैं। अर्थात् दलित प्रश्न अपने आप में केवल घोर सामाजिक विषमता का ही नहीं, उसी के फलितार्थों के रूप में आर्थिक विषमता का भी आख्यान बना हुआ है। इन्हीं समस्याओं से मुक्त होने की चेतना दलित साहित्य की विशेषता है। अतः ये ही वे प्रश्न हैं जिनसे आज का दलित साहित्य जूझ रहा है और दलितों के हालात में आमूल–चूल परिवर्तन नहीं हो पाया है।

जानकारी यह भी है कि दलित साहित्यकारों ने दलित समाज के संपूर्ण दैन्य – दारिद्रय, अज्ञानता, अंधविश्वास, धार्मिक वितण्डता, शोषण एवं तिरस्कार का जीवंत चित्रण किया है। चाहे दलित लेखक भंगी, चमार, महार, वाल्मीकि, जाटव, मातंग आदि किसी भी समाज का हो इनकी मूलभूत समस्याएं और प्रश्न एक से हैं और इन्हीं समस्याओं ने हिन्दी में विशाल दलित लेखक वर्ग तैयार किया है जिनका रचना–कर्म दलित सवालों को न केवल प्रखर रूप में उठा रहा है, बल्कि उसके पक्ष में दलित साहित्य का माहौल भी विकसित कर रहा है। अतः आज साहित्य में दलित साहित्य की बहुत चर्चा है। अनेक लेखक और लेखिकाएं इस साहित्य में अपना योगदान दे रहे हैं। हिन्दी ही नहीं प्रायः सभी भाषाओं में इसका लेखन निरंतर हो रहा है। इसलिए यह साहित्य न केवल भारत में वरन् विश्व स्तर पर भी अपनी पहचान बना चुका है और मुख्यधारा में भी आ रहा है।

1.1 दलित साहित्य : उद्‌भव–विकास, आंदोलन और उद्देश्य

दलित साहित्य के उद्‌भव का मूल आधार डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर का दर्शन एवं आंदोलन है। जिस प्रकार मार्क्सवादी विचारों की प्रेरणा से विश्वभर के साहित्य में जनवादी साहित्य का सृजन हुआ, ठीक उसी प्रकार इस देश की विभिन्न भारतीय भाषाओं में जिस दलित साहित्य का उद्‌भव हुआ है, उसकी नींव में डॉ. बाबा साहब की वैचारिकी या आंदोलन है। इसके साथ–साथ दलित साहित्य का इतिहास व परंपरा से जुड़ी वह पृष्ठभूमि भी काम करती है जिन्हें ब्राह्मणवादी परंपरा सदा उपेक्षित करती आई है। इसलिए आदि युग से दलित साहित्य के उद्‌भव के ऊपर कुछ सवाल व चुनौतियाँ उठायी जा रही हैं, वे डॉ. अम्बेडकर जी की वैचारिकी से मेल खाती हैं या नहीं, इसकी

जाँच–पड़ताल करना अनिवार्य है। इसके बरक्स दलित साहित्य के उद्‌भव व विकास को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन कालों में विभक्त करके समझ सकते हैं –

- आदि युग यानी आरंभिक काल
- मध्य युग यानी विकास काल
- आधुनिक युग यानी मुक्ति काल

उपर्युक्त समयावधियों की दृष्टि से दलित साहित्य का उद्‌भव एवं विकास पीढ़ी–दर–पीढ़ी होता रहा है।

वस्तुतः वर्णव्यवस्था के जन्म के साथ ही 'प्रतिरोध' के स्वर उठते रहे हैं, क्योंकि हर युग में जितने बड़े–बड़े विचारक हुए उन्होंने दलितों की स्थिति सुधारने के लिए, वर्णव्यवस्था का विरोध करने के लिए समाज के समक्ष बहुत महत्त्वपूर्ण सवाल व चुनौतियाँ खड़ी कीं और उन्हीं का आगे चलकर महात्मा ज्योतिबा फुले और डॉ. अम्बेडकर ने दलितों व गैर दलितों की समानता, स्वतंत्रता, भाईचारा, आत्मसम्मान व स्वाभिमान को ऊँचा उठाने के लिए, उनका अनुसरण ही नहीं किया, बल्कि उनमें चेतना लाने का भी कार्य किया।

सर्वप्रथम यदि हम आदि युग में चार्वाक दर्शन पर विचार करें तो प्रतीत होगा कि इस दर्शन में पहली बार वेद–निंदा, ब्राह्मणों के कर्मकांडों, यज्ञादि की निंदा की गई और ईश्वर की सत्ता में विश्वास, स्वर्ग–नरक, वर्णव्यवस्था आदि को भी नकारा गया। यह दर्शन मानता है कि वेदादि कर्मकांडों एवं यज्ञों में होने वाले दान को ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिए बनाया है। यह सब ब्राह्मणों की जीविका का साधन है। इसके साथ ही इस दर्शन में हिन्दू धर्म में मृत्यु हो जाने के बाद दिए जाने वाले श्राद्ध–कर्म पर भी व्यंग्य कसे जाते हैं। अर्थात् चार्वाक दर्शन ने सर्वप्रथम वर्णव्यवस्था को मिटाने के लिए कुछ सवाल तो उठाए लेकिन उनका पुरजोर विरोध नहीं किया।

जब हम साहित्य का अध्ययन करते हैं तो हमें हिन्दू समाज में दलितों की स्थिति पर विचार करते हुए पता चलता है कि दलित की स्थिति पशु से भी बदतर बना दी गई थी क्योंकि पशु को भी जो लोग पालते हैं उसके प्रति मोह–ममता कुछ तो होता ही है,

लेकिन दलित जो सब की सेवा करता है, उसके लिए हिन्दू धर्म में ऐसे–ऐसे प्रतिबंधों का विधान किया गया है कि उन्हें पढ़ते हुए ही मन में आक्रोश भर उठता है। जैसे – "शूद्र यदि वेद को सुन ले तो उसके कानों में पिघला हुआ शीशा और लाख भरवा देनी चाहिए, शूद्र श्मशान घाट की भाँति है। अतः उसके निकट वेद नहीं पढ़ना चाहिए। शूद्र को उपदेश नहीं देना चाहिए।"[5] अर्थात् ये बंधन इतने कठोर होते थे कि इनका उल्लंघन करने पर दलित को मृत्युदंड दिए जाने तक का विधान था। जैसे –

"रामायण–काल में शंबूक ऋषि के शूद्र होते हुए भी तपस्या करने पर, राजा रामचंद्र द्वारा उसका वध किया गया। महाभारत–काल में एकलव्य की कथा शूद्रों पर शिक्षा–प्राप्ति में प्रतिबंध का अच्छा उदाहरण है। गुरु द्रोणाचार्य द्वारा शिक्षा न देने पर भी 'एकलव्य' का दायाँ अँगूठा कटवा देना शूद्रों के साथ छल–प्रपंच करके उनको आगे बढ़ने से रोकना ही था।"[6]

फिर गौतम बुद्ध ने आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जन्म व जाति पर आधारित सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध अहिंसात्मक क्रांति का आह्वान किया।

इसलिए डॉ. तुलसी राम दलित साहित्य के आरंभ के निर्माता के रूप में गौतम बुद्ध को याद करते हैं। तुलसी राम जी का मानना है कि – "बौद्ध साहित्य में सबसे पहले वर्ण–व्यवस्था का विरोध मिलता है। इसलिए यहीं से दलित साहित्य की उत्पत्ति माननी चाहिए। बुद्ध के वर्ण–व्यवस्था विरोधी विचार हमें बौद्ध साहित्य में मिलते हैं। इस संदर्भ में त्रिपिटक (अभिधम्म, विनय, सुत्त), थेरीगाथा, असलाय, बासठ एसोकाय आदि का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ जाति–वर्ग, ऊंच–नीच के विचार की निन्दा एवं रक्त गोत्र की शुद्धता को असामाजिक माना गया है। थेरीगाथा में जाति–जनित घटनाएं आधुनिक मीडिया की तरह वर्णित हैं। जहां तक आधुनिक दलित साहित्य का सवाल है तो डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक आंदोलन व्यापक एवं प्रभावशाली हैं। इसीलिए बहुत से लोग उन्हें आधुनिक दलित साहित्य का जन्मदाता मानते हैं। डॉ. अम्बेडकर के विचार बौद्ध धर्म से उत्पन्न थे। बौद्ध धर्म का उन पर इतना गहरा प्रभाव था कि अन्तिम समय में बड़े समूह के साथ उन्होंने इस धर्म को स्वीकार किया। दलित साहित्य का मूल स्वर बौद्ध साहित्य से उत्पन्न है।"[7]

अर्थात् डॉ. तुलसी राम दलित साहित्य का उद्‌भव बौद्ध साहित्य से मानते हैं क्योंकि बौद्धों ने सबसे पहले वर्ण–व्यवस्था का बहुत सशक्त विरोध किया था। तमाम बौद्ध–दार्शनिकों ने वर्ण–व्यवस्था के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद की। इसी के चलते बौद्धों का सर्वनाश किया गया, बौद्ध मठों को तोड़ा गया तथा फिर से जाति–व्यवस्था कायम की गई और उसे बड़ी कड़ाई से लागू किया गया।

महात्मा गौतम बुद्ध ने वर्णव्यवस्था का विरोध स्पष्ट शब्दों में किया है –

"न जच्चा वसलोहोति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मना वसलोहोति, कम्मना होति ब्राह्मणो।।"[8]

इसका अर्थ हुआ कि जन्म से न कोई शूद्र होता है, न जन्म से कोई ब्राह्मण। कर्म से ही शूद्र होता है और कर्म से ही ब्राह्मण। अतः बुद्ध वर्णव्यवस्था को न मानकर 'कर्म' पर बल देते हैं।

मराठी दलित साहित्यकार शरणकुमार लिंबाले का मानना है कि – "बौद्ध धर्म में जाति व्यवस्था के लिए कोई स्थान नहीं है। बौद्ध धर्म समता का समर्थन करने वाला और विषमता नकारने वाला धर्म है। बुद्ध ने जाति प्रथा को नकारा और संघ में सभी को प्रवेश दिया। इसलिए बाबासाहब ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया।"[9]

अतः सकते हैं कि वर्णवादी व जातिवादी व्यवस्था ही दलित के शोषण–उत्पीड़न का प्रमुख आधार है। इसलिए प्रथमतः और अंततः इसका विरोध होना ही चाहिए। समय–समय पर इस व्यवस्था का विरोध होता भी रहा है। महात्मा गौतम बुद्ध के पश्चात् आगे चल कर सिद्धों और नाथों ने भी हिन्दू धर्म में व्याप्त आडंबर और जाति–व्यवस्था पर चोट की।

दरअसल सिद्ध और नाथ भी बुद्ध की परंपरा के ही वाहक हैं। सिद्धों में सरहपाद ने और नाथों में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ ने भी हिन्दू धर्म में व्याप्त ऊँच–नीच, छुआछूत और धार्मिक विश्वास का खंडन करने के साथ–साथ वर्ण–व्यवस्था पर भी चोट की। लेकिन इन सब विरोधों के बावजूद ये कवि जहाँ एक ओर जाति का विरोध कर रहे थे वहीं स्त्री के प्रति असहिष्णुता भी दिखा रहे थे और ब्राह्मणवादी मान्यताओं के साथ खड़े थे। यह उनके क्रियाकलापों का विरोधाभास था जिसके कारण वे जाति के

प्रश्नों को उतनी शिद्दत से नहीं उठा पाए, उसी आध्यात्मिक दायरे में फंस कर रह गए तथा किसी बड़े परिवर्तन की भूमिका तैयार करने में सफल नहीं हो सके।

जब हम नाथों और सिद्धों के पश्चात् संत साहित्य पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि मध्यकाल में कबीरदास और रविदास जैसे संतों ने इस धारा में अपना योगदान दिया। सदियों से चली आई धार्मिक गैर–बराबरी की व्यवस्था को पहली बार निर्गुणी संतों ने सामाजिक धरातल पर चुनौती दी थी कि भगवान किसी मंदिर में कैद पत्थर की मूर्ति नहीं है और न वह किसी जाति विशेष की बपौती कहा जा सकता है। इन्होंने न केवल धर्मों पर आघात किया बल्कि पाखण्ड और कुरीतियां फैलाने वाले मुल्ला और पण्डितों को लताड़ा भी। भक्तिकाल की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि इसमें अधिकांश निर्गुण भक्त कवि दलित जाति से सम्बद्ध रहे हैं। सभी निर्गुणी संत इस वर्णवादी व्यवस्था का विरोध कर रहे थे, संत रविदास ने इस व्यवस्था के मूल को समझकर, उस पर करारी चोट भी की थी –

"रविदास जन्म के कारनै, होत न कोउ नीच।
नर कूं नीच करि डारि है, ओछे करम की कीच।।"[10]

अर्थात् गुरु रविदास जी कहते हैं कि मात्र जन्म के कारण कोई नीच नहीं बन जाता। परंतु मनुष्य को वास्तव में नीच केवल उसके कर्म बनाते हैं। लेकिन रविदास दूसरी जगह ये कहते हैं कि ऊँचे कुल में पैदा होने से कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता बल्कि जो ब्रह्म आत्मा को पहचान जाता है या जान लेता है वही वास्तव में ब्राह्मण कहलाता है।

"ऊंचे कुल के कारणै, ब्राह्मन कोय न होय।
जउ जानहि ब्रह्म आत्मा, रविदास कहि ब्राह्मन सोय।।"[11]

यानी संत रविदास भी घूम–फिरकर उसी दर्शन को सही मान रहे हैं जिसके आधार पर वर्णव्यवस्था जैसी अमानवीय सोच कायम की गई है अर्थात् रविदास भी ब्रह्म आत्मा के जानकार को ही ब्राह्मण मान रहे हैं। निर्गुण भक्त कवियों में रविदास के पश्चात् कबीर भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उन्होंने वर्णव्यवस्था और जाति–भेद को लेकर सवाल जरूर खड़े किये, जो उस युग की विषम परिस्थितियों में भी बहुत मारक रहे होंगे लेकिन प्रश्न यही है कि उसका प्रभाव समाज में किस रूप में पड़ा। यानी साहित्य में

मौजूद जातिवादी मानसिकता कबीर जैसे कवि को जातीय घेरे से बाहर नहीं आने देती है। कबीर तीखा प्रहार करते हुए कहते हैं कि –

"जे तूँ बाँभन बभनी जाया, तो आँन बाँट ह्वै काहे न आया।
जे तूँ तुरक तुरकनी जाया, तौ भीतरि खतनाँ क्यूँ न कराया।।"[12]

इसके अतिरिक्त संत दादू, संत घासीराम, संत रज्जब, गुरु नानक, एकनाथ, चोखामेला आदि संत कवियों ने भी अपनी वाणी द्वारा सारे देश में जाति–पांति को मनुष्यकृत बंधन बताकर तथा ईश्वर के दरबार में सबकी बराबरी सिद्ध कर, दलित जातियों का मनोबल बढ़ाने का कार्य किया। इस युग के संत निर्भीक, स्पष्टवादी, साहसी, समानता की बात करने वाले तथा सत्यवादी थे। इसलिए सभी ने कहीं–न–कहीं छुआछूत, जाति–पांति का विरोध किया और मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम की बात की। लेकिन यह योगदान वर्तमान जैसा नहीं है। अतः संत साहित्य में जो जाति–विरोध दिखाई पड़ता है, वह स्वर काफी धीमा है, जिसकी अपनी सीमाएं हैं।

कबीर आदि संतों ने जिस दलित विचारधारा का सूत्रपात किया था आगे चलकर इस धारा का विकास हमें दिखाई नहीं पड़ता। लेकिन 19वीं शताब्दी में साहित्य की यह दलित धारा भारत की लगभग सभी भाषाओं में पुनः उभरती हुई नजर आती हैं। इसका कारण यह था कि इस युग तक आते–आते भारत में अंग्रेजी राज स्थापित हो चुका था और ईसाई मिशनरियों के प्रभाव से अछूतों में शिक्षा का प्रभाव पहुँचने लगा था। इसके प्रभाव से प्रायः सभी भाषाओं में दलित रचनाकार पैदा हुए।

19वीं शताब्दी में सर्वप्रथम महात्मा ज्योतिबा फुले (1827–1890) व उनकी जीवन संगिनी सावित्रीबाई फुले ने स्वयं पर अत्याचार सहकर भी दलितों को शिक्षित करने का सशक्त आंदोलन चलाया जिनमें दलित स्त्रियों की शिक्षा भी शामिल थी। फुले जी ने सर्वप्रथम ब्राह्मणवाद की धज्जियाँ उड़ाते हुए, वर्णव्यवस्था के चंगुल में फंसी मानवतावाद को आजाद कराने का बीड़ा उठाया। उनका मानना था कि केवल ब्राह्मणों को कोसने भर से अज्ञान का अँधेरा नहीं मिटेगा अर्थात् वे अपने अधिकारों के प्रति तब तक सचेत नहीं हो पाएंगे जब तक वे शिक्षित नहीं होंगे। इसलिए फुले ने पिछड़े, दलित, शोषित व

स्त्री समाज की शिक्षा पर जोर दिया और उस महान उद्देश्य के लिए खुद को समर्पित कर दिया।

बाबा साहब अम्बेडकर भी महात्मा फुले के विषय में लिखते हैं कि – "महात्मा फुले के शिक्षा प्रसार के कार्य से ही अछूतों को मनुष्यता का अहसास हुआ। आज तक जिनको अवतारी पुरुष माना जाता रहा, उन सभी ने छुआछूत को बनाये रखने का प्रयास किया, बल्कि यह कहना उचित होगा कि उन्होंने इसे बढ़ाने की चेष्टा ही की। छुआछूत को दफनाने का प्रयास करने वाला एक ही महापुरुष हुआ है – महात्मा ज्योतिबा फुले।"[13]

अतः ज्योतिबा फुले सच्चे अर्थों में अछूतों के उद्धारक इसलिए भी थे क्योंकि वे मानते थे कि केवल अछूत ही स्वयं पढ़–लिख कर छुआछूत का अंत कर सकते हैं। इसी उद्देश्य के लिए उन्होंने अछूतों के लिए स्कूल खोलने में इतने कष्टों व समस्याओं का सामना किया।

ज्योतिबा फुले ने अपने जीवन में साहित्य सृजन भी किया, उन्होंने सन् 1855 में **'तृतीय रत्न'** नामक नाटक लिखा, सन 1865 में **'जाति भेद विवेक सार'** शीर्षक ग्रंथ के दूसरे संस्करण का प्रकाशन, सन् 1869 में **'शिवाजी महाराज के पंवाडे'** की रचना तथा **'ब्राह्मणों की चालाकी'** और सन् 1873 में **'गुलामगिरी'** शीर्षक ग्रंथ की रचना की। उनके द्वारा रचित साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन करना न होकर, लोगों की वैचारिक जाग्रति के लिए शूद्र और अछूत वर्ग में सामाजिक परिवर्तन की चेतना जागृत करना था।

महात्मा फुले 'तृतीय रत्न' नामक नाटक में शिक्षा के माध्यम से तमाम शूद्र–अतिशूद्र जातियों को वर्गीय रूप से संगठित होने का संदेश देते हैं। 'गुलामगिरी' में वे दलितों को चेतावनी देते हुए लिखते हैं कि– "सैंकड़ों साल से आज तक शूदाद्रि–अतिशूद्र (अछूत) समाज, जब से इस देश में ब्राह्मणों की सत्ता कायम हुई तब से लगातार जुल्म और शोषण के शिकार हैं। ये लोग हर तरह की यातनाओं और कठिनाइयों में अपने दिन गुजार रहे हैं। इसलिए इन लोगों को इन बातों की ओर ध्यान देना चाहिए और गंभीरता से सोचना चाहिए। ये लोग अपने–आपको

ब्राह्मण–पंडा–पुरोहितों की जुल्म–ज्यादतियों से कैसे मुक्त कर सकते हैं, यही आज हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल है।"[14]

ज्योतिबा फुले ने महिलाओं और श्रमिकों के लिए शिक्षा का कार्य तो किया ही, इसके साथ ही उन्होंने किसानों, मजदूरों और श्रमिकों की समस्याओं को सुलझाने के साथ–साथ विधवा–विवाह का समर्थन और सती प्रथा का विरोध भी किया था, यह उस समय की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता थी।

निःसंदेह गौतम बुद्ध के बाद, ज्योतिबा फुले ही ऐसे युग–पुरुष थे जिन्होंने अपने शैक्षणिक कार्यों और सत्यशोधक समाज के माध्यम से दलित–पिछड़े समाज की मुक्ति के लिये संघर्ष किया और अगुआई की। उन्होंने मानसिक रूप से मंद और आर्थिक रूप से पंगु बना दिए गये समाज में क्रांति का बीज बोया। महाराष्ट्र के साथ–साथ यह विमर्श अन्य राज्यों में भी दिखाई देता है। इसी समय केरल में के.वी.करुप्पन कवि हुए जो जाति से अछूत थे। इन्होंने शंकराचार्य के 'अद्वैत दर्शन' की नई व्याख्या करते हुए अपनी 'जाति कुंभी' नाम से एक लंबी कविता लिखी। वास्तव में केरल में दलित विमर्श का आंदोलन चलाने वाले नारायण गुरु हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में 'जाति मत पूछो', 'जाति मत बताओ' और 'जाति के बारे में मत सोचो' के नारे को लोकप्रिय बनाया।

20वीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य में दलित चेतना और अधिक प्रखर रूप में हमारे सामने आती है। इस युग में दर्जनों दलित लेखक इस धारा में सक्रिय हैं। इनमें स्वामी अछूतानन्द और हीराडोम का नाम उल्लेखनीय है। दलित आंदोलन में स्वामी अछूतानन्द भी एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व हैं। वे 'हरिहर' उपनाम से कविताएँ लिखते थे। स्वामी अछूतानन्द भी रविदास और कबीर की परंपरा को ही आगे बढ़ाते हैं। वे आदि हिन्दू आंदोलन के प्रवर्तक, कवि, नाटककार, पत्रकार तथा संपादक थे। उन्होंने सन् 1925 में **'आदि हिन्दू पाक्षिक'** तथा सन् 1929 में **'अछूत'** मासिक पत्र का प्रकाशन किया। ये पत्र दलितों पर होने वाले अत्याचारों की खबरें तो छापता था और साथ ही दलितों को उनके इतिहास से परिचित कराकर उनमें स्वाभिमान भी पैदा करता था।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का स्वामी अछूतानन्द के विषय में मानना है कि– "स्वामी अछूतानन्द न तो अवतार थे और न किसी दैवी शक्ति सम्पन्न थे। वे इसी दुनिया

के यथार्थ से उपजे विवेकी पुरुष थे और वे एक सजग कार्यकर्त्ता, प्रखर वक्ता, कवि और चिंतक थे। यह दुखद है कि अकादमिक क्षेत्र में अध्ययन की दृष्टि से भी अछूतानन्द पर अध्ययन विषय को सचेतन रूप से अछूता रखा गया है। वे तर्कशील, प्रज्ञासम्पन्न और विद्वान संत थे। कपड़े रंगकर मुफ्त की रोटी तोड़ने वाले साधुओं जैसे हिन्दू नहीं थे वे। जिन शंकराचार्यों से डॉ. धर्मवीर (पहला खत में) अपनी दार्शनिक दुश्मनी बताते हैं, स्वामी अछूतानन्द ने उनसे प्रत्यक्ष शास्त्रार्थ किए। उनकी सशर्त उपाधियां शास्त्रार्थों में जीती थीं। उन्होंने अपने लिए जनता से धन ठग कर या मांग कर कोई मठ, मन्दिर खड़े नहीं किए। यही कारण है कि संतों की परंपरा में भी वे निराले हैं। उनकी चिंता थी कि 'यदि हमने कष्ट उठा कर अछूत समाज को जागृत नहीं किया, तो आने वाली पीढियां सामाजिक गुलामी के सदियों से जारी कपटतंत्र से मुक्त नहीं हो पाएंगी और इस तरह आजादी का लाभ लेने लायक पात्रता उनमें विकसित नहीं हो पाएगी।"[15] इसलिए स्वामी अछूतानन्द की दलित आंदोलन की सक्रियता में अहम् भूमिका मानी जानी चाहिए।

इसके पश्चात् हीराडोम की एक एकमात्र कविता जो 1914 में सरस्वती नामक पत्रिका में **'अछूत की शिकायत'** नाम से छपी, उसका विश्लेषण भी करना अनिवार्य है। यह कविता भी सिर्फ शिकायती पत्र बन कर रह जाती है, क्योंकि इसमें एक अछूत अपने कष्टों का वर्णन भर कर रहा है–

'हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी
हमनी के सहेजे से मिनती सुनाइबि

.....

पनही से पिटि पिटि हाथ गोड तुरि दैलैं
हमनी के इतनी काही के हलकानी।।'

इस कविता के सिवाय हीराडोम के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, न ही उनकी कविताओं के बारे में और न उनके व्यक्तित्व के बारे में। इसके अतिरिक्त संत बाबा गाडगे ने भी समतामूलक समाज की स्थापना के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किये। शिक्षा

पर भी वे बहुत अधिक बल देते थे। वे कहते थे कि आपके पास खाने के लिए बर्तन न भी हो तो कागज पर खाना खायें लेकिन अपने बच्चों को शिक्षा अवश्य दिलायें।

दलित साहित्य के आधुनिक युग में दलित मुक्ति की अवधारणा की मुखरता व स्पष्टता सबसे ज्यादा है। अतः इसे मुक्ति काल कहना भी तर्कसंगत है। अंग्रेजों के आने के बाद भारतीय नवजागरण ने भारतीय समाज की जड़ता को तोड़ने का काम किया। महात्मा ज्योतिबा फुले, स्वामी अछूतानन्द, पेरियार, डॉ. अम्बेडकर, मा. कांशीराम आदि के कुशल नेतृत्व ने दलितों में दासता से मुक्ति और सम्मान की चाह को विकसित किया, इन्हीं के समानांतर आर्यसमाजियों अर्थात् समाज सुधारकों और गाँधीवादियों ने भी दलित मुक्ति का तथाकथित प्रयास किया। अतः इसी युग में दलित मुक्ति की तीन धाराएं चलीं –

- आर्यसमाजी
- गाँधीवादी और
- अम्बेडकरवादी

समाज सुधारकों या आर्यसमाजियों में बंगाल के राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना द्वारा सामाजिक बुराइयों का विरोध किया और विधवाओं के सती होने के विरुद्ध आंदोलन करके सती प्रथा जैसी घिनौनी परंपरा को रोकने का भरपूर प्रयास किया। देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ने भी इस आंदोलन को आगे बढ़ाया। रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद ने भी सामाजिक बुराइयों को दूर करने का संदेश दिया। आर्यसमाजी स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना करके सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध धर्म का बिगुल बजा दिया और ब्राह्मणों तथा शोषकों के पाखंड व आडंबरों का रहस्योद्घाटन करने के साथ–साथ अस्पृश्य जातियों को जो इस्लाम और ईसाई धर्म की ओर जा रही थी, हिन्दू धारा से जोड़ने की कोशिश की। स्वामी श्रद्धानंद ने अछूतोद्धार मंडल की स्थापना करके छुआछूत दूर करने की कोशिश की।

उपर्युक्त सभी समाज सुधारकों द्वारा चलाया जा रहा अछूतोद्धार का अभियान सुधारात्मक ही था। वे वर्णव्यवस्था को सुरक्षित रखते हुए भेदभाव मिटाने की बात तो चलाते थे लेकिन मनु द्वारा बनाई वर्णव्यवस्था को खत्म करने की बात नहीं करते थे।

गाँधीवाद ने भारतीय साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य में गाँधीवादी साहित्यकारों की लंबी फेहरिस्त है। इन साहित्यकारों ने कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि सभी विधाओं में विपुल गाँधीवादी साहित्य लिखा। यह साहित्य दलितों की मुक्ति के सवाल को अपना विषय न बनाकर स्थिति सुधार को लक्ष्य बनाता है। यह साहित्य दलितों के प्रति सहानुभूति प्रकट करता है और हिन्दुओं से उनके साथ अच्छा व्यवहार करने की अपील करता है।

आधुनिक युग में दलित साहित्य की प्रेरणा और ऊर्जा का स्रोत डॉ. बी. आर. अम्बेडकर हैं। आज के समय में लिखा जाने वाला सारा–का–सारा दलित साहित्य, वह चाहे किसी भी भाषा में क्यों न हो, निश्चित तौर पर बाबा साहब की वैचारिकी या आंदोलन पर आधारित है। अपने सामाजिक दर्शन को बाबा साहब ने समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व इन शब्दों में निहित बताया है। 14 अक्टूबर, 1956 को नागपुर में स्वयं बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के बाद अपने लाखों अनुयायियों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दिलाते समय बाबा साहब ने उनको बाईस प्रतिज्ञाएँ करायी थीं। वे प्रतिज्ञाएँ इस प्रकार हैं –

1. मैं ब्रह्मा, विष्णु और महेश को ईश्वर नहीं मानूंगा और न मैं इनकी पूजा करूंगा।
2. मैं राम और कृष्ण को ईश्वर नहीं मानूंगा और उनकी पूजा नहीं करूंगा।
3. मैं गौरी, गणपति आदि हिन्दू धर्म के किसी भी देवी–देवता को नहीं मानूंगा और न ही उनकी पूजा करूंगा।
4. ईश्वर ने अवतार लिया है, इस पर मेरा विश्वास नहीं है।
5. मैं ऐसा कभी नहीं मानूंगा कि बुद्ध भगवान के अवतार हैं। ऐसे प्रचार को मैं पागलपन और झूठा समझता हूँ।
6. मैं श्राद्ध कभी नहीं करूंगा और न ही कभी पिंडदान करूंगा।
7. मैं बौद्ध धर्म के विरुद्ध कभी कोई बात नहीं करूंगा।
8. मैं कोई भी क्रिया–कर्म ब्राह्मणों के हाथों नहीं कराऊंगा।

9. मैं इस सिद्धांत को मानूंगा कि सभी मनुष्य समान हैं।
10. मैं समानता की स्थापना का यत्न करूंगा।
11. मैं भगवान बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग का पूरा पालन करूंगा।
12. मैं भगवान बुद्ध के बताए हुए दस परमपिताओं का पूरा पालन करूंगा।
13. मैं प्राणिमात्र पर दया रखूंगा और उनका लालन–पालन करूंगा।
14. मैं चोरी नहीं करूंगा।
15. मैं झूठ नहीं बोलूंगा।
16. मैं व्यभिचार नहीं करूंगा।
17. मैं शराब नहीं पीऊंगा।
18. मैं अपने जीवन को बौद्ध धर्म के तीन तत्त्व प्रज्ञा, शील और करुणा पर ढालने का प्रयत्न करूंगा।
19. मैं मानव मात्र के विकास के लिए हानिकारक और मनुष्य मात्र को ऊँचा–नीचा मानने वाले हिन्दू धर्म को पूर्णतः त्यागता हूँ और बौद्ध धर्म को स्वीकार करता हूँ।
20. मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि भगवान बुद्ध का धर्म ही सही धर्म है।
21. मैं यह मानता हूँ कि मेरा अब पुनर्जन्म हो गया है।
22. मैं यह पवित्र प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से मैं बौद्ध धर्म के अनुसार आचरण करूंगा।"[16]

स्पष्ट है कि दलित साहित्य की वैचारिकी का मूल आधार बाबा साहब की बाईस प्रतिज्ञाएँ हैं और इन प्रतिज्ञाओं का आशय तर्कहीन, असंगत और अवैज्ञानिक विचारों का खण्डन तथा आडंबर और मिथ्या विश्वासों को नकार कर मानवतावाद का विकास करना है।

बाबा साहब की संपूर्ण वैचारिकी के केन्द्र में 'मनुष्य' है जोकि जाति, धर्म, वर्ण और लिंग से परे है। इस देश की समाज व्यवस्था ने मनुष्य को मनुष्य के रूप में कभी देखा ही नहीं, यही उनका दर्द था। इन्हीं विचारों से प्रेरणा ग्रहण कर दलित साहित्य का सृजन हुआ है। दलित साहित्य मनुष्य की अस्मिता का आदर करता है, चाहे वह मनुष्य किसी भी जाति या वर्ण का हो। जिन संस्थानों, शास्त्रों ने अपने ही भीतर स्थित बहुत बड़े तबके की अस्मिता को मिटा देने का प्रयत्न किया है, उनके खिलाफ दलित

साहित्य आक्रामक मुद्रा धारण करता है। उन्हें वह नकारता है, उनके प्रति विद्रोह करता है तथा समता, बंधुता, न्याय करुणा आदि मानवीय मूल्यों की स्थापना का आग्रह करता है। अतः दलित साहित्य मानवीय अस्मिता का पर्याय ही है।

मराठी दलित साहित्यकार शरणकुमार लिंबाले भी दलित साहित्य की वैचारिकी के मूल आधार के रूप में बाबा साहब को ही मानते हैं। वे लिखते हैं कि – "दलित साहित्य की प्रेरणा अंबेडकरवादी विचार हैं, क्योंकि बाबा साहब अंबेडकर के विचारों और आंदोलन से दलित समाज को स्वाभिमान मिला है। यदि बाबा साहब न होते तो हम न होते। दलित समाज में प्रत्येक व्यक्ति का एक–दूसरे का अभिवादन करते हुए 'जयभीम' का उच्चारण करना भी इस बात का द्योतक है कि बाबा साहब अंबेडकर ही हमारी सच्ची प्रेरणा हैं।"[17]

अतः डॉ. अम्बेडकर का चिंतन एवं संघर्ष समतामूलक समाज की स्थापना में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उन्होंने न केवल सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों की बात की बल्कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी दलितों की भूमिका निश्चित करने का प्रयास किया।

बाबा साहब अम्बेडकर ने देश के इतिहास में अस्पृश्यता से उपजी समस्याओं को पहली बार एक राजनीतिक एवं सामाजिक तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया और उसके समाधान हेतु राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष को अपनाया। बाबा साहब ने ही दलितों को, दलित जीवन को त्यागकर, आत्मसम्मान के साथ जीने और अपने अधिकारों हेतु संघर्ष करने का रास्ता दिखाया। अपनी अनेक पुस्तकों, लेखों एवं आम–व्याख्यानों के माध्यम से उन्होंने दलितों की समस्याओं का वैज्ञानिक कारण खोजकर कार्य–रूप में परिणत करने का सतत् प्रयास किया। इसके अलावा उन्होंने दलितों को आत्मचेतना, सम्मान, न्याय व समानता की प्राप्ति हेतु जन–तांत्रिक एवं शांतिपूर्ण संघर्ष के लिए प्रेरित किया इसका ही परिणाम है कि आज दलितों में एक नई चेतना देखने को मिलती है। दलितों ने अपने विरुद्ध होने वाले तमाम षड्यंत्रों का पर्दाफाश करने की शक्ति बाबा साहब के द्वारा चलाये गये आंदोलनों, प्रतिरोध एवं उनके विचारों से प्राप्त की है।

सामाजिक आंदोलन के क्षेत्र में डॉ. अम्बेडकर ने 25 दिसंबर, 1927 को पहला कदम 'महाड सत्याग्रह' के रूप में उठाया। वह अछूतों की मुक्ति का पहला आंदोलन कहा जा सकता है। इस दिन डॉ. अम्बेडकर ने महाड नामक स्थान पर चवदार तालाब से पानी लेने का आंदोलन चलाया। इस तालाब से केवल तथाकथित उच्च जातियों के हिन्दुओं को ही पानी लेने का अधिकार था जैसे आज भी अनेक मंदिरों में दलितों का प्रवेश वर्जित है। इस आंदोलन में अछूतों की भारी एकजुटता प्रदर्शित हुई। फिलहाल तो आंदोलन सफल नहीं हुआ पर डॉ. अम्बेडकर दलितों में आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास का संचार करने में तो सफल हो ही गए।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य माना जाता है कि भारतीय समाज को विभाजित करने में सबसे बड़ी भूमिका 'मनुस्मृति' की है। उसने ही स्त्रियों और दलितों को जानवरों से भी बदतर जीवन जीने के लिए मजबूर किया। डॉ. अम्बेडकर के नेतृत्व में दलितों ने इतना साहस बटोर लिया कि उन्होंने मनुस्मृति के दहन का भी आंदोलन चलाया। अछूतों की उन्नति के लिए डॉ. अम्बेडकर ने शिक्षा पर भी बहुत बल दिया। वे मानते हैं कि दलितों में आत्मसम्मान व स्वाभिमान का अहसास शिक्षा के द्वारा ही हो सकता है। उन्होंने सह–शिक्षा पर जोर दिया अर्थात् लड़के–लड़कियों के अलग–अलग स्कूल, कॉलेजों का उन्होंने विरोध किया। स्वस्थ समाज के लिए सह–शिक्षा की आवश्यकता है, ऐसा वे कहते थे। शिक्षा के निजीकरण का उन्होंने विरोध किया है। शिक्षा पर सरकार के नियंत्रण को वे जरुरी ही नहीं, अनिवार्य भी मानते थे।

इसके अतिरिक्त बाबा साहब अम्बेडकर ने अन्धविश्वास, विकृत रूढ़ियों, परंपराओं, धर्म, देवी–देवताओं, आडंबरों, भगवान, भाग्य, पूर्वजन्म का फल आदि इन सबको नकारा और नकारा अवैज्ञानिक सोच और ईश्वर में अंध आस्था को जो मनुष्य को बर्बरता की हद तक पहुंचा देती है। इसका उन्होंने तार्किक एवं वैज्ञानिक ढंग से जोरदार खंडन किया है। इसी से दलित समाज एक विचारवान तर्कशील मनुष्य बन सकता है, बौद्धिक बन सकता है, यह उनकी सोच थी।

इस प्रकार दलित साहित्य के आरंभ व आंदोलन के संदर्भ में डॉ. राम चन्द्र का कथन उल्लेखनीय है– "दलित विमर्श की पृष्ठभूमि फुले और डॉ. अम्बेडकर के

विचार–चिन्तन तथा अन्य परिवर्तनकामी प्रतीकों एवं संघर्षो से जुड़ कर बनी है, जिसका लक्ष्य ईश्वर के अस्तित्व को नकार कर तथा वर्णव्यवस्था को खत्म करके मानव मात्र की समानता को स्थापित करना है।"[18]

अतः दलित आंदोलन का आदर्श फुले व अम्बेडकर हैं, जिन्होंने दलितों पर होने वाले अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठाई और उनका समाधान भी दिया।

इस प्रकार मान सकते हैं कि कोई भी आंदोलन अचानक उठ खड़ा नहीं होता, बल्कि उसके पीछे कुछ घटनाएं और वह पृष्ठभूमि काम कर रही होती हैं, जोकि समय आने पर उग्र रूप धारण कर लेती है। जिसके बरक्स आंदोलन उभर कर आता है। इसलिए दलित साहित्य के आरंभ को एक ऐतिहासिक क्रम और उसकी आंदोलनधर्मी भूमिका के आलोक में समझा जा सकता है। अतः फुले और डॉ. अम्बेडकर के संपूर्ण जीवन–संघर्ष का अवलोकन किये बिना दलित साहित्य आंदोलन को नहीं समझा जा सकता है।

दलित साहित्य के विकास के संबंध में विमल थोरात का कहना है कि – "दलित साहित्य की प्रखर धारा अब किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं रही, वह भारतीय दलित साहित्य आंदोलन का रूप ले चुकी है। मूल्यगर्भ जीवनवादी चेतना साहित्य के रूप में इस शतक पर दलित साहित्य ने अपनी अमिट छाप छोड़ी है। देश–विदेश में अनेक शोधकर्त्ता दलित साहित्य पर शोधकार्य कर चुके हैं। इसके फलक का विस्तार भारत की सीमाओं को लांघकर विश्व साहित्य के अश्वेत और स्त्रीवादी साहित्य के साथ अपना नाता जोड़ चुका है।"[19]

अर्थात् दलित साहित्य की विकास की अवधि 50–60 वर्ष से अधिक न होगी लेकिन इस अल्पावधि में भी वह इतने उत्कर्ष पर पहुँच गया है कि साहित्य की प्रमुख विधाओं में– कविता, कहानी, आत्मकथा, उपन्यास, नाटक, एकांकी, निबंध, आलोचना के क्षेत्र में दलित लेखन हो रहा है और उसका सौन्दर्यशास्त्र भी लिखा जा रहा है। इतने कम समय में 'दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र' पर शरणकुमार लिंबाले और ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' और सूरज बड़त्या की 'सत्ता संस्कृति

और दलित सौंदर्यशास्त्र' नामक तीन पुस्तकों का आ जाना दलित लेखकों और चिंतकों और शोधार्थियों की जागरूकता और प्रतिबद्धता का प्रमाण हैं।

आज दलित साहित्य हिन्दी की सभी विधाओं में लिखा जा रहा है, चाहे वह कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक, एकांकी, आलोचना हो या फिर आत्मकथा सभी अपने विकास पथ पर हैं। साहित्य के दूसरे आंदोलनों की तरह ही दलित साहित्य का आरंभ और विकास भी 'कविता' नामक विधा से हुआ और प्रारंभिक दौर के प्रायः सभी दलित रचनाकारों ने अपने विचारों को कविता के माध्यम से अभिव्यक्त किया। कविता की ताकत को देखते हुए, यह कहने में अतिश्योक्ति नहीं होगी कि 'कविता' अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है। इस काल के कवियों में मलखान सिंह, मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्यौराज सिंह 'बेचैन', असंग घोष, सी. बी. भारती, सुशीला टाकभौरे, रजनी तिलक, विपिन बिहारी, मुकेश मानस, कंवल भारती आदि प्रमुख हैं। दलित अस्मिता की प्रतिष्ठा, अन्याय, शोषण और दमन का विरोध, मनु की ब्राह्मणवादी व्यवस्था का खण्डन और नए सामाजिक मूल्यों का निर्माण आदि दलित कविता की प्रमुख प्रवृत्तियां हैं। आज की दलित कहानियों ने नए प्रतिमान का निर्माण किया है। यहाँ भी जाति का सवाल केंद्र में है। वर्तमान में प्रमुख कहानीकारों में ओमप्रकाश वाल्मीकि (सलाम), मोहनदास नैमिशराय (आवाजें), सूरजपाल चौहान (हैरी कब आयेगा), दयानंद बटोही (सुरंग), श्यौराज सिंह 'बेचैन' (भरोसे की बहन), कुसुम वियोगी (चार इंच की कलम), सुशीला टाकभौरे (टूटता वहम) आदि हैं। हिन्दी में पहला दलित उपन्यास डी. पी. वरुण द्वारा लिखित 'अमर ज्योति' को माना जा सकता है जोकि सन् 1982 में प्रकाशित हुआ। इसके बाद सन् 1995 ई. में जयप्रकाश कर्दम का 'छप्पर' प्रकाश में आया। कुछ और उपन्यास आए हैं जिनमें सत्यप्रकाश का 'जस तस भई सबेर', मोहनदास नैमिशराय का 'मुक्तिपर्व', प्रेम कपाड़िया का 'माटी की सौगंध', कैलाश चंद चौहान का 'भंवर' इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

दलित साहित्य में सबसे सबल साहित्यिक विधा 'आत्मकथा' है। दलित आत्मकथाएं बेहद प्रसिद्ध हुई हैं। इन रचनाओं ने अपने जीवन के जिए भोगे यथार्थ को बड़ी बारीकी व ईमानदारी से चित्रित किया है। यह सब साहित्य के इतिहास में नया मोड़ है। भगवान दास ने सन् 1950 के दशक में 'मैं भंगी हूँ' नाम से पहली दलित

आत्मकथा लिखी। इसके बाद मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' (1996) लंबे अन्तराल के बाद आई। तब से ढेरों आत्मकथाएं प्रकाश में आईं, जिनमें मुख्य हैं – ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', माताप्रसाद की 'झोंपड़ी से राजभवन', डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', डॉ. तुलसी राम की 'मुर्दहिया', डी. आर. जाटव की 'मेरा सफर मेरी मंजिल' इत्यादि हैं। इन आत्मकथाओं में दलित जीवन की अलग–अलग पृष्ठभूमियों के यथार्थ हैं। इन आत्मकथाओं में दलित सवालों का वह रूप सामने रखा गया है, जो अब तक अछूता था। दलित साहित्य में कुछ नाटक भी लिखे गए जिनमें माताप्रसाद का 'झलकारी बाई', 'अछूत का बेटा', 'अंतहीन बेड़ियाँ', 'तड़प मुक्ति की', एन. आर. सागर का 'अन्तिम अवरोध' तथा मोहनदास नैमिशराय का 'हैलो कामरेड' उल्लेखनीय है। इधर कुछ दलित एकांकियां भी आईं हैं, जिनमें सुमन कुमार 'सुमन' की 'ब्रह्म न्याय' व 'एक बार फिर' आदि ध्यान देने योग्य है। इसके अतिरिक्त दलित साहित्य में संस्मरण, आलोचना व इतिहास लेखन की भी स्वस्थ शुरुआत हुई है। इस प्रकार दलित साहित्य अपने इतिहास निर्माण के विकास पथ पर अग्रसर है।

दलित साहित्य के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो गई है कि जातिवाद, अस्पृश्यता, छुआछूत, भेदभाव आदि ही दलित साहित्य का केंद्र बिंदु है और इन्हीं से मुक्ति ही दलित साहित्य का उद्देश्य है। दलित समाज की अन्य समस्याएं भी जातिवाद के कारण ही पैदा हुई है। जैसे दलितों के मान–सम्मान व स्वाभिमान की समस्या, दलित नारियों का शोषण, शिक्षा की समस्या, गरीबी व बेगारी की समस्या, भूमि की समस्या आदि इन्हीं से जुड़ी समस्याएं हैं। इनके पास जमीनें नहीं हैं, इसलिए ये तथाकथित सवर्णों के यहाँ कृषि व मजदूरी करते हैं, यहीं इनका आर्थिक शोषण होता है। इसलिए ये रूढ़ियों और अंधविश्वासों से जुड़े हुए हैं। कुछ शिक्षित हैं पर फिर भी बेरोजगार हैं। क्योंकि इनके पास गुणवत्तापूर्ण और तकनीकी शिक्षा नहीं हैं। जीविकोपार्जन की परनिर्भरता इनके शोषण की जड़ है। इनसे निजात पाना या दिलाना दलित साहित्य का मूल उद्देश्य माना जा सकता है।

डॉ. शरणकुमार लिंबाले के अनुसार भी – "दलित साहित्य अर्थात् दलित लेखकों द्वारा दलित चेतना से दलितों के विषय में किया गया लेखन। .....उसका लक्ष्य है दलित

समाज को गुलामी से अवगत कराना, उसे इस गुलामी के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए प्रेरित करना और सवर्ण समाज के समक्ष अपनी व्यथा और वेदनाओं को बयान करना।"[20]

अतः कह सकते हैं कि दलित साहित्य का उद्देश्य सिर्फ कथित सवर्ण समाज के समक्ष अपनी व्यथा और वेदनाओं का दुखड़ा बयान करना ही नहीं है और न रहा है बल्कि वह तो दलितों की स्व अनुभूति की उपज है। जो सदियों से ब्राह्मणवादी व्यवस्था के बोझ तले दबे मनुष्य की कला, दर्शन के रूप में रूपायित हो रहा था और सभी तरह के भेदभाव, विषमता के विरुद्ध क्रांति की चेतना पैदा कर वर्णव्यवस्था से उपजी घोर अमानवीयता, स्वतंत्रता, समताविरोधी सामाजिक अलगाव की पक्षधर सोच को परिवर्तित कर बदलाव की प्रक्रिया तेज करना दलित साहित्य की मूल संवेदना है।

डॉ. जयप्रकाश कर्दम के अनुसार – "दलित साहित्य का मूल उद्देश्य दलित समाज में जातीय स्वाभिमान और आत्मगौरव की भावना पैदा करना, उसको उसकी क्षमता और सम्भावनाओं से परिचित कराना तथा आगे बढ़ने और प्रगति करने के लिए प्रेरित करना और उसका मार्गदर्शन करना है।"[21]

अर्थात् दलित साहित्य का उद्देश्य है परंपरावादी सोच को नकार कर अपने व्यवहार में परिवर्तन लाना है और अपने अधिकारों के प्रति सचेत होना है जिससे वे अपने बेहतर भविष्य का निर्माण तथा समाज में फैली अस्पृश्यता को खत्म कर सके, इसका मूल साधन 'शिक्षा' ही है।

डॉ. रजत रानी 'मीनू' दलित साहित्य को इस प्रकार परिभाषित करती हैं – "दलित साहित्य का लक्ष्य दलितों के पशुतुल्य नारकीय जीवन के प्रति पूर्णतः विद्रोह व्यक्त करना है। दलित साहित्य का लक्ष्य दलित समाज को स्वाभिमान, स्वावलम्बन एवं अस्मिता के लिए कृतसंकल्प होकर जूझने का सन्देश है। समग्र रूप से कहा जा सकता है कि दलित समाज में आत्माभिव्यक्ति के साथ चेतना और साहस उत्पन्न करना ही दलित साहित्य का लक्ष्य है और यही उसका सन्देश भी।"[22]

बहरहाल कहा जा सकता है कि दलित साहित्य का उद्देश्य है दलित समस्याओं को उठाना, उनका विश्लेषण करना, उनके कारणों को ढूँढना तथा उन कारणों को दूर

करने के लिए ठोस कदम प्रस्तावित करना। ताकि दलितों की समस्याओं या प्रश्नों को सुलझाया जा सके। दलितों को मानवीय अधिकार मिलें। वे भी देश में स्वतंत्रता, समता और भाईचारा एवं सम्मानपूर्ण जीवन जी सके।

1.2 दलित साहित्य : आशय, अवधारणा और विवाद

समूचे हिन्दी क्षेत्र में पिछले कुछ वर्षों से, जिस साहित्य का व्यापक प्रचलन हो रहा है, वह है – 'दलित साहित्य'। साहित्यकारों की कलम भी इस पर खूब चल रही है फलस्वरूप विपुल मात्रा में साहित्य लिखा जा रहा है। दरअसल दलित साहित्य 'वाह का साहित्य न होकर आह का साहित्य' है, जिसमें दलितों की आपबीती को स्वानुभूति के आधार पर अभिव्यक्त किया जाता है। हजारों वर्षों से दलित समाज ने जो भोगा है, सहा है, उसकी प्रतिक्रिया, व्यवस्था के प्रति विरोध और नकार का स्वर ही 'दलित साहित्य' है।

दलित साहित्य पर विचार करने से पूर्व 'दलित' शब्द पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि दलित साहित्य का दायरा इसी से नियंत्रित होता है। दलित शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ–संदर्भ को जाने बिना ठीक प्रकार से दलित साहित्य के आशय एवं अवधारणा को समझना मुश्किल है। इसीलिए सर्वप्रथम मैंने 'दलित' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ पर विचार किया है।

दलित शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत धातु 'दल' से हुई है। इस शब्द के संदर्भ में विभिन्न शब्दकोशों में विभिन्न अर्थ दिए गए हैं। दलित शब्द का अर्थ संस्कृत, हिन्दी, हिन्दी – अंग्रेजी शब्दकोशों में मिलता है, जहाँ इसका अर्थ 'टूटा हुआ', 'पिसा हुआ', 'कटा हुआ' दिया गया है। अंग्रेजी में इसका समानार्थी है – 'डिप्रेस्ड'। मराठी में इसका अर्थ 'विनष्ट किया हुआ' है। कतिपय हिन्दी शब्दकोशों में मराठी के अनुकरण पर 'दबाए हुए', 'पद दलित', 'सताए हुए लोग', 'मर्दित' आदि अर्थ भी प्रस्तुत हैं।

शब्द–विमर्श की दृष्टि से – "दलित शब्द का अर्थ है : जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित,

रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनिष्ट, मर्दित, पस्त–हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।"[23]

प्राचीन काल में दलित शब्द के लिए विभिन्न शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं इनमें 'शूद्र' सर्वाधिक प्रचलित शब्द है जिसका प्रयोग अधिकांश हिन्दू धर्मशास्त्रों में हुआ है। इसके अतिरिक्त अछूत, अंत्यज, पंचम, हरिजन, अस्पृश्य आदि शब्दों का प्रयोग भी होता रहा है, जो सभी हिन्दू समाज की मानसिकता के परिचायक हैं। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के समय गाँधीजी ने दलितों की स्थिति में सुधार लाने का आह्वान किया। उन्होंने अछूतों के लिए 'हरिजन' शब्द प्रयुक्त किया। महात्मा गाँधी जी ने सिर्फ हरिजन शब्द देकर शूद्रों के प्रति अपनी सहानुभूति दिखाई, लेकिन उसके पीछे उनकी कोई जागरूक प्रेरणा नहीं थी। डॉ. अम्बेडकर ने इस शब्द पर आपत्ति की कि दक्षिण भारत के मंदिरों में देवदासियों से उत्पन्न अवैध संतानों को 'हरिजन' कहा जाता है। इसीलिए डॉ. अम्बेडकर ने इस घृणित शब्द का विरोध किया और 'हरिजन' के लिए 'दलित' शब्द का प्रयोग किया जिसे दलित वर्ग आज तक सही व उचित मानता आ रहा है। दलित शब्द से उसकी हैसियत और ऐतिहासिक सामाजिक स्वरुप तथा शैक्षणिक स्थिति का एक चेहरा हमारे सामने उपस्थित होता है।

दलित शब्द की व्याख्या के लिए मुख्यतः दो मान्यताएं प्रचलित हैं। पहली – संकुचित मान्यता के अनुसार दलित 'जातिबोधक' शब्द है अर्थात् इसके अंतर्गत संविधान ने जिन्हें 'अनुसूचित जाति' का दर्जा दिया है, वे लोग आते हैं। जैसे – चतुर्थ वर्ण में आने वाली जातियां–उपजातियां : भंगी, चमार, महार, डोम, अन्त्यज, चाण्डाल, बहिष्कृत आदि।

दलित कौन हैं ? इस संदर्भ में डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का कहना है कि – "मेरे विचार से भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जिन्हें जन्म के आधार पर निम्न जाति करार दिया गया है, जिनके साथ बहिष्कार का व्यवहार हुआ है, जो अछूत माने गए हैं, वे सब साहित्य की भाषा में दलित हैं। दूसरे शब्दों में दलित की सबसे अच्छी एवं सही परिभाषा संविधान में तय की गयी अनुसूचित जातियां एवं जनजातियां दलित हैं..... ।"[24]

रश्मि चतुर्वेदी द्वारा लिए गये साक्षात्कार में 'दलित कौन है', इस प्रश्न पर गैर दलित लेखिका रमणिका गुप्ता कहती हैं कि – "भारतीय संविधान में दर्ज अनुसूचित जातियां दलित हैं और अनुसूचित जनजातियां आदिवासी। इन्हें हिन्दू संस्कृति और धर्म ने मनुष्य के सभी अधिकारों से वंचित कर रखा है। इन्हें 'अछूत' माना जाता है। दूसरे वंचित समुदाय के लोग अन्य श्रेणियों में आते हैं। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार भी अनुसूचित जातियां दलित हैं।"[25]

इसी प्रकार कंवल भारती का भी मानना है कि – "जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया, जिसे कठोर और गन्दे कर्म करने के लिए बाध्य किया गया, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और सिर्फ वही दलित है।"[26]

उपर्युक्त दोनों दलित व गैर–दलित विद्वानों की धारणाएं जाति विशेष से जुड़ी हुई हैं अर्थात् संकुचित हैं क्योंकि वे सिर्फ जाति विशेष में 'अनुसूचित जाति' को ही दलित का दर्जा देते हैं।

जबकि दूसरी व्यापक मान्यता के अनुसार दलित 'वर्गीय' शब्द है जो न केवल अछूतों को अपने भीतर समेटता है बल्कि अभावग्रस्त ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र आदि सभी वर्णों व जातियों को जिनकी आर्थिक दशा खराब हो और जो विभिन्न प्रकार के अभावों में जीते हैं। जैसे – खेत मजदूर, बंधुआ मजदूर, भूमिहीन किसान, बेरोजगार महिलाएं व अनाथ बच्चे ये सब चाहे किसी भी धर्म व जाति से जुड़े हों, वर्गीय दृष्टि से दलित होते हैं। दलित शब्द के व्यापक अर्थ को स्वीकारने वाली वैसे तो अनेक परिभाषाएं हैं, किंतु हम कुछ का ही उल्लेख करेंगे –

नामदेव ढसाल, की स्पष्ट मान्यता है कि – "दलित यानी अनुसूचित जातियों, बौद्ध, कष्ट उठाने वाली जनता, मजदूर, भूमिहीन मजदूर, गरीब किसान, खानाबदोश जातियां, आदिवासी।"[27]

मराठी दलित साहित्यकार शरणकुमार लिंबाले भी दलित को व्यापक दायरे में देखते हैं – "दलित केवल – हरिजन और नवबौद्ध नहीं। गाँव की सीमा के बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियाँ, आदिवासी, भूमिहीन, खेत मजदूर, श्रमिक, कष्टकारी जनता

और यायावर जातियाँ सभी की सभी 'दलित' शब्द की परिभाषा में आती हैं। दलित शब्द की परिभाषा में केवल अछूत जाति का उल्लेख करने से नहीं चलेगा। इसमें आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों का भी समावेश करना होगा।"[28]

अतः लिंबाले जी की धारणा है कि केवल एस. सी. और एस. टी. ही दलित नहीं है, बल्कि शोषण का शिकार आम आदमी भी 'दलित' है।

गैर दलित लेखक राजेन्द्र यादव दलित शब्द को काफी व्यापक दायरे में देखते हैं – "वे स्त्रियों को भी दलित मानते हैं। पिछड़ी जातियों को भी दलितों में शामिल करते हैं।"[29]

जबकि दलित साहित्यकार डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' व अन्य दलित साहित्यकार भी उनके इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि इससे साहित्य में सही स्थिति सामने नहीं आती। दलित साहित्यकारों का मानना है कि अनुसूचित जाति के अंतर्गत आने वाली जातियों–उपजातियों को ही दलित में शामिल किया जाता है। क्योंकि उन्हीं का सामाजिक बहिष्कार होता है। उन्हीं को मंदिर प्रवेश करने से रोका जाता है, उन्हीं को मुर्दा–मवेशी उठाने पर भी मारा–पीटा जाता है।

उपर्युक्त सभी विद्वानों के मंतव्यों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि दलित शब्द को लेकर विद्वानों में अभी भी मतांतर बना हुआ है। दलित शब्द के संबंध में अलग–अलग विचार साहित्य में दिखाई देते हैं जिसमें एक वर्ग उसको दलित मानता है जो किसी कारणवश पीड़ित या शोषित हैं चाहे वे किसी भी वर्ग से संबंध रखते हों परंतु दूसरा वर्ग उन्हीं को दलित श्रेणी में मानता है जो शूद्र अथवा अतिशूद्र हों, क्योंकि उनका विचार यह है कि अगर तथाकथित उच्च वर्गीय व्यक्ति चाहे वह कितना भी शोषित अथवा पीड़ित हो वह सम्मान तो प्राप्त करेगा ही। जैसे – उसे शिक्षा ग्रहण या मंदिर में उपासना करने का पूरा हक होता है जोकि उसे जन्म से ही प्राप्त हैं अर्थात् उसके साथ अस्पृश्यता व छुआछूत नहीं बरती जाती।

लेकिन अगर दलित कितना भी आर्थिक दृष्टि से संपन्न हो वह सम्मान योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि हमारे देश की सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी है जिसमें वह दलन का शिकार होता है। अतः 'दलित' शब्द का संबंध हिन्दू वर्णव्यवस्था के चौथे वर्ण 'शूद्र'

व 'अतिशूद्र' से ही माना जाना चाहिए। बल्कि उन्हें नहीं जो आर्थिक दृष्टि से नीचे हों, क्योंकि भारतीय हिन्दूवादी समाज में ऊँच–नीच तथा भेदभाव की व्यवस्था है जिसका आधार जाति है, अर्थ नहीं।

दलित शब्द साहित्य के साथ जुड़ता है तो 'दलित साहित्य' बनता है, जिसमें मानवीय सरोकारों – स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे की भावना और संवेदनाओं की यथार्थवादी अभिव्यक्ति तो मिलती ही है। साथ ही इसमें जाति–व्यवस्था, अस्पृश्यता, पुरोहितवाद की कठोरता, अन्यायपूर्ण परंपरा, ब्राह्मणवाद, सामंतवाद एवं हिन्दूवादी व्यवस्था आदि के प्रति निरंतर विद्रोह की भावना अंतर्निहित रहती है। दलित साहित्य चाहे गद्य में हो या पद्य में हो वह जीर्ण–शीर्ण भारतीय समाज का नव–निर्माण चाहता है, जहाँ मानव–मानव में अनुचित भेदभाव न हो, वर्ण तथा जाति का आतंक न हो, दलितों के प्रति घृणा व तिरस्कार न हो और संपूर्ण समाज में पारस्परिक प्रेम, स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व का भाव हो। अनेक विद्वानों ने दलित साहित्य के आशय को स्पष्ट करते हुए उसे परिभाषित किया है।

दलित साहित्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए दलित साहित्यकार डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' लिखते हैं कि – "अब चूँकि दलित का आशय स्पष्ट है तब मैं यह कहना चाहूँगा कि इन जातियों की लिपिबद्ध अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य है। साथ ही यह बात ध्यान रखने योग्य है कि हर दलित का हर तरह का लेखन स्वतंत्रता, बंधुता, समानता एवं कुल मिलाकर मुक्ति का लेखन नहीं है। अर्थात् उसमें दलित चेहरा नहीं है या कहें कि वह दलित का साहित्य है। पर अच्छा साहित्य नहीं है। क्योंकि किसी वर्ग में न तो सभी लोग महान विचारक होते हैं, न परिवर्तनवादी होते हैं और न ही सभी प्रतिगामी प्रवृत्ति के होते हैं। आशय यह है कि विशेष दलित साहित्य की और सामान्य दलित साहित्य की ऐसी दो कोटियां हो सकती हैं और इनकी अनेक परिभाषाएं तय की जा सकती हैं। इसलिए बेहतर दलित साहित्य वही हो सकता है जो सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक, राजनैतिक और कुल मिलाकर संपूर्ण मुक्ति को लक्ष्य करके लिखा जाता है। जो परिवर्तनगामी प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में सहायक हो रहा है और जिसका दार्शनिक आधार बाबा साहब अम्बेडकर की विचारधारा है। यह विचारधारा भी जड़ नहीं है। इसमें गत्यात्मकता और छूटे हुए कार्यों को आगे बढ़ाने की स्वतंत्रता है।"[30] अर्थात् बेचैन जी

का मानना है कि दलितों की ओर से समाज के उद्‌बोधन हेतु लिखा गया साहित्य ही 'दलित साहित्य' है।

दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहना है कि – "दलित साहित्य जन साहित्य है, यानी मास लिटरेचर (Mass Literature)। सिर्फ इतना ही नहीं, लिटरेचर ऑफ एक्शन (Literature of action) भी है जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामन्ती मानसिकता के विरुद्ध आक्रोश–जनित संघर्ष है। इसी संघर्ष और विद्रोह से उपजा है दलित साहित्य।"[31]

अतः कह सकते हैं कि वाल्मीकि जी की दृष्टि में दलित साहित्य विद्रोह व नकार का साहित्य है जो संघर्ष से उपजा है, जिसमें समता, स्वतंत्रता और बंधुता का भाव है और वर्ण–व्यवस्था से उपजे जाति–भेद का विरोध है, जिसमें चेतना भी मिलती है।

दलित लेखक सूरजपाल चौहान मानते हैं कि – "दलित साहित्य मानवतावादी साहित्य है। वह शिकायती साहित्य नहीं बल्कि विद्रोह और सामाजिक क्रांति का अगुवा है। इसलिए सामाजिक परिवर्तन पर जोर देता है। वर्ग–विहीन और जाति–विहीन समाज की स्थापना उसका मुख्य उद्देश्य है।"[32]

गैर दलित साहित्यकार कमलेश्वर के अनुसार – "दलित साहित्य मनुष्य की मुक्ति का वह साहित्य है जो अमानुषों की ऐश्वर्यवादी साहित्यिक संस्कृति में मानुष की नियति और अस्मिता के सवालों पर निर्णायक रूप से तय कर रहा है और नए मानसिक भूगोल का निर्माण कर रहा है।"[33]

उपर्युक्त दलित व गैर–दलित साहित्यकारों के अनुसार दलित साहित्य से आशय केवल दलितों की पीड़ा अभिव्यक्त करने वाला साहित्य ही नहीं है, बल्कि दलित समाज को जागरूक करने, उनमें चेतना का संचार करने, उसे परिवर्तन के लिए प्रेरित करने तथा गैर–दलितों और दलितों दोनों की मानसिकता बदलने के लिए उद्देश्य और लक्ष्य को सामने रखकर रचा जाता है।

दलित साहित्य की अवधारणा को जानने के लिए सर्वप्रथम डॉ. तुलसी राम के विचारों पर दृष्टि डालना बेहतर होगा – "दलित साहित्य का आधार डॉ. अम्बेडकर के

विचार हैं। ये विचार दलितों के धार्मिक शोषण के विरुद्ध पनपे थे। बुद्ध के प्रभाव में लिखे गये जिस साहित्य को ब्राह्मणों ने आठ सौ वर्ष पूर्व नष्ट कर दिया था, उसे डॉ. अम्बेडकर ने पुनर्जीवित करने का अभियान छेड़ा। यही कारण है कि बिना अम्बेडकर के दलित साहित्य की बात नहीं की जा सकती।"[34]

अर्थात् दलित साहित्य में बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर के विचारों का वर्चस्व है, उनके विचारों पर ही दलित साहित्य की नींव टिकी हुई है, जिसकी विस्तार से चर्चा मैंने पिछले उपाध्याय में की है।

जब हम दलित साहित्य की अवधारणा पर चर्चा करते हैं तो मूलतः दो दृष्टियों पर हमारा ध्यान जाता है। पहली दृष्टि के अनुसार, दलितों के द्वारा दलितों के बारे में लिखा गया साहित्य जिसे स्वानुभूतिपरक साहित्य भी कहा जाता है। दूसरी दृष्टि के अनुसार, गैर दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखा गया साहित्य भी दलित साहित्य है, जिसे सहानुभूतिपरक साहित्य या दलित विषयक लेखन भी कहा जाता है।

साफ तौर पर आज भी बहस उपर्युक्त दोनों दृष्टियों पर चल रही है। अधिकांश विद्वानों का मानना है कि दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखा गया चेतनाभिमुख साहित्य ही 'दलित साहित्य' है।

इसी प्रकार दलित साहित्यकार श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने कहा है कि – "गैर–दलितों द्वारा दलितों पर लिखा साहित्य दलित साहित्य नहीं कहा जा सकता है। दलित साहित्य के मूलभूत आदर्शों में वर्ण–व्यवस्था विरोध है, गैर–दलित इस विचार को छुए बगैर सहानुभूतिवश जब लिखते हैं तो वह एक सुधारवादी दृष्टिकोण होता है। जिससे बदलाव की प्रक्रिया में कोई मदद नहीं मिलती। दलित साहित्यकार ने जिस पीड़ा को भोगा है, उसे वह जब मुखर अभिव्यक्ति देता है, तो एक नई चेतना जन्म लेती है, जिसका अभाव हिंदी साहित्य में स्पष्ट देखा जा सकता है। दलित साहित्य समानता का पक्षधर है।"[35] अतः दलित साहित्य स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा का पक्षधर है।

कंवल भारती का भी यही मानना है कि – "दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है, जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन–संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उन्हीं के द्वारा उसी

की अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला का नहीं, बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है। इसलिए कहना न होगा कि वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है।"[36]

जबकि दलित चिंतक डॉ. धर्मवीर मानते हैं कि – "दलित का साहित्य रुदाली तक सीमित नहीं माना जा सकता है। अपितु वे दलित के स्वप्न, दलित की कल्पना और दलित के खयालों को दलित साहित्य में शामिल करते हैं। वे कहते हैं कि 'दलित साहित्य की परिभाषा में बंधन से मुक्ति की छटपटाहट खोजी जानी चाहिए'।"[37]

इस अवधारणा को लेकर गैर–दलित लेखकों की आपत्ति यह है कि 'गैर–दलितों का लेखन दलित साहित्य क्यों नहीं है ?' या यह है कि दलित समस्या पर सिर्फ दलित साहित्य ही क्यों है ? या यह कि दलित समस्या पर सिर्फ दलित ही लिख सकता है, गैर–दलित नहीं ?

आपत्ति निराधार नहीं मालूम पड़ती चूँकि ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि दलित समस्या पर गैर–दलित नहीं लिख सकते। जरुर लिख सकते है, उन्होंने लिखा भी है और वे लिख भी रहे है पर सवाल अनुभूतियों और चिंतन का है। दलित जीवन की पीड़ा की जैसी अनुभूतियाँ एक दलित लेखक की होती हैं, वैसी अनुभूतियाँ गैर–दलित की नहीं हो सकती। मार्क्स, गाँधी या उदारवादी हिन्दू विचारधारा से प्रभावित सवर्ण लेखक की दलित पीड़ा या सवालों के साथ सह–अनुभूति हो सकती है और उसी आधार पर वह अपने समाधान भी प्रस्तुत कर सकता है। जैसा कि प्रेमचन्द, निराला, गिरिराज किशोर, नागार्जुन, अमृतलाल नागर और जगदीश गुप्त आदि ने प्रस्तुत किये हैं। किंतु वे दलित साहित्य का अंग इसलिए नहीं बन सकते, क्योंकि वे दलित चेतना का सही प्रतिनिधित्व नहीं करते।

मैनेजर पाण्डेय का भी मानना है कि – "प्रेमचन्द और निराला की दलित जीवन से जुड़ी रचनाओं को देखा जा सकता है। लेकिन सारी सहानुभूति, करुणा, सहृदयता और परकाय प्रवेश की कला के बावजूद गैर दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गए साहित्य में कला चाहे जितनी हो, परंतु अनुभव की वह प्रामाणिकता नहीं होती, जो किसी दलित द्वारा अपने समुदाय के बारे में स्वानुभूति की पुनर्रचना से उपजे साहित्य में

होती है।"[38] अर्थात् जब वे दलित समाज की प्रामाणिक आवाज की बात करते हैं तो उनका आशय अनुभव की प्रामाणिकता से ही है।

जबकि डॉ. वीरभारत तलवार का मानना है कि – "हिन्दी के दलित साहित्य की अवधारणा दो बुनियादों पर टिकी हुई है – एक, दलित के रूप में लेखक के अपने अनुभव और दो, अम्बेडकर की विचारधारा जो उसकी दलित चेतना का सैद्धांतिक आधार है।"[39]

अतः डॉ. तलवार जी का मानना है कि 'दलित साहित्य की अवधारणा का मूल आधार डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा है। अर्थात् दलित साहित्य को दलित रचे या गैर–दलित, वह सिर्फ डॉ. अम्बेडकर की वैचारिकी से ओत–प्रोत होने के साथ–साथ दलित चेतनोन्मुख होना चाहिए, इसके लिए दलित होना कतई जरुरी नहीं है।'

इसका अभिप्राय यही है कि यदि कोई दलित या गैर–दलित, दलित जीवन से जुड़ी हुई समस्याओं पर लिखता है तो उसमें चेतना, आक्रोश, विरोध, प्रतिरोध होना अनिवार्य है। यदि उस साहित्य में चेतना और आक्रोश नहीं है तो वह साहित्य दलित साहित्य नहीं कहलाएगा, क्योंकि हम मानते हैं कि दलित साहित्य वह साहित्य है, जो मानव मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहा है और जो सामाजिक परिवर्तन पर जोर देता है। इसीलिए बहस का मुद्दा स्वानुभूति बनाम सहानुभूति के सवाल पर न होकर चेतना व आक्रोश से परिपूर्ण दलित साहित्य पर होना चाहिए, फिर वह साहित्य दलित द्वारा लिखा जाये या गैर–दलित द्वारा, इससे कतई फर्क नहीं पड़ता।

दलित साहित्य पिछले चार–पाँच दशकों से विवाद के घेरे में है और विवाद अभी न तो थमा है और न ही अंतिम पड़ाव पर है, कह सकते हैं कि अभी भी जारी है। वैसे भी जब कोई नया विमर्श या साहित्य जन्म लेता है तो उसके विकसित होने में अनेक विवाद तो जन्म लेते ही हैं, जिसके बरक्स वह विमर्श फलता–फूलता है और उसका पुनर्मूल्यांकन भी होना अनिवार्य हो जाता है।

दलित साहित्य संबंधी सर्वाधिक विवाद इस बात को लेकर हुआ कि दलित किसे माना जाए या दलित साहित्य का लेखक कौन हो सकता है। वैज्ञानिक अर्थों में सामाजिक दमन व उत्पीड़न का शिकार हर व्यक्ति दलित है लेकिन भारतीय सामाजिक

संदर्भ में जाति व अस्पृश्यता के आधार पर निम्न जाति का व्यक्ति दलित है। कुछ दलित चिंतक सिर्फ दलित जातियों में पैदा हुए लेखक को ही दलित लेखक मानते हैं जो स्वानुभूति के आधार पर लिखते हैं। जबकि कुछ गैर–दलित चिंतक यह भी मानते हैं कि दलित जीवन की संवेदना और सरोकारों को समझकर प्रतिबद्धता से कोई भी मानववादी लेखक प्रामाणिकता से दलित जीवन संबंधी साहित्य रच सकता है। जैसे – हिन्दी में प्रेमचंद, निराला, गिरिराज किशोर और जगदीश चन्द्र आदि ने दलित जीवन संबंधी साहित्य लिखा है, लेकिन प्रश्न यही है कि वह दलित साहित्य की दृष्टि से कितना प्रामाणिक है ?

साथ ही इस तरह के प्रश्न भी उठने शुरू हो गये कि दलितों के जीवन संबंधी लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है या सिर्फ दलितों द्वारा दलितों पर दलितों के लिए लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य माना जाएगा। अधिकांश दलित चिंतक या साहित्यकार केवल दलितों द्वारा दलितों के विषय में लिखे गये साहित्य को ही दलित साहित्य मानते हैं। किसी भी गैर–दलित लेखक द्वारा दलितों के जीवन को लेकर कितने भी संवेदनशील या सशक्त साहित्य को भी ये दलित चिंतक केवल करुणा या सहानुभूतिपरक साहित्य ही मानने के पक्ष में है।

इसके अतिरिक्त दलित साहित्य को लेकर इस बात पर विरोध या विवाद खड़ा किया जाता है कि साहित्य में विभाजन क्यों अर्थात् दलित विमर्श की अलग से क्या जरूरत है ? जबकि हमारे यहाँ प्रगतिशील आंदोलन और समाजवादी आंदोलन मौजूद हैं जो दलितों की पक्षधरता करते आए हैं। अब सवाल यह उठता है कि दलित प्रश्नों या समस्याओं को ईमानदारी से अगर पहले ही उठाया गया होता और उन पर गंभीरता से पहले ही विचार किया गया होता तो आज अलग से इस अस्मितामूलक दलित विमर्श की जरूरत ही नहीं थी।

इस संबंध में कमलेश्वर का कथन है – "यह एक साजिश और भूल है। इस मामले को उलझाया क्यों जा रहा है ? सीधा उत्तर है – नदी है तो पानी है, फिर चाहे वह नदी बारिश में ही दिखाई देती हो, उसी तरह यदि देश में दलित है तो दलित साहित्य भी है। फिर चाहे उसे दलित साहित्य की कसौटी पर रखकर खारिज किया

जाए या मंजूर किया जाए। यानी यह भी अकाट्य सत्य है कि हिन्दी में दलित साहित्य मौजूद है और इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि सदियों से जो प्रताड़ित, तिरस्कृत, शोषित एवं बहिष्कृत रहे हैं, यह साहित्य उनका है। उन्हीं द्वारा लिखित है और इस साहित्य का मूल स्वर प्रतिरोधी और प्रतिवादी है।"[40]

कमलेश्वर जी का कहना है कि समाज में जब तक दलित है, तो समाज में दलित साहित्य भी होगा। दलित अपनी अलग परिस्थितियों में अपना साहित्य लिखता है, जिसे दलित साहित्य कहते हैं तो इसमें किसी को आपत्ति करने का क्या औचित्य है ?

विरोध के अगले स्तर पर दलित विमर्श को विकृत कर यह दुष्प्रचारित किया गया कि यह एक खण्डित विमर्श है। इससे संपूर्ण राष्ट्र टुकड़े–टुकड़े हो जाएगा, भारतीय समाज टूट जाएगा। अतः इससे भारतीय संस्कृति पर संकट मंडरा रहा है, जबकि सवाल यहाँ यह उठता है कि संपूर्ण राष्ट्र व देश में तो पहले से ही वर्ण–व्यवस्था कायम थी, जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज एवं राष्ट्र में भेदभाव वाली व्यवस्था फैल गई थी इसी कारण दलितों को पशुओं से भी बदतर समझा जाता था। अब बताइए समाज के टुकड़े–टुकड़े तो यहाँ पहले से ही थे तो समाज को बचाने का ठेका सिर्फ दलितों ने ही ले रखा है क्या ?

दलित विमर्श पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि दलित साहित्य की जड़ें भारत में नहीं है बल्कि यह तो पश्चिम के अश्वेत आंदोलन के नीग्रो साहित्य की नकल है। चूँकि सच्चाई यह है कि दलित लेखन समकालीन विमर्श के केंद्र में आना और दलित समुदाय का भारतीय समाज में दस्तक देना, न तो पश्चिम की नक्ल है, न किसी फैशन के कारण ही बल्कि इसका निहितार्थ इसमें है कि जिनका शताब्दियों से शोषण, दलन व उत्पीड़न हुआ है उनमें चेतना जागृत करने के फलस्वरूप ही दलित साहित्य का आरंभ हुआ है।

दलित साहित्य पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि वह सीमित भाव क्षेत्र का साहित्य है। आत्मकथाएं ही उनकी मूल पूँजी हैं, वे एक रस हैं और उनमें कला सौन्दर्य का अभाव है। कहने की जरूरत नहीं कि यह कोई आरोप नहीं बल्कि विरोध करने का एक तरीका है। जहाँ तक दलित आत्मकथाओं पर एकरसता का आरोप है तो हिन्दू

समाज में दलितों को अपमान, शोषण, घृणा, तिरस्कार के सिवाय दिया ही क्या है भारतीय समाज ने। दलित समाज का जीवन तो तथाकथित सवर्णों के हाथों में पहले से ही था, वो जैसा चाहे वैसा कार्य कराते थे उनसे। दलित लेखकों ने अपने बालपन से ही अपने समाज का दलन होते हुए देखा है और स्वयं अपनी आजीविका के लिए संघर्ष किया है तो उनकी आत्मकथाओं में अगर सामाजिक जीवन का यथार्थ प्रस्तुत हो रहा है तो क्या वह एक रस है ?

इस विवाद में गैर दलित साहित्यकार ही नहीं कुछ दलित लेखक भी शामिल हैं। डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर भी हिन्दी दलित आत्मकथाओं की मराठी दलित आत्मकथाओं से तुलना कर उन्हें कमजोर पाते हैं। उनका विचार है कि – "दया पंवार कृत बलूतं की तर्ज पर बहुत लोग आत्मकथा लिखने की कोशिश कर रहे हैं, परंतु इनमें वह वास्तविकता कहाँ है ? हिन्दी में जिस तरह से दलित लेखक आत्मकथा लिखने की होड़ मचा रहे हैं, वह नकल मात्र है। अपने आपको उपहास बनाने की बात है। क्यों लोग हिन्दी में मराठी की नकल पर दलित साहित्य का विकास करना चाह रहे हैं।"[41]

प्रश्न उठता है कि क्या किसी की आत्मकथा किसी दूसरे व्यक्ति की नकल हो सकती है ? लेकिन दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त सच्चाई, इतनी बदरंग होती है कि उसे झेल पाना न तो दलितों के लिए सहज है और न ही गैर–दलितों के लिए।

हिन्दी के कुछ साहित्यकार यह भी मानते हैं कि दलित समाज की घटनाएं, घटनाएं न होकर टोटेम्स बन गई हैं। ऐसी स्थिति में दलित आत्मकथाएं जोकि दलित समाज की प्रामाणिक अभिव्यक्ति है। गैर–दलितों, मध्यमवर्गीय, बुद्धिजीवियों के समक्ष अनुभूत संवेदनाओं और अनुभवों के भंडार खोलती हैं। ये उन्हें दिखलाती हैं कि जिसे वे अस्वाभाविक मान रहे हैं, वह इस समाज का कटु यथार्थ है। जिसकी सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता और न ही मुँह मोड़ा जा सकता है।

इस संबंध में डॉ. नामवर सिंह की दलित साहित्य पर की गई विवादस्पद टिप्पणी का भी उल्लेख करना आवश्यक है जो उन्होंने परमानंद श्रीवास्तव से 'नया पथ' के लिए बातचीत के दौरान की थी। परमानंद श्रीवास्तव का प्रश्न था – "इधर मराठी के चलन पर हिन्दी दलित लेखकों के द्वारा कुछ आत्मकथाएं लिखी जा रही हैं। यहाँ भी विचार

करना चाहिए कि क्या ये सचमुच आत्मकथाएं हैं या कि इनके भी कुछ 'टोटेम्स' बन गए हैं जैसे कि जानवर के गोबर को धो–छानकर मिला हुआ अन्न खाना, जैसे कि वर्ण संकरता, रखैलपन निजी परिस्थितियां कुछ नहीं है, लगता है एक ही तरह की घटनाएं सारे लेखकों के जीवन में घट रही है।"[42]

सर्वप्रथम यहाँ पर यह स्पष्ट करना होगा कि श्रीवास्तव जी ने जिन उद्धरणों को टोटेम्स की संज्ञा देते हुए, सभी आत्मकथाओं में जिनकी उपस्थिति स्वीकार की है, वह सरासर गलत है – गोबर से निकले अन्न को पानी से धोकर, सुखाकर खाने का जिक्र सिर्फ 'अक्करमाशी' में है। वर्ण संकरता 'अक्करमाशी' और 'छोरा कोल्हाठी का' (बेबी काम्बले) में है तथा रखैलपन इन दोनों के अलावा 'अछूत' में है। इसके अलावा अन्य किसी मराठी या हिन्दी की दलित आत्मकथा में इनका उल्लेख नहीं है। इसलिए यह कहना गलत है कि एक ही तरह की घटनाएं सबके जीवन में घटित हो रही हैं। हाँ कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हैं, जो प्रायः सबमें पाई जाती हैं, जैसे – जातिगत अपमान, शिक्षा हेतु संघर्ष, गरीबी इत्यादि ऐसे विषय हैं जो बार–बार हर आत्मकथाओं में आए हैं लेकिन ये सब दलित समाज की कड़वी सच्चाई है, टोटेम्स नहीं। दलित चाहे महाराष्ट्र का हो अथवा मध्यप्रदेश का, उसका जीवन बहुत कुछ समान है। इसलिए अपमान व विद्यालय में तिरस्कार, बहिष्कृत जीवन, जातिगत अपमान, मुर्दा–मवेशी का मांस खाना आदि लेकिन सब टोटेम्स नहीं है बल्कि कड़वी सच्चाई है। यदि महाराष्ट्र के महार, चमार या मेहतर मुर्दा जानवरों को ढ़ोते हैं, उनका चमड़ा साफ करते हैं तो हिन्दी प्रदेश के चमार या मेहतर पुरोहिती नहीं करते ? वे भी वही करते हैं जो महाराष्ट्र या अन्य किसी जगह की दलित जातियां करती हैं। अर्थात् इन सबकी सामाजिक स्थिति लगभग एक जैसी है, इसलिए कुछ घटनाएं रूढ़ि होने का भ्रम पैदा करती है।

जवाब में नामवर जी कहते हैं कि – "जिस यथार्थ को पढ़ने पर रूढ़ि प्रतीत होने लगे उसकी साहित्यिकता, रचनात्मकता संदिग्ध हो जाती है और इस प्रकार संदिग्ध हो जाने के बाद रूढ़ियों के सहारे आप चाहे आत्मकथा लिखें या दलित साहित्य रचें कुछ नहीं होगा। सब लोग मल्लिका, दयाशंकर या लिंबाले या नारायण सुर्वे नहीं हो सकते। जैसे नई कविता के जमाने में बहुत लोग दर्द–दर्द चीखते थे। समझ में नहीं आता था कि कौन–सा दर्द आपको हो रहा है, काहे का दर्द है ? ये रूढ़ियाँ उसी तरह की है

जैसे एक जमाने में अंधायुग–अंधीगली, अंधा मैं, अंधा वो पूरी की पूरी पीढ़ी ही अंधी ..... ।"[43]

नामवर जी ने जिस यथार्थ को रूढ़ि समझकर उसकी साहित्यिकता एवं रचनात्मकता को संदिग्ध बताया है, उसी आधार पर उनसे प्रश्न किया जा सकता है कि क्या वे रामकाव्य परंपरा एवं कृष्णकाव्य परंपरा की रचनाओं की भी साहित्यिकता एवं रचनात्मकता को संदिग्ध मान सकते हैं ? फिर हिन्दी साहित्य की उन महत्त्वपूर्ण रचनाओं का क्या होगा जो पूर्ववर्ती साहित्य को उपजीव्य बनाकर रची गई हैं ? जिनमें एक ही कथानक का कई बार दोहराव है।

वस्तुतः उनका यथार्थ (यदि है तो) रूढ़ि बन गया है, फिर भी नामवर जी उन महान कृतियों की साहित्यिकता एवं रचनात्मकता पर प्रश्न नहीं करेंगे। दलित जीवन का कटु यथार्थ उनको रूढ़ि लग सकता है किंतु जिनमें यथार्थ मात्र का अंश नहीं हैं, उन रूढ़ियों की साहित्यिकता एवं रचनात्मकता को वे संदिग्ध नहीं मान सकते। बहरहाल नामवर जी ने अपनी इस टिप्पणी में दो बातों की पुष्टि की है। एक तो साहित्यिकता एवं रचनात्मकता वही सुरक्षित रह सकती है, जहाँ यथार्थ नहीं हो। दूसरा, दलितों के दुःख–दर्द को गैर–दलित कभी नहीं समझ सकते, क्योंकि उनको समझ में नहीं आता कि कौन–सा दर्द आपको (दलितों को) हो रहा है।

सौंदर्यशास्त्र से जुड़ा विवाद भी दलित साहित्य में बार–बार उठाया जा रहा है चूँकि दलित साहित्य पर सबसे ज्यादा हमला इसके कलापक्ष को लेकर ही हुआ है। भाव–पक्ष की बात तो अब इसे नकारने वाले भी स्वीकारने लगे हैं।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का मत है कि ऐसे आलोचकों को दलित लेखन का उत्तर यह है कि – "दलित साहित्य किसी धन्ना सेठ के आलीशान ड्राइंगरूम से सजी किसी अभिजात्य चित्रकार द्वारा वाहवाही लूटने के उद्देश्य से चित्रित किसी गरीब की आदमकद पेंटिंग नहीं है, बल्कि यह उस चितेरे द्वारा बनाई गई तस्वीर है, जिसे भले ही रंगों का सही अनुपात व संयोजन नहीं मालूम, पर उस तस्वीर में दर्शित चेहरा खुद उसी का अथवा उसी के अपने भाई का है। चित्र में दर्शित छान–छप्पर चेहरे से उमड़ता दर्द सब कुछ अपना है। एक तरह से वह उसका आत्मचित्र ही है। उसमें रंगों का

संयोजन भले गड़बड़ हो, पर कृत्रिमता की बास नहीं है। उसका अनगढ़पन, उसका खुरदरापन असली और कुदरती है।"[44]

दलित साहित्य के चर्चित लेखक व आलोचक डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का मानना है कि द्विज आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि 'तुम चुप रहो तुम्हारी ओर से मैं बोलूँगा।' अर्थात् दलित साहित्य को नकारने वाले तो यह धारणा रखते हैं कि उनकी कही गई बात तो पत्थर की लकीर है और उनके द्वारा निर्धारित किए गए मानदण्ड किसी साहित्यिक कृति के मूल्यांकन का एकमात्र पैमाना है। यही वजह है कि दलित साहित्य परंपरागत सौंदर्यशास्त्र का खंडन करते हुए एक नए सौंदर्यशास्त्र की मांग करता है अर्थात् उसका अपना एक अलग व अनूठा सौंदर्य है।

दिवंगत दलित आलोचक ओमप्रकाश वाल्मीकि का कथन है कि – "दलित साहित्य को लेकर हिन्दी में कई तरह की आशंकाएं पनप रही हैं, जहां एक ओर परंपरावादी हिन्दी के समीक्षक और लेखक उसे संदेह की दृष्टि से देख रहे हैं। वहीं साहित्य में दलितों की अनाधिकार चेष्टा मानकर नाक–भौं सिकोड़ रहे हैं, सौंदर्यशास्त्र की दुहाई देकर या तो उसे खारिज कर रहे हैं या उस पर मराठी की कलम लगाने का आरोप लगा रहे हैं। दूसरी ओर दलित वर्ग के कुछ बुद्धिजीवी और रचनाकार 'दलित' शब्द को अपमान का द्योतक मान रहे हैं। ये लोग 'दलित' शब्द को अभिधात्मक अर्थों में ले रहे हैं। जबकि साहित्य के संदर्भ में किसी भी शब्द को अभिधात्मक अर्थों में ग्रहण नहीं किया जा सकता है।"[45]

अतः इस तरह के नकार या विवाद कि दलित कौन है, दलित साहित्य कौन लिख सकता है या दलित साहित्य गैर–दलित क्यों नहीं लिख सकते, दलित साहित्य का आरंभ कब से माना जाए, आत्मकथा को लेकर उठे सवाल, सौंदर्यशास्त्र का मामला आदि दलित साहित्य की धारा को कुंठित नहीं कर सकते बल्कि उसके संघर्ष को और भी तीव्रतर बनाते हैं जिसके माध्यम से दलित साहित्य का व्यापक प्रचलन हो रहा है और यह मुख्यधारा में भी आ रहा है।

संदर्भ सूची

1. दुबे, अभय कुमार (सम्पा.), *आधुनिकता के आईने में दलित*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पहली आवृत्ति 2007, पृ. 24
2. अम्बेडकर, डॉ. भीमराव, *संपूर्ण वाङ्मय खंड 1*, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, प्र. सं. 1993, पृ. 66
3. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश, *इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन*, पंकज पुस्तक मंदिर, दिल्ली, प्र. सं. 2013, पृ. 8
4. वही, पृ. 18–19
5. लाल, डॉ. चमन, *भारतीय साहित्य में दलित एवं स्त्री लेखन*, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2001, पृ. 27
6. वही, पृ. 27
7. राम, डॉ. तुलसी, साक्षात्कार – दलित साहित्य का मूल स्वर बौद्ध साहित्य से उत्पन्न है, *दलित अस्मिता* (त्रैमासिक पत्रिका), अक्टूबर–दिसम्बर, 2010, पृ. 92
8. राम, डॉ. तुलसी, लेख – बौद्ध धर्म तथा वर्ण–व्यवस्था, *हंस* (दलित विशेषांक), अगस्त 2004, पृ. 58
9. लिंबाले, डॉ. शरणकुमार, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, अनु. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, आवृत्ति 2010, पृ. 51
10. सिंघल, डॉ. धर्मपाल (टीकाकार), *गुरु रविदास दर्पण* (श्री गुरु रविदास वाणी का टीका), अमर ज्ञान प्रकाशन, पटियाला, प्र. सं. 1996, पृ. 258
11. वही, पृ. 259
12. दास, डॉ. श्यामसुंदर (सम्पा.), *कबीर ग्रंथावली*, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्र. स. 1985, पृ. 79
13. बौद्ध, शांति स्वरुप, *ज्योतिबा फुले की अमर कहानी*, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ. 83
14. फुले, महात्मा ज्योतिबा, *रचनावली भाग–1*, अनु. डॉ. एल. जी. मेश्राम 'विमलकीर्ति', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1994, पृ. 135
15. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख – हिन्दी दलित साहित्य एक पृष्ठभूमि, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' और डॉ. देवेंद्र चौबे (सम्पा.), *चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य*, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, सं. 2010, पृ. 189–190

16. भारती, रामविलास, *बीसवीं सदी में दलित समाज*, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, प्र. सं. 2014, पृ. 96–97
17. लिंबाले, डॉ शरणकुमार, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, पृ. 56
18. चन्द्र, डॉ. राम, लेख – हिन्दी दलित विमर्श की वैचारिकता, डॉ. देवेंद्र चौबे (सम्पा.), *साहित्य का नया सौन्दर्यशास्त्र*, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2006, पृ. 175
19. थोरात, विमल, संपादकीय – दलित साहित्य के विद्रोही स्वर मिलकर एक सांझा आंदोलन बने, *दलित अस्मिता*, अक्टूबर–दिसम्बर, 2010, पृ. 9
20. लिंबाले, डॉ. शरणकुमार, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, पृ. 31
21. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश, लेख – दलित साहित्य आन्दोलन का हिस्सा है, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' और डॉ. रजत रानी 'मीनू' (सम्पा.), *दलित दखल*, आकाश पब्लिशर्स, गाजियाबाद, संशोधित सं. 2011, पृ. 142
22. मस्के, साक्षान्त, *परम्परागत वर्ण–व्यवस्था और दलित साहित्य*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2009, पृ. 22–23
23. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र*, पृ. 13
24. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख – मनु का नाती, *कल के लिए* (त्रैमासिक पत्रिका), दिसंबर, 1998, पृ. 59
25. साक्षात्कार – रमणिका गुप्ता से रश्मि चतुर्वेदी का संवाद, *दलित अस्मिता*, अप्रैल–जून 2011, पृ. 66
26. भारती, कंवल, *दलित साहित्य की अवधारणा*, बोधिसत्त्व प्रकाशन, रामपुर (उ.प्र.), प्र. सं. 2006, पृ. 15
27. विजधावने, राधेलाल, लेख – साहित्य की दलित संवेदना, रमणिका गुप्ता (सम्पा.), *दलित चेतना : साहित्य*, नवलेखन प्रकाशन, बिहार, प्र. सं. 1996, पृ. 88
28. लिंबाले, डॉ. शरणकुमार, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, पृ. 42
29. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र*, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2001, पृ. 15
30. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख – मनु का नाती, *कल के लिए* (त्रैमासिक पत्रिका), वही, पृ. 60
31. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र*, पृ. 15

32. चौहान, सूरजपाल, *तिरस्कृत* (आत्मकथा), अनुभव प्रकाशन, द्वि. सं. 2005, गाजियाबाद, द्वितीय संस्करण की भूमिका से
33. कमलेश्वर, भूमिका – दलित साहित्य उत्पीड़न और दमन का प्रतिफल है, *दलित दखल*, पृ. 19
34. राम, डॉ. तुलसी, लेख – दलित साहित्य की अवधारणा, *चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य*, पृ. 69
35. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, रपट – 'परिवेश सम्मान' के बहाने दलित साहित्य पर बहस, *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), जुलाई 1996, पृ. 75
36. भारती, कंवल, *दलित साहित्य की अवधारणा*, पृ. 15–16
37. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *उत्तर सदी के हिंदी कथा–साहित्य में दलित–विमर्श*, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, प्र. सं. 2014, पृ. 21
38. पाण्डेय, डॉ. मैनेजर, सर्वेश कुमार मौर्य (सम्पा.), *साहित्य और दलित दृष्टि*, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2015, पृ. 50
39. तलवार, डॉ. वीरभारत, लेख – दलित साहित्य की अवधारणा, *चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य*, पृ. 86
40. प्रसाद, माता, *दलित साहित्य दशा और दिशा*, भारतीय दलित साहित्य अकादमी, दिल्ली, प्र. सं. 2003, पृ. 31
41. सिंह, डॉ. एन., *दलित साहित्य के प्रतिमान*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, आवृत्ति 2014, पृ. 40
42. दलित चेतना और दलित साहित्य (परिसंवाद), *नयापथ*, जनवरी 1998, पृ. 21
43. वही, पृ. 21
44. दलित साहित्य शोषण की पीड़ा का यथार्थ लेखन, *दैनिक भास्कर* (दैनिक समाचार–पत्र), 07 फरवरी, 1999
45. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, लेख – हिन्दी साहित्य में जाति एक महत्त्वपूर्ण घटक है, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' (सम्पा.), *दलित क्रान्ति का साहित्य*, राहुल प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं 2013, पृ. 116

द्वितीय अध्याय

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का लेखन : रचना और आलोचना की निर्मिति

2.1 मेहनतकश और उत्पीड़ित–उपेक्षित दलित जीवन के भोगे हुए अनुभव

2.2 दलित अस्मिताओं के महानायकों का व्यक्तित्व, कृतित्व, विचार और आंदोलन

2.1 मेहनतकश और उत्पीड़ित–उपेक्षित दलित जीवन के भोगे हुए अनुभव

भारत की आजादी की स्वर्ण जयंती भी मनाई जा चुकी है, जिसमें सभी के लिए मानवाधिकार बहाली की घोषणा की गई थी। लेकिन आजादी के सत्तर साल बीत जाने के बाद भी इस देश के दलितों के हालातों में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। बल्कि उनकी स्थिति पशुओं से भी बदतर बन गई है। शिक्षा, राजनीति व रोजगार आदि सभी क्षेत्रों में उनका स्थान नहीं के बराबर है। आरक्षण की जो व्यवस्था दलितों के लिए की गई, उसे पूरी तरह लागू ही नहीं किया गया। जो सामाजिक न्याय और सामाजिक लोकतंत्र की अपेक्षित योजनाएं बननी थी वे जन्म से पहले दम तोड़ गईं, जो बची उनका भरण–पोषण नहीं किया गया। बल्कि वर्णवादी व्यवस्था के कारण होने वाले जाति–जुल्म, अस्पृश्यता आज भी देश के गाँवों व शहरों में देखे जा सकते हैं। जिसको उदाहरण के रूप में मई 2017 में उ.प्र. के सहारनपुर जिले के शब्बीरपुर नामक गाँव की घटना को देखा जा सकता है, हिन्दी के कई समाचार पत्र–पत्रिकाओं अमर उजाला, जनसत्ता आदि में इस प्रसंग से संबंधित खबरें प्रकाश में आईं। जहाँ दबंगों ने दलितों के घर में घुस कर उनको मारा–पीटा, बहन–बेटियों के साथ छेड़छाड़ की और उनके घर का सब समान जलाकर राख कर दिया। इस प्रकार की सामाजिक स्थितियों का चित्रण दलित साहित्य में शिद्दत से हो रहा है और होना भी चाहिए। क्योंकि हमारा संविधान, हमारा कानून हर व्यक्ति की जान–माल की सुरक्षा, वैयक्तिक गरिमा और सम्मान तथा व्यवसायिक चुनाव की स्वतंत्रता की गारंटी देता है लेकिन फिर भी सामाजिक व्यवहार में तमाम तरह की विषमताएं बढ़ती जा रही हैं। सदियों से वंचित–उपेक्षित अपने दलित समुदाय व समाज की पीड़ा व संघर्ष को अब दलित साहित्यकार अपने साहित्य में सामने ला रहे हैं। उन्हीं साहित्यकारों में से एक डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' हैं, जिनका लेखन मेरे शोध का विषय भी है।

समाज में फैली ऐसी जाति–भेद व अस्पृश्यता रुपी घटनाओं को देखते हुए, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' चिंतित हैं और अपनी लेखनी चलाते रहे हैं। वे **'गांव अब भी यातना गृह क्यों है ?'** शीर्षक से संबंधित राष्ट्रीय अमर उजाला नामक समाचार–पत्र में

अपने लेख में लिखते हैं कि – "सहारनपुर के शब्बीरपुर गाँव का दर्द रह–रहकर टीस रहा है। कई सप्ताह बीत गए हैं, पर दलितों को राहत नहीं मिली है। बड़ी संख्या में पीड़ित परिवारों के पलायन की खबरें आ रही हैं।"[1]

मेरे विचार से सच्चा दलित साहित्य वही लिख सकता है, जिसने दलित जीवन की पीड़ा व कष्टों को भोगा हो, जिया हो, चूँकि दलित साहित्य स्वानुभूतिपरक लेखन है, इस परिपाटी पर डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' बहुत ही खरे उतरते हैं, उनकी आत्मकथा में अभिव्यक्त अनेक प्रसंग इस बात का प्रमाण है कि लेखक ने जातिदंश, अस्पृश्यता, बाल शोषण, गरीबी, धार्मिक–पाखंड आदि को समय–समय पर झेला है जिसकी विस्तारपूर्वक चर्चा मैंने चतुर्थ अध्याय में की है।

लेखक ने युगों–युगों से मेहनतकश, उत्पीड़ित–उपेक्षित अपने दलित समाज की पीड़ा व संघर्ष को अपने लेखन के माध्यम से समाज के सामने अभिव्यक्त किया है। यहां लेखक की बचपन से जुड़ी पृष्ठभूमि पर विचार करना अनिवार्य है। दलित समाज में जन्में हजारों बुद्धिजीवियों में से डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का प्रारंभिक जीवन निर्धनता व बहुत ही कष्टों में बीता। लेखक का जन्म 05 जनवरी, 1960 को जनपद बदायूं (अब संभल जनपद में, उ.प्र.) के ग्राम नदरौली में माता सूरजमुखी की कोख से हुआ। उनके पिता राधेश्याम जी एक निर्धन किसान और कारीगर थे। डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के होश संभालते ही, उनकी पाँच–छह वर्ष की उम्र हुई होगी तब उनके पिताजी का देहांत हो गया तभी से उनके बचपन का रास्ता दुःखों की ओर मुड़ गया। घर–पर मात्र डेढ़–दो बीघा जमीन थी और वह भी उर्वरा नहीं थी और परंपरागत पेशे समाप्त हो चुके थे इसलिए उनकी शिक्षा–दीक्षा का प्रश्न ही दूर था। जिंदा रहने के लिए दो रोटी की तलाश करना कठिन था। जैसे–जैसे श्यौराज का जीवन बालश्रम करते हुए बीता अनौपचारिक शिक्षा ग्रहण की और होश संभाला तो उनके मन में एक ही धुन सवार थी कि सामान्य लोगों की तरह नहीं जीना है। देश और समाज के लिए कुछ करना है। इतनी ही मोटी रूपरेखा उनके जेहन में थी। उनके मन में कलात्मकता तो थी, जिसने लोक साहित्य की ओर ध्यान खींचा। इस प्रकार उन्हें लोक साहित्य की सस्ती व पुरानी और तरह–तरह की किताबें पढ़ने का चस्का लग गया था। मित्रों और संबंधियों के पास ये किताबें उपलब्ध हो जाती थी। इसके साथ ही गाँवों में जब रात–रात भर देवी–देवता

के आह्वान के गीत ताऊ आदि लोग गाते थे तब भी बालक श्यौराज उनकी बगल में बैठा उन्हें दोहराता–तेहराता रहता था। इन्हीं में से कहीं उनका कवि मन उभरने लगा और धीरे–धीरे लेखक गाने लगा और जाने कब अपनी तुकबंदी जोड़ने लगा। हालांकि तब उनमें उतनी संकलित करने की समझ विकसित नहीं हुई थी, लेकिन फिर भी वे तुकबंदी व अभिव्यक्ति करने लगे थे। इस तरह दुःख के गीत उनके बचपन के साथी बनते चले गए। कह सकते हैं कि यदि वह माहौल, वह हालात उस पृष्ठभूमि में नहीं होते तो शायद ही बेचैन जी के लेखन का विकास हो पाता।

डॉ. राजेन्द्र बड़गूजर श्यौराज सिंह 'बेचैन' को अपरिहार्य कवि की संज्ञा देते हैं और लिखते हैं कि – "उनके साहित्य में जो है, वह उनके व्यक्तित्त्व का हिस्सा है। उनका व्यक्तिगत जीवन किसी दर्दनाक हादसे कम नहीं हैं। उनकी शैक्षणिक यात्रा और वर्तमान की उपलब्धियाँ घने कष्टों और जिजीविषा की दृढ़ता का परिणाम है।"[2]

अर्थात् डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने अपने समुदाय का दर्द समझा है और दर्द के निवारण के लिए लेखन का सहारा लिया, उनके यही मेहनतकश और उत्पीड़ित–उपेक्षित दलित जीवन के भोगे हुए अनुभव उन्हें श्रेष्ठ रचनाकार, आलोचक व संपादक की श्रेणी में शामिल करते हैं। यही संघर्ष उनके साहित्य को अप्रतिम ऊर्जा से ओत–प्रोत किये है। इसलिए उन्होंने अपना लेखन रचना और आलोचना दो मोर्चों पर समेटा है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के लेखन की शुरुआत तुकबंदी से होते–होते कविता में परिवर्तित हुई। कहानियों और नाटकों के लिए शुरू में अवसर कम थे, कवि के रूप में ही उन्हें ज्यादा कुछ कहने के अवसर मिले। उनके गाँव के कुछ शिक्षकों ने उनकी काव्य–प्रतिभा को पहचाना था, जिनमें मास्टर कुंवर बहादुर यादव, रघुनाथ शास्त्री थे। जैसा कि हम जानते हैं कि बेचैन जी के मन में बचपन से ही कवि प्रवृत्ति जाग उठी थी। **'फूलन की बारहमासी'**, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की प्रथम प्रकाशित लोकगीत रचना है। जिसमें लेखक ने अति पिछड़े समाज की फूलन देवी के साथ हुए शोषण का चित्रण बारह महीनों के आधार पर किया है। प्रस्तुत लोकगीत में फूलन देवी जातिगत भेदभाव, सामंतवादी, पितृसत्तात्मक व्यवस्था का शिकार होती है फिर अपने विरुद्ध हुए उत्पीड़न व शोषण के प्रति संघर्ष व विरोध भी दर्ज करती है तथा स्त्री–संघर्ष की

मिसाल बनती है। **'क्रौंच हूँ मैं'**, **'नई फसल कुछ अन्य कविताएँ'**, **'चमार की चाय'** तथा **'भोर भी अंधेरा भी'**, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के अन्य कविता–संग्रह हैं तथा इसके अतिरिक्त उनकी स्फुट कविताएं भी समाचार पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। उनकी शुरुआती कविताओं में मेहनतकश किसानों, मजदूरों, स्त्रियों व वंचित समाज की विपन्नता दिखलाई पड़ती है। उनकी कविताएं वर्तमान में अंधेरों से संघर्ष कर रहे लोगों के लिए प्रेरणा–स्रोत है, उनमें आशा का संकेत भी झंकृत हो रहा है कि यदि व्यक्ति मेहनत, ईमानदारी से काम ले तो निश्चय ही एक दिन उसे वांछित सफलता प्राप्त होगी। यह डॉ. 'बेचैन' के जीवन का सच भी है, इस तरह उन्होंने शताधिक कविताएं लिखकर दलित साहित्य के आंदोलन में नई ऊर्जा भरी और सही रचनात्मक दिशा प्रदान की।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' एक कवि के साथ–साथ एक कथाकार के रूप में भी जाने जाते हैं। उनका कहानी–संग्रह **'भरोसे की बहन'** वाणी प्रकाशन नई दिल्ली से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त उनकी कहानियां भिन्न–भिन्न पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। उनकी अधिकांश कहानियां सम–सामयिक समस्याओं, मुद्दों और सामाजिक सरोकारों से संबद्ध हैं। सामाजिक लोकतंत्र की भावना और अवसरों की समानता की कामना बेचैन की सृजनशीलता में निहित रही है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षणिक व स्त्री संदर्भों की जड़ता, वृद्धों व बच्चों की समस्याओं पर भी बेचैन जी की कहानियां चौतरफा प्रहार करती हैं।

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' नामक आत्मकथा में लेखक ने अपने बचपन से लेकर दसवीं पास करने तक की कथा कही है। यह एक विषम परिस्थितियों में सवर्ण समाज के वर्चस्ववादी, रवैए और अमानवीय परिस्थितियों के बीच अपनी जिजीविषा और महत्त्वाकांक्षा के साथ विभिन्न संघर्षों से अपने वजूद को बनाने की कथा होने के साथ–साथ उनके जीवन के कटु अनुभवों पर आधारित भी है। बेचैन जी की कविता, कहानी व आत्मकथा आदि के साथ–साथ जारी रही सृजन यात्रा में पत्रकारिता पर महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। लेखक ने पीएच.डी. के लिए दलित पत्रकारिता और डी.लिट् के लिए गैर–दलितों के दलित विषयक कथा साहित्य पर शोध किए। उनकी शोध–पुस्तक **'हिन्दी की दलित पत्रकरिता पर पत्रकार अम्बेडकर का प्रभाव'** गंभीरता से

मीडिया में वर्चस्व वर्ग की राजनीति और राजनीति में वर्चस्व के सत्ता संघर्ष का विश्लेषण करती है। इस विषय पर संभवतः यह पहली पुस्तक है। जिसमें इतने विस्तार से और तथ्यों के साथ भारतीय नवजागरण एवं स्वाधीनता आंदोलन के साथ–साथ आजाद भारत में दलितों की स्थिति उनके प्रति परंपरागत हिन्दी पत्रकारिता के रवैये तथा दलित पत्रकारिता की सार्थक भूमिका की गहन पड़ताल की गई है। यह पुस्तक एक ऐसा संदर्भ ग्रंथ है, जिसमें आजादी के पहले और बाद के पचास वर्षों के भारतीय समाज में दलित विमर्श पर समग्रता में प्रकाश डाला गया है। अतः वे हिन्दी में दलित पत्रकारिता के पहले पीएच.डी. हैं। आज उनका नाम लिम्का बुक ऑफ रिकार्ड (1999) में भी दर्ज है। उन्होंने बाबा साहब अम्बेडकर के मराठी पत्रों का अनुवाद पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया। इसके अतिरिक्त **'दलित क्रान्ति का साहित्य'**, **'बहिष्कृत भारत'**, **'मूकनायक'**, **'मूल खोजो विवाद मिटेगा'**, **'अन्याय कोई परंपरा नहीं'**, **'दलित दखल'**, **'चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य'** और **'सामाजिक न्याय और दलित साहित्य'** आदि उनके संपादित व अनुवादित ग्रंथ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

पत्रकारिता लेखन पर उनकी कई पुस्तकें आई हैं – **'समकालीन हिन्दी पत्रकारिता में दलित उवाच'**, **'मीडिया : उत्तर आधुनिक अस्पृश्यता के दौर में'**, **'मीडिया में दलित'** आदि पुस्तकें, जो दलित मुद्दों को मीडिया में लाने के प्रस्ताव को लेकर लिखी गई है। उनके **'स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका'**, **'गाँधी–अम्बेडकर, हरिजन–जनता'**, **'उत्तर सदी के हिंदी कथा–साहित्य में दलित–विमर्श'**, **'उपन्यास साहित्य में दलित समस्या एवं समाधान'** आदि ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं।

इतना ही नहीं डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के लेखन में उनका संपादकीय कार्य भी शामिल रहा है। उन्होंने हिन्दी जगत की कई पत्रिकाओं का संपादन कार्य संभाला। वर्तमान में **'बहुरि नहिं आवना'** नामक पत्रिका के प्रधान संपादक भी हैं। इस पत्रिका की शुरुआत वर्ष 2011 में हुई। इस पत्रिका के लेखक ने दो या तीन संपादकीय लिखे हैं। **'समय सरोकार'** नामक हिन्दी मासिक पत्रिका के दो विशेषांक भी उन्हीं के संपादन में निकले हैं। **'दलित प्रक्रिया'** नामक मासिक पत्रिका का वर्ष 1995–1998 तक कार्यकारी संपादक के रूप में कार्यभार संभाला। **'वायस ऑफ द वीक'** हिन्दी संस्करण का भी अक्टूबर 1990 से अप्रैल 1995 तक कार्य–भार संभाला। इसके अतिरिक्त **'हंस'** नामक

कथा मासिक पत्रिका का पहला दलित विशेषांक अगस्त 2004 निकाला, जिसके अतिथि संपादक की भूमिका डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने निभाई। उन्होंने अपने **'अघोषित पाबंदियों के बीच सत्ता विमर्श और दलित'** नामक अतिथि संपादकीय में दलितों के प्रति हुई राजनैतिक उपेक्षा की ओर ध्यान खींचा और साहित्य समाज केंद्रित मूलभूत मुद्दों को रेखांकित किया। अतिथि संपादक की दृष्टि से इस अंक की बड़ी उपलब्धि यह थी कि 'हंस' में पहली बार स्वामी अछूतानन्द की कविताएं प्रकाशित हुई। इससे स्पष्ट हुआ कि संपादक की दृष्टि सकारात्मक हो तो दलित साहित्य के क्षेत्र में साहित्यिक प्रतिभाओं की कमी नहीं है।

आगे चलकर वे अखबारों के लिए संपादकों के नाम पत्र भी लिखने लगे। वह समय 1977–1987 का दशक था। उसी समय से वे दैनिक अमर उजाला के लिए चन्दौसी से रिपोर्टिंग करने लगे, रविवारीय परिशिष्ट के लिए लिखने लगे। साथ ही वे 30 वर्षों से अखबारों में लिखते रहे हैं, जिनमें अमर उजाला, राष्ट्रीय सहारा, दैनिक जागरण, दैनिक हिन्दुस्तान, जनसत्ता, दैनिक भास्कर, समकालीन नजरिया आदि समाचार–पत्र प्रमुख हैं। महीना या पंद्रह दिनों में तो उनका एक लेख उपर्युक्त अखबारों में छपता ही है जो लाखों पाठकों तक जाता है। इसके अतिरिक्त हिन्दी की हंस, वाक्, युद्धरत आम आदमी, कथादेश, सम्यक भारत, अंबेडकर इन इंडिया, हम दलित आदि पत्रिकाओं में भी बराबर लिखते रहे हैं। उनके लेख मुख्यतः दलित प्रश्न, दलित मुक्ति व साधारण जनों में किसानों, मजदूरों, स्त्रियों आदि की समस्याओं पर केंद्रित होने के साथ–साथ उन्हें प्रेरित व जागरूक भी करते हैं।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का अप्रैल, 1988 में **'दलित समस्या व आंदोलन : कल, आज और कल'** शीर्षक से एक वैचारिक पत्रिका में पहली बार एक लंबा लेख प्रकाशित हुआ था। यह आलेख डॉ. भीमराव अम्बेडकर के सत्तानवें जन्म दिवस पर प्रकाशित हुआ था। इस आलेख में उनके द्वारा दलित समझी जाने वाली जातियों और उसमें डॉ. अम्बेडकर की भूमिका तथा उनके परिनिर्वाण होने के बाद उनके द्वारा चलाये गये आंदोलनों की दशा व दिशा का विश्लेषण किया गया था। लेखक ने बीसवीं शती में दलितों की स्थिति पर बातचीत करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि आखिर बीसवीं शती में दलितों के पास डॉ. अम्बेडकर द्वारा छेड़े गये आंदोलनों की एक समृद्ध विरासत है,

फिर क्यों नहीं वे क्रांतिकारी स्वरुप ले पाते ? इसका जवाब देते हुए वे लिखते हैं – "इसका एक कारण तो यह है कि दलितों ने अपने सीमित दायरों से बाहर निकलने का प्रयास नहीं किया और जातिगत भूल–भुलैया में ही मुक्ति की रोशनी ढूंढते रहे। दूसरे जिन्हें अपने बीच से संसद, विधानसभा में भेजा, उनमें वही बुराइयां आ गई जो पूँजीवादी शासकों में होती है, उन्होंने अपना घर भरने या अपने भैया–भतीजों को सुनहरे मौके दिलाने के अलावा कभी भी आम समाज या सामूहिक हित में कार्य नहीं किया।"[3]

अतः लेखक यहाँ बेबाक टिप्पणी करते हैं कि जो दलित हैं, वे दलितों के दुखों में शामिल नहीं हो रहे हैं और उनका शोषण कर रहे हैं। उनका मानना है कि – "दलितों को केवल डॉ. अम्बेडकर के जन्म दिवस व मरण दिवस मनाने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, बल्कि बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए समाज को समझाने, शिक्षित–संगठित होने व संघर्ष करने की जरूरत है।"[4]

दलित साहित्य में डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का जो यह योगदान है, वह अतुलनीय है। वह इस दृष्टि से भी कि बेचैन का बचपन देखकर कह सकते हैं कि समाज ने उन्हें कितना कम दिया है। मान्यवर कांशीराम की सलाह कि 'हर दलित को पे बैक टू दी सोसाइटी का ध्यान रखना चाहिए' के अनुसार ही वे काम कर रहे हैं। यह उनके तीन दशकों की सतत् सेवा का प्रतिफल है। वे रचना और आलोचना दो मोर्चों पर काम करते रहे हैं। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से दलित संबंधी सवालों को उठाने के साथ–साथ व्यापक दलित चेतना को उजागर करने का भी सफल प्रयास किया है। दलितों के प्रति समाज में फैले जातीय भेदभाव, अत्याचार–उत्पीड़न, राजनीति, रोजगार, साहित्य, शिक्षा, पत्रकारिता आदि में दलितों का प्रतिनिधित्व व आरक्षण उनके लेखन के मुख्य विषय रहे हैं। इस विषय की शोध–छात्रा होने के नाते मैं कह सकती हूँ कि लेखक के तौर पर, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' उतने ही नहीं हैं, जितने कि अपनी आत्मकथा में हैं, वे कवि हैं, पत्रकार हैं, सामाजिक वक्ता एवं शोधकर्त्ता हैं तथा राजनैतिक कार्यकर्त्ता भी हैं। अतः वे किसानों–दलितों के बीच के कार्यकर्त्ता हैं।

'नई फसल' के प्रथम संस्करण की भूमिका लिखने वाले दिवंगत वरिष्ठ कवि वीरेन डंगवाल का मानना है कि – "श्यौराज सिंह 'बेचैन' एक प्रतिबद्ध राजनीतिक

कार्यकर्त्ता हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसान आन्दोलन में लंबे समय से खासतौर पर सक्रिय रहे हैं। चौधरी महेन्द्र सिंह 'टिकैत' के किसान संघर्षों में ग्रामीण समाज की वंचित जातियों और भूमिहीन मजदूरों की भूमिका को सुनिश्चित करने और इस प्रकार इस आन्दोलन को संकीर्ण होने से बचाने में उनकी एक खामोश लेकिन महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उनके पास दुनिया और अपने समाज को देखने तथा अन्तःसम्बन्धों को समझने की एक विशिष्ट विज्ञानसम्मत दृष्टि है जिसे व्यावहारिक अनुभवों ने और भी समृद्ध किया है।"[5]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने अपने लेखन के केंद्र में उत्तर प्रदेश के मेहनतकश किसानों व मजदूरों के दर्द, कष्टों व अनुभवों को विषय बनाया। लेखक एम. ए. करते समय भारतीय किसान यूनियन के सदस्य बन गये तभी से वे किसानों के हकों की लड़ाई, प्रदर्शन व आंदोलनों में बराबर हिस्सा लेने के साथ–साथ समाचार पत्रों में रिपोर्ट व लेख भी लिखने लगे। **'रजबपुर में क्या हुआ'** नामक आवरण कथा में लेखक ने एक खास रिपोर्टर की भूमिका में दो रात व दो दिन गाँवों में घूम–घूम कर मस्जिद में सो कर अमर उजाला नामक दैनिक समाचार–पत्र के लिए आवरण कथा तैयार की, जिसमें उन्होंने अपने अनुभवों से किसानों को मजबूत करने का प्रयास किया है, वहीं सरकार को थोड़ा उलझा भी दिया है। इस लेख में वे लिखते हैं कि – "रजबपुर एक जगह का नाम है और महेन्द्र सिंह टिकैत एक आदमी का लेकिन ये दोनों ही नाम आज नाम से ज्यादा किसानों के जुझारूपन का प्रतीक बन गये हैं। पिछली 15 फरवरी 'रास्ता रोको' के बाद से ही दिल्ली–लखनऊ राजमार्ग पर बसी मुरादाबाद की यह बस्ती उद्विग्न है। भारतीय किसान यूनियन के मर्द–औरतें–बच्चे बड़ी पाबन्दी के साथ सैकड़ों की तादाद में रोजाना गिरफ्तारियां दे रहे हैं।"[6]

इसी प्रकार लेखक की कलम भारतीय किसानों के दर्द, उनके हक दिलाने के लिए निरंतर चलती रही है। महेन्द्र सिंह टिकैत का कहना भी है कि 'किसान भिखारी नहीं है, उन्हें अपने हक चाहिए'।

वर्तमान में देश के सभी विभागों व क्षेत्रों में अफसरों व नेताओं की लूट–खसोट, भ्रष्टाचारी व घूसखोरी व्याप्त है। जिसको लेकर डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' चिंतित हैं

क्योंकि इसका खामियाजा मजदूरों व मेहनतकश लोगों को ही भुगतना पड़ता है। उन्होंने अपने एक लेख में रिश्वतखोरी का पर्दाफाश किया है –**'अफसर खा गये भारतीय रेल'**। यहाँ लेखक ने ऊँचे पदों पर बैठे अधिकारियों द्वारा की जा रही अनियमितताओं, डीजल, चोरी, नीलामी के लिये तय इंजन को चोरी से बेचने, कैजुएल लेबर की भर्ती में रिश्वतखोरी और रेलवे कैंटीन में किये गये घोटाले का पर्दाफाश किया है। भारतीय रेल के बारे में एक आम कहावत प्रचलित है – "यदि यहां चोरी और भ्रष्टाचारी न हो तो इसकी पटरियां सोने की पड़ सकती हैं।"[7]

इसके अतिरिक्त सरकारी अस्पतालों में मजदूरों व जरुरतमंदो को कैसी सुविधाएं दी जा रही है, इसके प्रति भी लेखक जागरूक रहे हैं। रेलवे अस्पताल में दैनिक मजदूरों को भारी अनियमितताओं का सामना करना पड़ता है। सरकारी अस्पतालों के डॉक्टर गरीबों व मेहनतकश मजदूरों का इलाज करना नहीं चाहते। लेखक के शब्दों में – "ज्ञात हुआ कि रेलवे अस्पताल मरीजों को आराम देने के बजाय उनको अधूरी सेवाएं देकर उन्हें जीवन मौत के बीच में लटका देता है..... डॉ. मेहता को ईमानदार और कुशल डॉक्टर के रूप में लोग जानते हैं लेकिन पिछले छह महीने से वह भी मरीजों के साथ अपने पहले जैसा व्यवहार नहीं कर रहे हैं। स्टाफ की कमी, मरीजों की तादाद में बढ़ोतरी नर्सों के बिगड़ते तेवर यहाँ रोगियों के लिए खास परेशानी के कारण है। ग्लूकोज की बोतल खाली होने पर भी घंटों लटकी रहती है और सुई मरीज के बदन में धंसी रहती है और नर्से कहीं गप्प–सप्प में मसगूल रहती हैं।"[8] इस प्रकार यहाँ लेखक सरकारी अस्पतालों की खस्ता हालत की ओर इशारा करते हैं।

अतः कह सकते हैं कि डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' को उनके बचपन से लेकर अब तक के इन कठोर मेहनतकश और उत्पीड़ित–उपेक्षित दलित जीवन के भोगे हुए अनुभवों ने ही लेखन के लिए प्रेरित किया। बड़े–बड़े कष्टों को सह कर लेखक को जो वर्तमान में इस मुकाम की कामयाबी प्राप्त हुई है, वह काबिले तारीफ है। मेरे द्वारा लिए गए डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के साक्षात्कार के दौरान उनसे हुई बातचीत में वे बताते हैं कि 'आजादी के बाद यह जताया गया कि दलितों व स्त्रियों को विशेष सुविधाएं दी जा रही हैं, उन्हें नौकरियां आरक्षित हैं, छात्रवृत्तियां मिल रही हैं, सभी संस्थानों में भागीदारियां मिल रही हैं, जातियां टूट रही हैं, दलित युवकों से गैर–दलित लड़कियां

शादियां कर रही हैं और उन्हें सामाजिक न्याय मिल रहा है। लेकिन वे जब इन अफवाहों को तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं उन्हें गैर–दलितों की शिक्षा, आवास, रोजगार और उनकी तुलना में दलित को मिलने वाली सुविधाएं सब बेइमानी लगती है, दलितों की स्थिति अत्यंत सोचनीय है।' इन सब समस्याओं व अनुभवों को वे खुद का साक्ष्य देकर ही प्रमाणित कर सकते थे। इसलिए उन्होंने अपने व अपने आस–पास के अस्पृश्य जातियों के लोगों की दशा व स्थितियों को ध्यान में रख कर लेखन–कार्य शुरू किया।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के लेखन को देख कर मैं समझती हूँ कि पता नहीं ऐसा समाज कब बनेगा, जब मनुष्यों को आप जैसा संघर्ष न करना पड़े, संपूर्ण देश में स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व का भाव व्याप्त होगा और ब्राह्मणवाद व पूंजीवाद का खात्मा होगा। लेकिन आपका आत्मविश्वास और दृढ़ निश्चय से भरा लेखन देख कर लगता है कि ऐसा मानवतावादी व समतामूलक समाज जरुर बनेगा।

2.2 दलित अस्मिताओं के महानायकों का व्यक्तित्व, कृतित्व, विचार और आंदोलन

सर्वप्रथम 'अस्मिता' है क्या, इस सवाल से अवगत होना जरुरी है। अस्मिता का अर्थ 'पहचान' से जुड़ा प्रतीत होता है। घनश्याम शाह लिखते हैं कि – "जब कोई समुदाय अपने अस्तित्व और भूमिका को समझने की समस्याओं से जूझता हुआ अपने–आप से सवाल करता है कि 'हम कौन हैं' और 'दूसरे समुदायों के मुकाबले हमारी समाज में क्या हैसियत है' या 'हम किस तरह दूसरों से संबंधित हैं' तो उसकी पहचान बनने की प्रक्रिया शुरू होती है।"[9] अर्थात् दलित अस्मिता का सरोकार 'हम कौन हैं' और 'हमारी पहचान क्या है'? इन प्रश्नों से बहुत गहरे तक जुड़ा है।

'साहित्य समाज का दर्पण है' जैसे कथन का खूब प्रचार–प्रसार हुआ, लेकिन भारतीय साहित्य के संदर्भ में इस उक्ति की व्यवहारिक परिणति होती नहीं दिखाई पड़ती, चूँकि दलित समुदाय जितना समाज में उपेक्षित रहा, उतना ही साहित्य में भी। हजारों साल के ऐतिहासिक परिदृश्य में दलितों ने जो जाति–भेद के आधार पर सामाजिक शोषण सहा है, विषमताएं झेली हैं, भेदभाव और शोषण ने उनके मस्तिष्क पर

जो गहरी रेखाएं खींची हैं, उस समस्या का चित्रण अब दलित साहित्य में होने लगा है, चूँकि दलित लेखकों में अब चेतना आई है और यह चेतना उन्हें शिक्षा के कारण प्राप्त हुई। शिक्षित होकर ही उन्हें इतिहास में विद्यमान दलित अस्मिताओं के महानायकों के व्यक्तित्व–कृतित्त्व, विचार व आंदोलन का ज्ञान हुआ कि महानायकों का जीवन प्रायः विषम परिस्थितियों से जूझते हुए सामाजिक क्रांति के लिए प्रतिबद्ध होता है। वे अपनी अस्मिता, दलितों व स्त्रियों की विषमताओं को दूर करने के लिए भारतीय समाज में व्याप्त ब्राह्मणवाद से लड़ते रहे हैं।

हिन्दी दलित साहित्य का इतिहास दर्शाता है कि साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ–साथ सुधारवादी आंदोलन के रूप में परिघटित हुआ है। देश भर में किसी एकीकृत दलित आंदोलन का वजूद न तो कभी था और न ही आज है। कई किस्म के दलित आंदोलन तरह–तरह के संबंधी मुद्दे उठाते हुए नाना प्रकार की विचारधाराओं के आधार पर संघर्षशील रहे हैं। लेकिन इन सभी प्रयासों में एक बात समान है। विचारधारा और मुद्दे अलग–अलग होने के बावजूद सभी आंदोलन एक दलित पहचान अथवा अस्मिता का दावा जरुर करते हैं। इस बौद्धिक चेतना के क्षेत्र में योगदान करने वाले दलित अस्मिताओं के महानायकों की फेहरिस्त बहुत लंबी है। यहाँ हम साहित्यिक दृष्टि से कुछ का ही उल्लेख करेंगे –

ऋग्वेद हिन्दू संस्कृति का सबसे प्राचीन धार्मिक ग्रंथ है और इसके पुरुष–सूक्त में वर्णव्यवस्था के आरंभ की सबसे पहले घोषणा की गई थी। इसलिए कह सकते हैं कि भारत में वर्णवादी व जातिवादी व्यवस्था का इतिहास बहुत पुराना माना जाता है, अर्थात् एक लंबे अरसे से जाति–भेद के आधार पर दलितों का शोषण व उत्पीड़न किया जाता रहा है। अतः दलितों की सभी समस्याएं व प्रश्न जातिगत भेदभाव की ही देन है। इसलिए कह सकते हैं कि दलित आंदोलन की प्रकृति अथवा स्वरुप कुछ भी हो, इसका लक्ष्य जातिविहीन समाज की स्थापना करना रहा है।

भारत में जातिव्यवस्था का इतिहास जितना पुराना है, उससे कम पुराना इतिहास जातिविहीन समाज की स्थापना के प्रयास का नहीं है। ईसा से सदियों पूर्व गौतम बुद्ध ने जातिवादी व्यवस्था का विरोध किया था। चूँकि गौतम बुद्ध के पूर्व भारत में

वर्ण–व्यवस्था का प्रचलन पृथक जातियों के रूप में हो चुका था। कर्मकाण्ड धर्म के मुख्य अंग बन चुके थे और ब्राह्मणों ने इसे और जटिल तथा आडंबर पूर्ण बना दिया था। यज्ञ एवं कर्म की जटिलता से मुक्ति पाने के लिये जनता आतुर थी। फिर गौतम बुद्ध के आगमन से ही उन्हें मुक्ति की प्रेरणा मिली।

सिद्धार्थ गौतम का जन्म 563 ई. पू. में हुआ था। इनके पिता का नाम शुद्धोधन था और वे कपिलवस्तु के राजा क्षत्रिय थे। कपिलवस्तु शाक्यों का एक छोटा–सा अभिजात्यवर्गीय राज्य था। शाक्यों का अर्थ होता है – सर्वशक्तिमान। बुद्ध की माता माया भी शाक्य देश की थी। प्रारंभ से ही सिद्धार्थ चिंतनशील और कुछ विरक्त रहते थे। अपने बेटे के गृहत्याग के डर ने उनके पिता ने चिंता से व्याकुल होकर यशोधरा नामक स्त्री से उनका विवाह करा दिया। लेकिन सिद्धार्थ की विचारशील प्रवृत्ति को समृद्ध कुल का विलासितापूर्ण जीवन भी नहीं बदल सका। ध्यानमग्न एवं चिंतनशील गौतम के लिए गृहस्थ जीवन में कोई आकर्षण नहीं था। इसलिए उन्होंने जीवन के बाह्य सौंदर्य से ऊब कर 29 वर्ष की अवस्था में गृहत्याग दिया और एक अँधेरी रात में गृहहीन और अकिंचन पथिक बनकर निकल पड़े। उनके गृह त्याग करने का वास्तविक उद्देश्य था ज्ञान प्राप्त करना। सिद्धार्थ ने जो गृह त्याग किया, वह भारतीय परंपरा के अनुकूल ही था। चूँकि प्राचीन काल से ही प्रथा चली आ रही है कि चिंतनशील व्यक्ति चिंतन और ज्ञान वृद्धि के लिए एकांत स्थान में जाया करते थे। सिद्धार्थ ने भी इस परंपरा का निर्वाह किया। फिर आलारकलाम नामक आचार्य ने सिद्धार्थ को योग की विधियां बताईं, परंतु उसके बाद भी सिद्धार्थ की जिज्ञासा बनी रही। आलार से तर्क–वितर्क के बाद भी सिद्धार्थ को निर्वाण की झाँकी नहीं मिल सकी। फिर राजगृह के रामपुत्र से मिलने के बाद भी सिद्धार्थ को संतोष नहीं हुआ। इन दोनों आचार्यों से असंतुष्ट सिद्धार्थ पाँच विधार्थियों को साथ लेकर आगे बढ़ गये। निरंजना नदी के किनारे उरुवेला नामक स्थान में सिद्धार्थ ने छह वर्षों तक घोर तप किया, फिर भी उन्हें ज्ञान प्राप्ति नहीं हुई। अंत में वे बोधगया में पीपल के वृक्ष के नीचे ज्ञान–प्राप्ति के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होकर बैठ गए। उस समय से ही उन्हें बोधिवृक्ष कहा जाने लगा है। वहीं उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और सिद्धार्थ गौतम 'बुद्ध' हो गये।

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर गौतम बुद्ध को अपना प्रेरणा स्रोत मानते हैं और उनका मानना है कि – "बुद्ध ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जन्म व जाति पर आधारित सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध अहिंसात्मक क्रांति का आह्वान किया। उन्होंने ईश्वर, आत्मा, कर्म व पुनर्जन्म पर आधारित हिन्दू सामाजिक दर्शन को पूर्णतः नकार दिया।"[10]

महात्मा गौतम बुद्ध ने सर्वप्रथम 'कर्म की प्रधानता' पर बल देते हुए वर्णव्यवस्था का विरोध साफ–साफ शब्दों में किया है –

"न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मना वसलो होति, कम्मना होति ब्राह्मणो।।"[11]

अर्थात् बुद्ध ने यहाँ कर्म पर बल देते हुए कहा है कि जन्म से न कोई शूद्र होता है, न जन्म से कोई ब्राह्मण, कर्म से ही शूद्र होता है और कर्म से ही ब्राह्मण।

देवेन्द्र कुमार बैसन्तरी भी महात्मा बुद्ध को विश्व के प्रथम सामाजिक क्रान्तिकारी के रूप में स्वीकारते हैं और लिखते हैं कि – "महात्मा बुद्ध ने अनेक साहसिक और क्रान्तिकारी कदम उठाये। उन्होंने वेदों की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को आदर्श सामाजिक व्यवस्था मानने से इन्कार कर दिया। ब्राह्मण धर्म के चार वर्णों – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में तीन ऊपरी वर्णों को ही ज्ञान प्राप्ति का अधिकार था। शूद्रों, सभी चारों वर्णों की स्त्रियों और अछूतों को कतई नहीं। यही नहीं इन्हें यानी शूद्रों, स्त्रियों तथा अछूतों को चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास में से केवल गृहस्थ आश्रम में ही प्रवेश करने का अधिकार था अन्य में नहीं। भगवान बुद्ध ने इस व्यवस्था को ठुकरा कर सभी को समान अधिकार व अवसर दिये। समानता के अधिकार स्थापित करने के लिए बुद्ध ने कई और कदम उठाये। अपने भिक्खु संघ में उन्होंने जाति और सामाजिक स्तर को कोई स्थान नहीं दिया। उन्होंने बताया कि सभी अपने कर्मों द्वारा ही बड़े छोटे बनते हैं।"[12]

अतः कह सकते हैं कि वर्णवादी व जातिवादी व्यवस्था ही दलित के शोषण–उत्पीड़न का प्रमुख आधार है। इसलिए प्रथमतः और अंततः इसका विरोध होना ही चाहिए। समय–समय पर इस व्यवस्था का विरोध होता भी रहा है।

सर्वप्रथम जातिवादी एवं वर्णवादी व्यवस्था का तीखा विरोध गौतम बुद्ध ने किया, जिसने एक सामाजिक आंदोलन का भी रूप ले लिया था। बुद्ध के सामाजिक दर्शन का आधार मूलतः सामाजिक समानता और स्वतंत्रता पर आधारित था। उन्होंने जहाँ विचार में तर्क, बुद्धि और अनुभव को महत्त्व दिया, वहीं व्यवहार में करुणा, प्रेम व कर्म की प्रधानता पर बल दिया। आगे चल कर सिद्धों और नाथों ने भी हिन्दू धर्म में व्याप्त आडंबर और जाति–व्यवस्था पर चोट करके गौतम बुद्ध का ही अनुसरण किया। चूँकि सिद्ध और नाथ भी बुद्ध की परंपरा के ही वाहक हैं। सिद्धों में सरहपाद ने और नाथों में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ ने भी हिन्दू धर्म में व्याप्त ऊँच–नीच, छुआछूत और धार्मिक विश्वास का खंडन करने के साथ–साथ वर्ण–व्यवस्था पर भी चोट की। लेकिन इन सब विरोधों के बावजूद ये कवि जहाँ एक ओर जाति का विरोध कर रहे थे वहीं स्त्री के प्रति असहिष्णुता भी दिखा रहे थे और ब्राह्मणवादी मान्यताओं के साथ खड़े थे। यह उनके क्रियाकलापों का विरोधाभास था जिसके कारण वे जाति के प्रश्नों को उतनी शिद्दत से नहीं उठा पाए, उसी आध्यात्मिक दायरे में फंस कर रह गए तथा किसी बड़े परिवर्तन की भूमिका तैयार करने में सफल नहीं हो सके, इसलिए उन्हें दलित अस्मिता के महानायकों में नहीं गिना जा सकता।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का मानना है कि – "सिद्धों और नाथों ने पुरोहितवाद और कर्मकांड का विरोध किया है। नाथ संप्रदाय राजनीतिक परिस्थितियों से भी संतुष्ट नहीं थे। गोरखनाथ के शिष्य काफिर बोध में मुसलमानों के अत्याचारों का विरोध करते हैं। इस कारण उन्हें दलित परंपरा से नहीं जोड़ा जा सकता।"[13]

जब हम नाथों और सिद्धों के पश्चात् संत साहित्य पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि मध्यकाल के देशव्यापी संत आंदोलन की प्रमुख विशेषता ऊँच–नीच के भेदभाव का विरोध और मनुष्य की समानता की घोषणा मानी जाती है। मध्यकाल में कबीरदास और रविदास जैसे संतों ने इस धारा में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। शताब्दियों से चली आई धार्मिक गैर–बराबरी की व्यवस्था को पहली बार निर्गुणी संतों ने अपने लेखन के माध्यम से सामाजिक धरातल पर चुनौती दी थी कि भगवान किसी मंदिर में कैद पत्थर की मूर्ति नहीं है और न वह किसी जाति विशेष की बपौती कहा जा सकता है। इन्होंने न केवल धर्मों पर आघात किया बल्कि पाखण्ड और कुरीतियां फैलाने

वाले मुल्ला और पण्डितों को लताड़ा भी। अतः सभी निर्गुणी संत इस वर्णवादी व्यवस्था का विरोध कर रहे थे। संत कबीरदास ने एक जागरूक विचारक तथा निपुण समाज सुधारक के रूप में तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराइयों जैसे जाति–भेद सबसे अधिक दुखदायक थी उन सभी पर प्रहार किया। भारतीय चिंतन धारा में समानता की स्थापना करने वाले कबीर ऐसे महानायक थे, जिन्होंने शास्त्र के नाम पर प्रचलित भेदभाव की रूढ़ियों का खण्डन किया और स्पष्ट उद्घोषणा की –

"एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाँम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उत्पनाँ, कौन बाँम्हन कौन सूदा।।"[14]

दलित आलोचक डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का कहना है कि – "सिद्धों और नाथों की परंपरा को भक्तिकाल में उत्कृष्ट स्थान दिलाने का श्रेय कबीरदास को जाता है। निर्गुण पंथियों में अधिकांश वर्ण–व्यवस्था के सताए हुए लोग ही थे। अतः उनका विरोध भी ब्राह्मणवाद और उनके वैदिक कर्मकांड से था, जिसे वे नेस्तनाबूद करना चाहते थे। कबीर तो इस व्यवस्था से इतने पीड़ित हो गए थे कि वह दूसरा विकल्प ढूँढ रहे थे।"[15]

अतः कह सकते हैं कि निर्गुण भक्त कवियों में कबीर भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उन्होंने वर्णव्यवस्था और जाति–भेद को समाप्त करने के लिए सवाल जरूर खड़े किये, जो उस युग की विषम परिस्थितियों में भी बहुत मारक रहे होंगे, लेकिन प्रश्न यही है कि उसका प्रभाव समाज में किस रूप में पड़ा। यानी साहित्य में मौजूद जातिवादी मानसिकता कबीर जैसे कवि को जातीय घेरे से बाहर नहीं आने देती है। कबीर तीखा प्रहार करते हुए कहते हैं कि –

"जे तूँ बाँभन बभनी जाया, तो आँन बाँट ह्वै काहे न आया।
जे तूँ तुरक तुरकनी जाया, तौ भीतरि खतनाँ क्यूँ न कराया।।"[16]

कबीरदास के पश्चात् संत रविदास भारतीय इतिहास में घटी एक ऐसी घटना का नाम है जिसने अपने बचपन से लेकर जीवन पर्यन्त जातिवाद व कुरीतियों के खिलाफ एक शूरवीर की भांति संघर्ष किया और जातिवाद, छुआछूत सहित समाज की कुप्रथाओं को जड़ से उखाड़ फेंकने को अपना ध्येय बनाया। संत रविदास ने इस व्यवस्था के मूल

को समझकर, उस पर करारी चोट भी की जो व्यक्ति को जन्म लेते ही उच्च और निम्न बनाती है –

"रविदास जन्म के कारनै, होत न कोउ नीच।
नर कूं नीच करि डारि है, ओछे करम की कीच।।"[17]

आगे चलकर वे ऊँच–नीच के भेदभाव को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सिर्फ ऊँचे कुल में जन्म लेने से कोई ऊँचा या नीचा नहीं बन जाता। मनुष्य को ऊँचा या नीचा उसके कर्म बनाते हैं –

"रविदास इक ही नूर ते, जिमि उपज्यो संसार।
ऊंच नीच किह विध भये, ब्राह्मण अरु चमार।।"[18]

अर्थात् जाति–पांति का भेदभाव भारतीय समाज का एक कोढ़ है, एक भयंकर अभिशाप है, जिससे मुक्ति पाए बिना समाज का सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक विकास हो ही नहीं सकता। इसलिए संत रविदास जन्मना के कल्पित आधारों पर खड़ी वर्णव्यवस्था और वर्गगत श्रेष्ठता के मिथ्या दंभ पर बराबर चोट करते हुए कर्म की प्रधानता, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व पर बल देते हैं।

इसके अतिरिक्त पीपा, नंदनार, चोखामेला, संत दादू, घासीराम, मलूकदास आदि संत कवियों ने भी अपनी वाणी द्वारा सारे देश में जाति–पांति को मनुष्यकृत बंधन बताकर तथा ईश्वर के दरबार में सबकी बराबरी सिद्ध कर, दलित जातियों का मनोबल बढ़ाने का कार्य किया।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' लिखते हैं कि – "मध्यकाल में रैदास सहित अनेक संतों ने वर्ण, वर्ग और समाज में व्याप्त भेदभाव के खिलाफ लिखा। पर जिस अस्पृश्यता के खिलाफ दलित संतों ने समाज और साहित्य में चेतना का बिगुल बजाया, उसका असर तो आजादी मिलने के इतने दशकों बाद भी नहीं दिखता। आज भी दलितों के घरों में सहभोजन का आयोजन कर दिखाया जाता है कि देखो हमने छुआछूत खत्म कर दी। जबकि समाज में भेदभाव कम नहीं हो रहे हैं।"[19]

यहाँ डॉ. श्यौराज चिंतित दिखाई पड़ते हैं कि मध्य युग के संत निर्भीक, स्पष्टवादी, साहसी, समानता की बात करने वाले तथा सत्यवादी थे। इसलिए सभी ने

कहीं–न–कहीं छुआछूत, जाति–पांति का विरोध तो किया और मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम की भी बात की। लेकिन यह योगदान वर्तमान जैसा नहीं है। अतः संत साहित्य में जो जाति–विरोध दिखाई पड़ता है, उसका स्वर काफी धीमा है, जिसकी अपनी सीमाएं हैं।

इसके पश्चात् दलित साहित्य के आधुनिक युग में दलित मुक्ति की अवधारणा की मुखरता व स्पष्टता सबसे ज्यादा है। चूंकि अंग्रेजों के आने के बाद भारतीय नवजागरण ने भारतीय समाज की जड़ता को तोड़ने का काम किया और लोग शिक्षा प्राप्त करने के लिए जागरूक भी हुए। परिणामस्वरूप महात्मा ज्योतिबा फुले, स्वामी अछूतानन्द, पेरियार, डॉ. अम्बेडकर, मा. कांशीराम आदि के कुशल नेतृत्व ने दलितों में दासता से मुक्ति और सम्मान की चाह को विकसित किया, जिनसे ज्यादातर सभी दलित साहित्यकार प्रेरणा लेते हैं।

आधुनिक युग में दलित अस्मिता के महानायकों में महात्मा ज्योतिबा फुले का नाम अग्रणी है। उन्हें दलितों के इतिहास व आंदोलन में एक महान शिक्षाविद्, सामाजिक सुधारों के पुरोधा, अस्पृश्यता और जाति–भेद को मिटाने वाले एक महान बली और इससे भी बढ़कर युग परिवर्तनकारी व सर्व जनों में ज्ञान की किरणों को बिखेरने और आत्मसम्मान की भावना भरने वाले व्यक्ति के रूप में जाना जाता है।

बाबा साहब अम्बेडकर भी महात्मा फुले के विषय में लिखते हैं कि – "महात्मा फुले के शिक्षा प्रसार के कार्य से ही अछूतों को मनुष्यता का अहसास हुआ। आज तक जिनको अवतारी पुरुष माना जाता रहा, उन सभी ने छुआछूत को बनाये रखने का प्रयास किया, बल्कि यह कहना उचित होगा कि उन्होंने इसे बढ़ाने की चेष्टा ही की। छुआछूत को दफनाने का प्रयास करने वाला एक ही महापुरुष हुआ है – महात्मा ज्योतिबा फुले।"[20]

ज्योतिबा फुले ने अपने जीवन में साहित्य सृजन भी किया, उन्होंने सन् 1855 में **'तृतीय रत्न'** नामक नाटक लिखा, सन् 1865 में **'जाति भेद विवेक सार'** शीर्षक ग्रंथ के दूसरे संस्करण का प्रकाशन, सन् 1869 में **'शिवाजी महाराज के पंवाडे'** की रचना तथा **'ब्राह्मणों की चालाकी'** और सन् 1873 में **'गुलामगिरी'** शीर्षक ग्रंथ की रचना की। उनके

द्वारा रचित साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन करना न होकर, लोगों की वैचारिक जाग्रति के लिए शूद्र और अछूत वर्ग में सामाजिक परिवर्तन की चेतना जागृत करना था।

महात्मा फुले 'तृतीय रत्न' नामक नाटक में शिक्षा के माध्यम से तमाम शूद्र–अतिशूद्र जातियों को वर्गीय रूप से संगठित होने का संदेश देते हैं। 'गुलामगिरी' नामक कृति में ज्योतिबा फुले ने लिखा है पेशवाई राज्य में अछूतों को कमर में झाड़ू और गले में हांडी बांध कर चलना पड़ता था। उनके गले में हांडी इसलिए बांधी जाती थी ताकि वे रास्ते में थूक न पाएं और कमर में झाड़ू इसलिए बांधी जाती थी ताकि जब अछूत चलें तो रास्ते से पैरों के निशान मिटने के साथ–साथ सफाई भी होती जाए।

इसलिए महात्मा फुले 'गुलामगिरी' में दलितों का आह्वान करते हुए लिखते हैं कि – "सैंकड़ों साल से आज तक शूदाद्रि–अतिशूद्र (अछूत) समाज, जब से इस देश में ब्राह्मणों की सत्ता कायम हुई तब से लगातार जुल्म और शोषण के शिकार हैं। ये लोग हर तरह की यातनाओं और कठिनाइयों में अपने दिन गुजार रहे हैं। इसलिए इन लोगों को इन बातों की ओर ध्यान देना चाहिए और गंभीरता से सोचना चाहिए। ये लोग अपने–आपको ब्राह्मण–पंडा–पुरोहितों की जुल्म–ज्यादतियों से कैसे मुक्त कर सकते हैं, यही आज हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल है।"[21]

इसके अतिरिक्त ज्योतिबा फुले ने महिलाओं और श्रमिकों के लिए शिक्षा का कार्य तो किया ही, इसके साथ ही उन्होंने किसानों, मजदूरों और श्रमिकों की समस्याओं को सुलझाने के साथ–साथ विधवा–विवाह का समर्थन और सती प्रथा का विरोध भी किया था, यह उस समय की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता थी।

महाराष्ट्र के राजनीतिक चिंतक ऋषि मामा परमानंद ने फुले की प्रशंसा में लिखा है कि – "एक साधारण स्थिति के सामाजिक कार्यकर्ता और गृहस्थ मराठा व्यक्ति ने अपनी पत्नी को शिक्षित बनाकर ब्राह्मणों के गढ़ पूना में दलित स्त्रियों–बालिकाओं के साथ–साथ ब्राह्मण स्त्रियों को शिक्षा–मंत्र देकर नारी जाति के उन्नयन का महान कार्य किया है। यह निश्चय उनकी चारित्रिक दृढ़ता, लोकप्रियता और सामाजिक संघर्ष के लिए एक धुन का प्रतीक है, अछूतों के लिए उस युग में कट्टर लोगों के बीच ज्ञान की ज्योति जलाना शेर की मांद में घुसकर उसकी खाल उतारने के बराबर है।"[22]

निःसंदेह गौतम बुद्ध, संत कबीर व रविदास के बाद, ज्योतिबा फुले ही ऐसे युग–पुरुष थे जिन्होंने अपने शैक्षणिक कार्यों और सत्यशोधक समाज के माध्यम से दलित–पिछड़े समाज की मुक्ति के लिये संघर्ष किया और अगुआई की। उन्होंने मानसिक रूप से मंद और आर्थिक रूप से पंगु बना दिए गये समाज में क्रांति का बीज बोया।

दलित अस्मिता के महानायकों में स्वामी अछूतानन्द भी एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व हैं। वे 'हरिहर' उपनाम से कविताएँ लिखते थे। स्वामी अछूतानंद भी रविदास और कबीर की परंपरा को ही आगे बढ़ाते हैं। वे आदि हिन्दू आंदोलन के प्रवर्तक, कवि, नाटककार, पत्रकार तथा संपादक थे। उन्होंने सन् 1925 में **'आदि हिन्दू पाक्षिक'** तथा सन् 1929 में **'अछूत'** मासिक पत्र का प्रकाशन किया। ये पत्र दलितों पर होने वाले अत्याचारों की खबरें तो छापता था और साथ ही दलितों को उनके इतिहास से परिचित कराकर उनमें स्वाभिमान भी पैदा करता था।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' स्वामी अछूतानन्द को हिन्दी दलित साहित्य के आधार स्तंभ के रूप में स्वीकारते हैं – "स्वामी अछूतानन्द न तो अवतार थे और न किसी दैवी शक्ति सम्पन्न थे। वे इसी दुनिया के यथार्थ से उपजे विवेकी पुरुष थे और वे एक सजग कार्यकर्त्ता, प्रखर वक्ता, कवि और चिंतक थे। यह दुखद है कि अकादमिक क्षेत्र में अध्ययन की दृष्टि से भी अछूतानन्द पर अध्ययन विषय को सचेतन रूप से अछूत रखा गया है। वे तर्कशील, प्रज्ञासम्पन्न और विद्वान संत थे। कपड़े रंगकर मुफ्त की रोटी तोड़ने वाले साधुओं जैसे हिन्दू नहीं थे वे। जिन शंकराचार्यों से डॉ. धर्मवीर (पहला खत में) अपनी दार्शनिक दुश्मनी बताते हैं, स्वामी अछूतानन्द ने उनसे प्रत्यक्ष शास्त्रार्थ किए। उनकी सशर्त उपाधियां शास्त्रार्थो में जीती थीं। उन्होंने अपने लिए जनता से धन ठग कर या मांग कर कोई मठ, मन्दिर खड़े नहीं किए। यही कारण है कि संतों की परंपरा में भी वे निराले हैं। उनकी चिंता थी कि 'यदि हमने कष्ट उठा कर अछूत समाज को जागृत नहीं किया, तो आने वाली पीढियां सामाजिक गुलामी के सदियों से जारी कपटतंत्र से मुक्त नहीं हो पाएंगी और इस तरह आजादी का लाभ लेने लायक पात्रता उनमें विकसित नहीं हो पाएगी।"[23]

इसलिए स्वामी अछूतानन्द की दलित आंदोलन की सक्रियता में अहम् भूमिका मानी जानी चाहिए। हिन्दी क्षेत्र में कथित सवर्णों द्वारा रचित हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वामी अछूतानन्द को अछूता ही रखा गया जबकि स्वामी अछूतानन्द दलित अस्मिता के महत्त्वपूर्ण महानायक में से एक हैं, जिन्होंने अछूतों के लिए महत्त्वपूर्ण काम किये।

जब डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने हंस (दलित विशेषांक) अगस्त 2004 का अतिथि संपादक का कार्य–भार संभाला, तब इस पत्रिका में उन्होंने पहली बार स्वामी अछूतानन्द की कविताएं प्रकाशित कराई। इसके अतिरिक्त लेखक श्यौराज ने 26 जनवरी, 1999 को दैनिक हिन्दुस्तान में **'हिन्दी दलित साहित्य के आधार स्तम्भ स्वामी अछूतानन्द'** शीर्षक से बहुत ही सारगर्भित लेख लिखा, जिससे पता चलता है कि डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' स्वामी अछूतानन्द को दलित अस्मिता के महानायकों में स्थान देते हैं और उनके विचारों, आंदोलनों व लेखन से प्रेरणा ग्रहण कर स्वानुभूति परक रचना करते हैं।

दक्षिण में ई. वी. रामास्वामी नायकर 'पेरियार' ने भी ब्राह्मणवाद, हिन्दूवादी व जाति–भेद का सख्त विरोध किया। उन्होंने बचपन में ही वैदिक साहित्य का अध्ययन करके शास्त्रों में वर्णित दलित विरोधी आलेखों को पूरे दक्षिण भारत में उजागर किया और सदियों से दासता और अस्पृश्यता से प्रताड़ित लोगों में चेतना का संचार किया। धीरे–धीरे उनका समाज सुधार आंदोलन दलितों में नई चेतना व जागृति का संदेश बन कर उभरा और दलित अंधेरे से निकल कर आत्मसम्मान और प्रगति के रास्ते पर चल पड़े। यह भी दलितों में नई सामाजिक क्रांति का संदेश था।

यह कहा जा सकता है कि महानायकों का जीवन प्रायः विषम परिस्थितियों से जूझते हुए ही सामाजिक क्रांति के लिए प्रतिबद्ध होता है। वैसे ही परिवेश में डॉ. बी. आर. अम्बेडकर का भी जन्म हुआ था। उन्हें भी स्कूल में सवर्ण अध्यापकों के द्वारा जाति के आधार पर प्रताड़ित किया गया। पर फर्क इतना था कि उनके पिता फौजी अधिकारी थे और ऐसे अनुशासनबद्ध परिवेश में उनका लालन–पालन हुआ। इसीलिए उन्होंने जितना घर से सीखा, उतना ही बाहर से।

जब हम डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के व्यक्तित्व पर विचार करते हैं तो उनका व्यक्तित्व बहुआयामी दिखलाई पड़ता है। हजारों वर्षों से शोषित–पीड़ित, दलित–अछूत

शासक–शोषक, परंपरावादियों के जघन्य एवं अमानवीय शोषण, दमन, अन्याय के विरुद्ध छोटे–मोटे संघर्ष को संगठित रूप देने का कार्य सर्वप्रथम अद्‌भुत प्रतिभा, सराहनीय निष्ठा, न्यायशीलता, स्पष्टवादिता के धनी बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर ने किया। वे दलितों एवं शोषितों के मसीहा बनकर भारतीय समाज में अवतरित हुए। उन्होंने दीन–हीन दलित, पिछड़ों एवं स्त्रियों को समाज में सर ऊँचा कर बराबरी के साथ चलना सिखाया। परंपरावादी, ब्राह्मणवादी व सामंतवादी व्यवस्था ने दलितों व अछूतों को इंसान जैसी शक्ल–सूरत होने के बावजूद इंसान नहीं समझा था, ऐसे समाज के प्रति बाबा साहब ने अस्तित्व, अस्मिता के लिए क्रांति की, जिससे सामाजिक न्याय प्राप्ति के लिए अनेक दलित–शोषित कार्यकर्त्ता आत्मबलिदान के लिये उनके साथ खड़े हो गये।

बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर ने दलित आंदोलनों की शुरुआत समाज सुधार कार्यक्रमों से की, जिसमें 20 मार्च, 1927 में **चवदार (महाड) सत्याग्रह**, **मनुस्मृति का दहन**, 2 मार्च 1930 से **कालाराम मंदिर सत्याग्रह** आदि प्रमुख थे। परंतु शीघ्र ही उन्होंने हिन्दू समाज के दलितों के प्रति व्याप्त असहिष्णुता की पहचान कर सामाजिक आंदोलनों को पीछे रख कर दलितोत्थान के लिए दूसरा रास्ता अपनाया। इसी रास्ते का पहला पड़ाव दलितों के लिए पृथक राजनैतिक अधिकार प्राप्त करना था, जिसके लिए बाबा साहब ने 1930 में लंदन में आयोजित गोलमेज सम्मेलन में दलितों हेतु पृथक निर्वाचन के अधिकार की मांग की। इसी पृथक निर्वाचन को लेकर बाबा साहब ने गाँधी जी से लोहा लिया। क्योंकि गाँधी जी दलितों के पृथक निर्वाचन के समर्थन में नहीं थे। इसके पश्चात् डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के पृथक राजनैतिक अधिकारों हेतु 1936 में पहले **'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी'** का गठन किया। इस राजनैतिक संस्था ने दलितों, मजदूरों व किसानों की समस्याओं को लेकर काम किया। फिर इसके माध्यम से चुनाव भी लड़ा गया। संभवतः यह दलितों का एक पृथक आत्मनिर्भर राजनैतिक दल था, उसके पश्चात् 7 अगस्त, 1942 को डॉ. अम्बेडकर को गवर्नर जनरल की काउंसलिंग का सदस्य चुन लिया गया तथा इसके पश्चात् बाबा साहब ने सन् 1942 में **'ऑल इंडिया शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन'** का गठन किया, जिसका एकमात्र लक्ष्य था दलितों को अखिल भारतीय स्तर पर संगठित कर के उन्हें पृथक राजनैतिक अस्मिता प्रदान की जाए। परंतु इस

लक्ष्य को भी कांग्रेस ने सत्ता के बल पर दलितों को अपने साथ कर सफल नहीं होने दिया।

बाबा साहब ने इन उपरोक्त कार्यक्रमों के माध्यम से दलितों में राजनैतिक सत्ता के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन लाने के बीज बोये। क्योंकि उनका मानना था कि राजनीतिक सत्ता वह कुंजी है जिससे सामाजिक प्रगति के समस्त ताले खोले जा सकते हैं। वैश्विक समस्याओं के प्रति भी उनकी दृष्टि थी जिसकी परिणति यह हुई कि जब भारत के लिए संविधान निर्मित होने का प्रश्न आया तो ड्रॉफटिंग समिति के अध्यक्ष के रूप में उनसे बेहतर कोई और नाम सामने नहीं आ सका। तब उन्होंने भारतीय संविधान निर्माण के चुनौती पूर्ण कार्य को बखूबी निभाया। भारतीय संविधान के अंतर्गत बाबा साहब ने दलितों के इन राजनैतिक अधिकारों को और भी अधिक बल प्रदान किया। स्वतंत्रता के बाद लोकतांत्रिक संविधान के तहत इन दलितों के अधिकारों को लागू किया जाना था किंतु 6 दिसंबर, 1956 को बाबा साहब के निधन के कारण आत्मनिर्भर दलित राजनीति डगमगा गई और कांग्रेस पर निर्भर दलित नेतृत्व ने दलित आंदोलन की पृथक अस्मिता व अस्तित्व को खंडित कर दिया।

यह सच है कि भारत विभाजन पर जितनी गहराई से डॉ. अम्बेडकर ने सोचा, उतना शायद ही किसी ने सोचा हो। वे समाजवाद से तो लगातार मुठभेड़ करते रहे, इसके साथ ही रुपये की समस्या पर भी उन्होंने लंबे–लंबे लेख लिखे एवं वक्तव्य दिये। वे एक ऐसे भारत की कल्पना करते थे जिसमें सभी को न्याय मिलने के साथ–साथ समता, स्वतंत्रता व बंधुत्व का भाव व्याप्त हो। इस बात को हमें बड़े दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि आज हमारे दलित लेखन या नेतृत्व की सीमा बाबा साहब को दलित प्रश्नों की रेखा से आगे नहीं ले जाना चाहती और बाबा साहब की सोच को वे केवल अपने ही आवरण में सीमाबद्ध कर लेना चाहते हैं। जबकि बाबा साहब को समाजशास्त्री, संविधान–शिल्पी, दर्शनशास्त्री, अर्थशास्त्री व कानूनविद् के रूप में जाना जाता है। क्योंकि उन्होंने दलितों, पिछड़ों, स्त्रियों आदि सभी में चेतना व अस्मिता जगाने के साथ–साथ उनको मानवाधिकार दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस प्रकार आजादी से पूर्व व पश्चात् दलित अस्मिता के महानायकों में एक सच्चे वाहक के रूप में डॉ. अम्बेडकर का नाम सामने आता है। चूँकि आधुनिक युग में भारतीय हिन्दू वर्णवादी व जातिवादी और सामंतवादी व्यवस्था को दलित समाज की ओर से पहली बार वैचारिक चुनौती देने का कारगार बौद्धिक एवं क्रियात्मक साहस डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने ही किया। डॉ. अम्बेडकर ने स्वयं **'मी कसा झालो ?'** यानी 'मैं कैसे बना ?' लिखा, जिसमें उन्होंने अपने साथ घटी पल–पल की घटनाओं व दुर्घटनाओं को अभिव्यक्त करने के साथ–साथ जीवन में उन्होंने कितनी बार तिरस्कार झेला, उसका भी विवरण दिया है। फिर भी वे आत्मसम्मान के लिए बराबर संघर्ष करते रहे, इस तरह की तमाम मुसीबतों को झेलते हुए उन्होंने सामजिक न्याय का दृष्टिकोण दलितों के सामने रखा और उन्हें संघर्ष करने तथा अपने आप से सवाल–जवाब करना सिखाया। इस प्रकार उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन दलित व पिछड़े समाज की मुक्ति में लगा दिया। डॉ. अम्बेडकर ने अपने जीवन काल में निम्नलिखित पुस्तकें लिखीं –

- दी अनटचेबल्स, हू आर दे ? एण्ड व्हाई दे बीकेम अनटचेबल्स ?
- हू वर दी शूद्राज ? हाऊ दे केम टू बी दी फोर्थ वर्णा इन दी इंडो आर्यन सोसाइटी ?
- बुद्धा एण्ड हिज धम्मा
- व्हट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव इन टू दी अनटचेबल्स
- पाकिस्तान एण्ड पार्टिशन ऑफ इंडिया
- स्टेट्स एण्ड माइनरटीज
- महाराष्ट्रा एज ए लिंग्युस्टिक प्रोविन्स
- थॉट्स आन लिंग्युस्टिक स्टेट्स
- दी प्रोब्लम ऑफ रुपी : इट्स ओरीजिन एण्ड इट्स सॉल्यूशन
- दी इवोल्यूशन ऑफ प्रोविंशियल फायनेंस इन ब्रिटिश इंडिया
- दी राइज एण्ड फॉल ऑफ दी हिन्दू वी मैन
- इमैनीसिपेशन ऑफ दी अनटचेबल्स।[24]

डॉ. अम्बेडकर के उपर्युक्त साहित्य का भिन्न–भिन्न भाषाओं में अनुवाद हुआ और इस साहित्य ने दलितों में चेतना का प्रचार–प्रसार भी किया। इसके अतिरिक्त कम साधनों में रहते हुए सन् 1920 से समाचार–पत्रों का संपादन कार्य भी आरंभ किया, जिनमें **'मूकनायक'** और **'बहिष्कृत भारत'** का सर्वप्रथम प्रकाशन कार्य हुआ। उसके बाद **'समता'**, **'जनता'** और **'प्रबुद्ध भारत'** नामक पत्रों का संपादन कार्य भी बाबा साहब ने ही किया। उन्होंने इन समाचार–पत्रों के माध्यम से दलितों और बहिष्कृतों की तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को उजागर किया और उनकी दयनीय दशा ने उन्हें सामाजिक विसंगतियों पर क्षोभ व्यक्त करने तथा सवर्णों के अन्याय और शोषण का निर्भीकता से विरोध करने के लिए प्रेरित किया।

मेरे द्वारा लिए गए साक्षात्कार में हुई बातचीत के दौरान डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' बताते हैं कि वे बाबा साहब से बहुत प्रभावित हैं, बाबा साहब की जन्म शताब्दी 1990 के कालखण्ड के बाद से ही उनके लिखने–सोचने की गति बढ़ गई थी, तभी से वे दलित साहित्य लेखन में योगदान करने को बेचैन हो उठे थे। उसके बाद 14 अप्रैल, 1990 को दैनिक अमर उजाला के सभी संस्करणों में संपादकीय पृष्ठ पर उनका एक बड़ा–सा लेख छपा था, उसमें बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर की बहुत ही प्रभावशाली तस्वीर भी छपी थी। तब उनके मन में द्वंद्व यह चल रहा था कि तमाम राजनैतिक पार्टियाँ बाबा साहब का गुणगान तो कर रही हैं परंतु दलितों के अधिकारों की बात नहीं कर रही हैं, दलितों का उत्पीड़न अंग्रेजों के उत्पीड़न से भी ज्यादा कर रहे हैं। इसलिए उन्होंने अपने लेखन का रुख दलित साहित्य की ओर किया। फिर उन्होंने बाबा साहब पर अनेकों कविताएं व लेख लिखे। वे हिन्दी के ऐसे पहले शोधार्थी रहे हैं जिन्होंने **"हिन्दी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अम्बेडकर का प्रभाव"** नामक शीर्षक से पीएच.डी. का शोध किया था और साथ ही डॉ. अम्बेडकर के मराठी पत्र **'मूकनायक'** और **'बहिष्कृत भारत'** आदि के हिन्दी अनुवाद कर उनकी वैचारिकी के प्रसारण में रचनात्मक योगदान दिया।

इसलिए डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' बाबा साहब को दलित अस्मिता के महानायक के रूप में अपना आदर्श स्वीकार करते हैं – "दलितों का सम्मान बाबा साहब की देन है। इसलिए हमें उनके आदर्श जीवन में उतारने चाहिए। उनके सिद्धांतों पर चल कर ही देश, समाज व दलितों की समस्याएं हल हो सकती हैं।"[25]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' बाबा साहब को अपना प्रेरणा स्रोत मानते हैं चूँकि वे अपने लेखन में अम्बेडकर वैचारिकी का प्रयोग भलीभांति करते हैं। जब बेचैन किसी भी संगोष्ठी में वक्ता के रूप में जाते हैं तो बाबा साहब को सबसे पहले याद करते हैं और श्रोताओं को बाबा साहब द्वारा किए गए कार्यों व विचारों से अवगत कराते हैं कि बाबा साहब के संपूर्ण चिंतन के केन्द्र में 'मनुष्य' है जोकि जाति, धर्म, वर्ण और लिंग से परे है। इस देश की समाज व्यवस्था ने मनुष्य को मनुष्य के रूप में कभी देखा ही नहीं, यही उनका दर्द था। इसी दर्द के निवारण के लिए उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन संघर्षों में लगा दिया। डॉ. अम्बेडकर के जीवन का एक ही लक्ष्य था कि भारतीय समाज में स्वतंत्रता, समता व बंधुत्व का भाव व्याप्त हो और ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूंजीवाद का खात्मा हो।

सन् 1956 में बाबा साहब के परिनिर्वाण के पश्चात् **'रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया'** और **'दलित पैंथर'** आंदोलन अस्तित्व में आए। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया स्वतंत्र भारत में पहली गठित पार्टी थी, जिसकी स्थापना 3 अक्टूबर, 1957 में **'ऑल इंडिया शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन'** के विस्तार से अस्तित्व में आई। बाबा साहब अम्बेडकर ने इस पार्टी की संकल्पना समानता, बंधुत्व व स्वतंत्रता के मूल्यों को बुलंद करने वाले संगठन के रूप में की थी। यह ऐसा समय था जब स्वतंत्र भारत का संविधान धीरे–धीरे दलितों की समझ में आने लगा था। हालांकि अम्बेडकर के बाद भी रिपब्लिकन पार्टी तथा कुछ अन्य पार्टियों ने दलितों को एक मजबूत नेतृत्व प्रदान किया उनके बीच कई कद्दावर नेता पैदा हुए जिन्होंने संविधान में प्राप्त अधिकारों के लिए संघर्ष भी तेज किए, लेकिन उस समय सत्ता में कांग्रेस विद्यमान थी जिसने दलित नेताओं को आकर्षित कर अपनी ओर मोड़ लिया और दलित आंदोलन को जड़ से खत्म करने का हर संभव प्रयास किया और धीरे–धीरे रिपब्लिकन पार्टी बिखर गई।

रिपब्लिकन पार्टी के फलस्वरूप 'दलित पैंथर' आंदोलन का गठन राजा ढाले और नामदेव ढसाल द्वारा किया गया जो कि दलितों का प्रतिनिधित्व करते थे, लेकिन उस समय तक देश में चमचा युग आ चुका था सभी दलित नेता कांग्रेस की ओर झुक रहे थे, ऐसे में दलित पैंथर आंदोलन भी विफल साबित हुआ।

ऐसे अंधकारमय वातावरण में दलित आंदोलन की भूमिका में मान्यवर कांशीराम का दलित राजनीति के महानायक के रूप में प्रवेश हुआ। उनका जन्म 15 मार्च, 1934 को पंजाब के रोपड़ जिले के खवासपुर गाँव के रविदासी सिक्ख परिवार में हुआ। पिता श्री हरि सिंह और माँ बिशन कौर की सात संतानों में से एक मान्यवर कांशीराम ने अपनी प्राथमिक शिक्षा खवासपुर से ही प्राप्त की। उन्होंने गवर्नमेंट कॉलेज, रोपड़ से बी. एस. सी. करने के बाद भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग में नौकरी ज्वाइन की। वर्ष 1958 में वहाँ से इस्तीफा दे कर वे पुणे में रक्षा उत्पादन विभाग के एक्सप्लोसिव रिसर्च एंड डेवलपमेंट लेबोरेटरी में अनुसंधान सहायक हुए। यहाँ पर रहते हुए उन्हें सामाजिक अन्याय के ऐसे रूपों से गुजरना पड़ा कि उनका हृदय सामाजिक परिवर्तन के लिए व्याकुल हो उठा।

दलित आलोचक डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का कहना है कि – "भारतीय राजनीति में उनका सफर पुणे की एक छोटी–सी घटना से हुआ, जहाँ वह ईआरडीएल में अनुसंधान सहायक के पद पर काम कर रहे थे यह बात 1965 के आसपास की है उन्होंने दीना भाना नामक एक वाल्मीकि कर्मचारी के लिए 14 अप्रैल को अम्बेडकर जयंती की छुट्टी के लिए मांग की। यह वजह बनी उनके सरकारी नौकरी छोड़ने और दलितों को जोड़ने वाली युगांतरकारी घटना की।"[26]

इसी घटना ने मान्यवर कांशीराम को अंदर तक हिला दिया, फिर दीना भाना को लेकर उन्होंने न्यायालय की शरण ली और विजय भी हासिल की किंतु कांशीराम की अंतरात्मा इतने से ही शांत नहीं हुई। इसी दौरान उनके एक मित्र ने उन्हें डॉ. अम्बेडकर द्वारा लिखित 'एन्निहिलेशन ऑफ कास्ट' नामक पुस्तक भेंट की और फिर इस पुस्तक को पढ़ कर वे डॉ. अम्बेडकर के विचारों से बहुत प्रभावित हुए। तभी से उन्होंने बाबा साहब द्वारा चलाये गये आंदोलनों को आगे बढ़ाने के क्षेत्र में कदम बढ़ाया। उन्होंने सार्वजानिक क्षेत्र में आने के बाद 1971 में अपने घर तथा सभी सार्वजानिक समारोहों का त्याग कर दिया। यहाँ तक कि एक बार घर त्यागने के बाद वे अपने पिता के अंतिम संस्कार में भी शामिल नहीं हुए।

स्वतंत्रता के बाद दलित आंदोलन के सबसे बड़े पुरोधा रहे मान्यवर कांशीराम ने डॉ. अम्बेडकर की लड़ाई को ही आगे बढ़ाया। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के लिए जो अधिकार संविधान में स्थापित किये मान्यवर कांशीराम ने न सिर्फ उसका दलितों का अहसास कराया बल्कि उसे संजीदगी से व्यवहारिक तौर–तरीकों में भी बदला। डॉ. विवेक कुमार लिखते हैं कि – "सामाजिक स्तर पर कांशीराम संभवतः बाबा साहब के बाद पहले ऐसे नेता थे, जिन्होंने ओबीसी (पिछड़ों), दलितों एवं अल्पसंख्यकों की एकता के लिए व्यवहारिक प्रयास किया।..... उन्होंने 'बहुजन समाज' की संकल्पना को बढ़ाया, जो भारतीय समाज में एक नया प्रयोग था।"[27]

अर्थात् कांशीराम के विचारों का केन्द्र बहुजन समाज है, बहुजन समाज अनुसूचित जाति, जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग, तथा अल्पसंख्यकों से मिलकर बना है तथा उसकी संख्या देश की आबादी की 85 प्रतिशत होने के कारण कांशीराम इसको बहुजन समाज मानते हैं।

इसी क्रम में 6 दिसंबर, 1978 को अखिल भारतीय पिछड़ा एवं अल्पसंख्यक कर्मचारी महासंघ (बामसेफ), 6 दिसंबर, 1981 को दलित शोषित समाज संघर्ष समिति (डी.एस.4) और 14 अप्रैल, 1984 को बहुजन समाज पार्टी का गठन किया।

मान्यवर कांशीराम ने '**बामसेफ**' नाम से 6 दिसंबर, 1978 को एक संगठन बनाया और उस संगठन को एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक व संरचनात्मक स्वरुप दिया। डॉ. विवेक कुमार 'बहुजन समाज पार्टी एवं संरचनात्मक परिवर्तन' नामक अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि – "बामसेफ ने दलितों में स्वतंत्र नेतृत्व को जन्म दिया जो कांग्रेस विचारधारा एवं पार्टी से अलग थी। आरंभ में बामसेफ के पास 2,00,000 सदस्य थे जिनमें 15,000 वैज्ञानिक एवं 3,000 डॉक्टर थे। बामसेफ के माध्यम से इसके संस्थापक कांशीराम ने 'पे बैक टू दी सोसाइटी' का नारा दिया, यानी जिन दलितों ने दलित समाज से लाभ लिया है, उनका कर्त्तव्य बनता है कि अगर वे इस स्थिति में पहुंच गए हैं कि वे समाज को कुछ दे सकते हैं तो अवश्य दें। बामसेफ के कारण दलित आंदोलन में पहली बार ऐसा हुआ कि दलित मध्यम वर्ग ने समाज को कुछ दिया अन्यथा दलित मध्यम वर्ग भी सवर्ण मध्यम वर्ग की भांति समाज से लेना ही जानता था, देना नहीं।"[28]

इसके पश्चात् बहुजनों से मिले समर्थन के आधार पर कांशीराम ने 6 दिसंबर, 1981 को डी.एस.4 की स्थापना की और राजनीति में कदम रखा। उनका भी मानना था कि बिना राजनैतिक सत्ता की प्राप्ति के बहुजनों का असली उद्धार नहीं कर सकते। उन्हें मालूम था कि प्रजातंत्र में वोटों का बहुत महत्त्व होता है अगर वोटों को एक ही पार्टी के लिए इकट्ठा किया जाए तो सामाजिक परिवर्तन लाया जा सकता है। इसलिए उन्होंने प्रजातंत्र में वोटों की कीमत और उसके सही प्रयोग के बारे में बहुजनों को अवगत कराया और ऐसे अनेक नारे गढ़े, जिससे जनतान्त्रिक राजनीति के प्रति उनकी प्रतिबद्धता प्रमाणित होती है। जैसे – 'वोट हमारा, राज तुम्हारा, नहीं चलेगा, नहीं चलेगा।' तथा 'वोट से लेंगे पी. एम., सी. एम. / आरक्षण से लेंगे एस. पी., डी एम.।'

इसके पश्चात् डी.एस.4 द्वारा तैयार की गई जमीन पर वर्ष 1984 में डॉ. अम्बेडकर की जन्म तिथि 14 अप्रैल, 1984 को एक राजनीतिक दल के रूप में **'बहुजन समाज पार्टी'** का गठन किया। बसपा का गठन होते ही संसदीय चुनाव लड़ा गया और सारे देश में पार्टी ने 10.05 लाख वोट हासिल किए। 1989 में संपन्न हुए लोक सभा चुनाव में बसपा के तीन सांसद (दो उत्तरप्रदेश और एक पंजाब) जीतकर सांसद में पहुँचे। यह बसपा की संसद में पहली उपस्थिति मानी जा सकती है। इस प्रकार बसपा ने भारतीय राजनीति में अपनी क्षमता को दर्ज करवाया।

इसके साथ ही 1990 के दशक में बसपा ने उत्तर प्रदेश की राजनीति में एक जोरदार दस्तक दी। इसने शुरू में समाजवादी पार्टी के साथ गठबंधन किया तथा बाद में उससे अपना समर्थन वापिस लेते हुए 3 जून, 1995 को मायावती को उत्तर प्रदेश की पहली मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई।

यहाँ डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का कथन उद्धृत किया जा सकता है – "सही मायने में कांशीराम ही अकेले ऐसे नेता थे जिन्होंने व्यवस्था बदलने के लिए जाति के समाप्त होने का इंतजार नहीं किया था। उन्होंने जातियों–उपजातियों में सहअस्तित्व और आत्मसम्मान की भावना जगाकर उन्हें सत्ता में हिस्सेदारी की महत्त्वाकांक्षा के साथ संगठित किया। समकालीन राजनीति में उनके इस योगदान ने न केवल हाशिये पर खड़े लोगों को मुख्यधारा से जोड़ा, बल्कि भविष्य की राजनीति की दिशा भी तय कर

दी। वह अकेले ऐसे नेता भी थे, जिसने अधिकार और अवसरों से वंचितों को अधिकारचेता और अवसरवादी बनने को कहा। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्हें राजनीति विरासत में नहीं मिली थी, मायावती जैसी तेजस्वी नेत्री को साथ लेकर उन्होंने ग्रास रूट से शक्ति अर्जित की।"[29]

यह उल्लेखनीय है कि डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' मान्यवर कांशीराम से बहुत अधिक प्रभावित रहे हैं। कांशीराम जी के द्वारा दिए गए नारे 'पे बैक टू दी सोसाइटी' के तहत ही वे अपना लेखन कार्य करते रहे हैं।

मान्यवर कांशीराम का मानना था कि हमें मनुवादी मीडिया पर निर्भर नहीं रहना चाहिए, हमें अपना अलग मीडिया बनाना चाहिए, अपनी बात अपने लोगों तक पहुँचाने के लिए उन्होंने इस क्षेत्र में पहल की। उन्होंने दलितों व शोषितों को जागरूक करने के लिए **'द आप्रेस्ड इंडियन'** नामक द्वैमासिक पत्रिका तथा **'बहुजन टाइम्स'** समाचार–पत्र का भी प्रकाशन किया, पर संसाधनों के अभाव में ये ज्यादा दिनों तक नहीं चल सके। इसके साथ ही उन्होंने देश के कोने–कोने में फैले बहुजन समाज को एकजुट करने हेतु हिन्दी में **'बहुजन संगठक'**, मराठी व बंगाली में **'बहुजन नायक'**, पंजाबी व कन्नड़ में **'बहुजन सन्देश'** तथा गुजराती में **'बहुजन एकता'** नामक साप्ताहिक पत्र भी निकाले। इसके अतिरिक्त उन्होंने शुरुआत में **'चमचा युग'** नामक एक पुस्तक भी लिखी।

मान्यवर कांशीराम के व्यक्तित्व, कृतित्व, विचार व आंदोलन पर विचार करने के बाद यह कहा जा सकता है कि उनके जीवन का सबसे बड़ा पक्ष यह रहा कि उन्होंने बहुजन समाज की शक्ति को संगठित कर उसे राजनैतिक समीकरण की एक अनिवार्यता बना दिया और उसे सत्ता में भागीदारी दिलाई व उनमें आत्मसम्मान व स्वाभिमान भी जगाया।

गौतम बुद्ध, संत कबीर, संत रविदास, महात्मा फुले, स्वामी अछूतानन्द, पेरियार, डॉ. अम्बेडकर व मान्यवर कांशीराम नामक सभी दलित अस्मिता के महानायकों के व्यक्तित्व, कृतित्व, विचार व आंदोलन पर विचार करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक युग में भिन्न–भिन्न महानायक हुए, महानायकों का जीवन प्रायः विषम परिस्थितियों से जूझते हुए ही सामाजिक क्रांति के लिए प्रतिबद्ध होता है। उसी क्रांति से

दलितों, अछूतों, पिछड़ों के जीवन में सुधार लाया जा सकता है। इन्हीं महानायकों के विचारों से प्रेरणा ग्रहण कर अब दलित साहित्यकार दलित साहित्य के सृजन में लगे हैं, जिनमें से एक डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' भी हैं और अपने लेखन के लिए वे इन्हीं महानायकों के विचारों से प्रेरणा करते दिखाई पड़ते हैं।

संदर्भ सूची

1. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– गांव अब भी यातनागृह क्यों हैं ?, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार पत्र), दिल्ली, 28 मई, 2017, पृ. 10
2. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *चमार की चाय* (काव्य–संग्रह), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2017, पृ. 11
3. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *मीडियाः उत्तर आधुनिक अस्पृश्यता के दौर में*, साहित्य–संस्थान, गाजियाबाद, प्र. सं. 2010, पृ. 114
4. वही, पृ. 115
5. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2014, पृ. 9
6. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *मीडिया : उत्तर आधुनिक अस्पृश्यता के दौर में*, पृ. 69
7. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– *अफसर खा गये भारतीय रेल*, समकालीन नजरिया (साप्ताहिक समाचार–पत्र), 6 से 12 जनवरी, 1991
8. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– *दैनिक मजदूरों को बेदखल कर नई भर्ती*, अमर उजाला (दैनिक समाचार पत्र), 20 जून, 1989
9. दुबे, अभय कुमार, *आधुनिकता के आईने में दलित*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पहली आवृत्ति 2007, पृ. 195
10. अम्बेडकर, डॉ. बी. आर., *बुद्ध और उनका धम्म*, अनु. डॉ. भदंत आनंद कौशल्यायन, समता सैनिक दल, नागपुर, प्र. सं. 2003, पृ. 193
11. राम, डॉ. तुलसी, लेख– बौद्ध धर्म तथा वर्ण–व्यवस्था, *हंस* कथा मासिक (दलित विशेषांक), अगस्त 2004, पृ. 58
12. बैसन्तरी, देवेन्द्र कुमार, *भारत के सामाजिक क्रान्तिकारी*, दलित साहित्य प्रकाशन संस्था, दिल्ली, प्र. सं. 2001, पृ. 18
13. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *उत्तर सदी के हिंदी कथा–साहित्य में दलित–विमर्श*, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, प्र. सं. 2014, पृ. 14
14. दास, डॉ. श्यामसुंदर (सम्पा.), *कबीर ग्रंथावली*, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्र. सं. 1985, पृ. 82
15. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *उत्तर सदी के हिंदी कथा–साहित्य में दलित–विमर्श*, पृ. 14

16. वही, पृ. 79
17. सिंघल, डॉ. धर्मपाल (टीकाकार), *गुरु रविदास दर्पण* (श्री गुरु रविदास वाणी का टीका), अमर ज्ञान प्रकाशन, पटियाला, प्र. सं. 1996, पृ. 258
18. वही, पृ. 245
19. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– रैदास न होते तो क्या अंबेडकर होते, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार पत्र), दिल्ली, 10 जुलाई, 2016
20. बौद्ध, शांति स्वरुप, *ज्योतिबा फुले की अमर कहानी*, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ. 83
21. फुले, महात्मा ज्योतिबा, *रचनावली भाग–1*, अनु. डॉ. एल. जी. मेश्राम 'विमलकीर्ति', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2009, पृ. 135
22. चंचरीक, कन्हैयालाल, *महात्मा ज्योतिबा फुले*, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, दिल्ली, द्वि. सं. 2000, पृ. 43
23. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख – हिन्दी दलित साहित्य एक पृष्ठभूमि, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' और डॉ. देवेंद्र चौबे (सम्पा.), *चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य*, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, संस्करण 2010, पृ. 189–190
24. सिंह, डॉ. एन., *दलित साहित्य के प्रतिमान*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, आवृत्ति 2014, पृ. 86–87
25. *दैनिक जागरण* (दैनिक समाचार–पत्र), मुरादाबाद, 17–18 अप्रैल, 2013
26. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख – सत्ता में दलित (कांशीराम ने वंचितों के असंतोष को राजनीतिक धार दी), *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), दिल्ली, 15 मार्च, 2011
27. कुमार, डॉ. विवेक, *बहुजन समाज पार्टी एवं संरचनात्मक परिवर्तन*, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली, तृ. सं. 2008, पृ. 130
28. वही, पृ. 20
29. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख – सत्ता में दलित (कांशीराम ने वंचितों के असंतोष को राजनीतिक धार दी), *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), दिल्ली, 15 मार्च, 2011

तृतीय अध्याय

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताएं : संवेदना और सरोकार

3.1 प्रज्ञा, शील, करुणा, समता, स्वतंत्रता और बंधुता के प्रति निष्ठा

3.2 वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्राह्मणवाद, जाति–जुल्मों और सामंती मूल्यों के प्रति विद्रोह

3.3 सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक व शैक्षिक उपेक्षा–उत्पीड़न के प्रति विद्रोह

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताएं : संवेदना और सरोकार

'संवेदना' का अर्थ है, वह भावनात्मक धरातल, जिस पर खड़े होकर कोई रचनाकार समाज को देखता व अनुभव करता है, वही उस रचनाकार की संवेदना होती है। कौन–कौन से विषय–भाव उसकी रचना में जगह पाते हैं, इसे तय करने में किसी भी रचनाकार की संवेदना की निर्णायक भूमिका होती है। इसलिए रचनाकार और रचना के उद्देश्यों को जानने के लिए उसकी संवेदना के सूत्रों की तलाश करनी होती है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि किसी रचनाकार और व्यक्ति की संवेदना के निर्माण में उसकी विश्व दृष्टि या समाज को देखने की दृष्टि का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। विश्व विषयक समझ ही किसी भी व्यक्ति या रचनाकार को वह भावनात्मक धरातल मुहैया कराती है, जिस पर खड़े होकर वह समाज को देखता व परखता है। रचनाकार की संवेदनात्मक जमीन के निर्माण में युग–परिवेश, सामाजिक–राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

अतः कोई भी रचनाकार अपने समय व परिवेश के साथ जुड़े बिना उससे संवेदना ग्रहण नहीं कर सकता और न ही इसके बिना वह कोई रचना कर सकता है। भले ही उसकी रचना का संदर्भ बिंदु तथा देशकाल कोई भी रहा हो।

'सरोकार' शब्द का शाब्दिक अर्थ लगाव, वास्ता व प्रयोजन से है। सरोकार का अर्थ पूर्णतः लीन होने के लिए भी किया जाता है। साहित्य के स्तर पर सरोकार को जीवन–मूल्यों और चेतना के अर्थ में लिया जाता है। साहित्यिक सरोकारों को साहित्यिक मूल्यों का पर्याय भी माना जा सकता है। हमारे समाज के मूल्य और उसकी वैश्विक दृ ष्टि ही साहित्य के अंदर प्रतिबिंबित होती है। समाज में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बदलने के साथ–साथ सामाजिक चेतना में भी बदलाव आता है और उनके साथ–साथ साहित्यिक सरोकार भी बदल जाते हैं। अतः साहित्यिक सरोकारों को समाज के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। समाज का दर्शन जैसे–जैसे बदलता है साहित्य की दिशा भी बदल जाती है तथा यह भी जरूरी नहीं कि साहित्य के सरोकार सदा एक से ही रहें, वे भी समयानुसार बदलते रहते हैं।

कंवल भारती डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताओं पर विस्तृत आलोचना लिख चुके हैं। उनका कथन है कि – "दलित कविता उस तरह की कविता नहीं है, जैसे आमतौर पर कोई प्रेम या विरह में पागल होकर गुनगुनाने लगता है। यह वह कविता भी नहीं है, जो पेड़–पौधों, फूलों, नदियों, झरनों और पर्वतमालाओं की चित्रकारी में लिखी जाती है। यह किसी का शोक गीत और प्रशस्ति गान भी नहीं है। दरअसल यह वह कविता है, जिसे शोषित, पीड़ित, दलित अपने दर्द को अभिव्यक्त करने के लिए लिखता है। यह वह कविता है, जिसमें दलित कवि अपने जीवन के संघर्ष को उतारता है। यह दमन, अत्याचार, अपमान और शोषण के खिलाफ युद्धगान है। यह कविता स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व–भाव की स्थापना और लोकतन्त्र की प्रतिष्ठा करती है, इसलिए इसमें समतामूलक और समाजवादी समाज की परिकल्पना है। संक्षेप में दलित कविता जाति और वर्ग–विहीन समाज की स्थापना करने वाली दलितों द्वारा लिखी गई क्रांतिकारी कविता है।"[1]

अतः इस रूप में दलित कविता की पहचान उसे अब तक लिखी जा रही अन्य कविताओं से अलग और विशिष्ट बनाती है। दलित कविता स्वानुभूत दुःख–सुख, हानि–लाभ, करुणा–आक्रोश एवं मानसिक गुलामी से छूटने की छटपटाहट को वाणी देने की कोशिश है। उत्पीड़न और जबरन मूक–बधिर बनाकर स्थापित इकतरफा शांति के विरुद्ध भीषण कोलाहल का नाम दलित कविता है। जाहिर है कि ऐसी कविता पारंपरिक स्थापित मान्यताओं के लिए प्रतिरोध, भय, कौतूहल और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति उत्पन्न करती है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' वर्तमान दलित साहित्य के सशक्त कवि व रचनाकार हैं। उनकी कविताओं पर गहन एवं विशद विवेचन करने से पूर्व हमें उनकी कविता की ऊर्जा तथा जड़ों को उपर्युक्त विवेचन के आधार पर पहचानना समीचीन होगा।

सामाजिक समस्याओं के प्रति गंभीर, वरिष्ठ दलित साहित्यकार डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' उत्तर प्रदेश के बदायूँ जिले के गाँव नदरौली में जो अब संभल जनपद में है, एक ऐसे समुदाय में पैदा हुए जहाँ सदियों से कोई पढ़ा–लिखा नहीं था, जिसे दलित समाज के नाम से जाना जाता है। रचनाकार जिस पारिवारिक सामाजिक वातावरण में पैदा

होता है, उस परिवेश का प्रभाव उसकी समस्त रचनात्मक गतिविधियों पर पड़ता है। प्रत्येक लेखक या कवि अपने परिवेश तथा जन्मगत संस्कारों से आबद्ध होता है। जहाँ उसे कुछ संस्कार वंशानुगत मिलते हैं, वहीं परिवेश भी उनके विचारों का परिष्कारवर्द्धन अथवा क्षरण करता है। क्या बेचैन के वंशगत संस्कार उनके वर्तमान जीवन शैली तथा काव्य–शैली में दृष्टिगोचर होते हैं ? क्या परंपरागत विचारों अथवा गुलामी को ढोए जाना किंतु प्रतिकार न करना जैसी भावना उनके व्यक्तिगत जीवन अथवा काव्य संसार में प्रतिफलित होती है ? सर्वप्रथम इन प्रश्नों पर विचार करना अनिवार्य है।

जब हम डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के साहित्यिक संवेदना व सरोकारों पर बात करते हैं तो पता चलता है कि उन्होंने लिखना आठवीं कक्षा में ही आरंभ कर दिया था, लेकिन वह छपना सन् 1980 से शुरू हुआ। तब से लेकर आज तक वे अनेक विचारधाराओं के संपर्क व प्रभाव में आए हैं। चूँकि श्यौराज सिंह 'बेचैन' का जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ, जहाँ स्वतंत्रता के पूर्व और पश्चात् की अनेक पीढ़ियों से कोई साक्षर तक नहीं हुआ था। पिता की मृत्यु के बाद उनका परिवार भयंकर गरीबी का शिकार हुआ, ऐसे ही परिवार में जन्में बालक को कितने प्रकार की संवेदनाओं से गुजरना पड़ता है। यह उन्हीं के शब्दों में देखें तो – "मोटे तौर पर बचपन का मैं अंधविश्वासी बालक किशोर होते ही आर्यसमाजी और युवा होते–होते वामपंथी और बाद में दलित चिंतन के करीब पहुँचा हूँ।"[2]

लेखक के काव्य में उनके व्यक्तित्व व समाज की छाप देखते ही बनती है। बाल्यकाल से ही उन्हें ऐसी कड़वी सच्चाइयों या परिस्थितियों का सामना करना पड़ा जोकि बहुत ही दयनीय और प्रतिकूल थी। अर्थात् बचपन से ही उन्होंने दलित होने की पीड़ा को भोगा। युगों–युगों से चली आ रही सामाजिक अमानवीय वर्णवादी व्यवस्था का बेचैन जी को सामना करना पड़ा। इस उत्पीड़न से ही उनकी सोच तथा काव्य–संवेदना का विकास हुआ होगा। उन्होंने मूलतः अपने काव्य में समाज के शोषित–पीड़ित तथा दलित वर्ग की संघर्ष–चेतना को उद्घाटित किया है। उनका काव्य दुखी मानव की स्थिति, पीड़ा व समस्याओं को उजागर करने के साथ–साथ उन तत्त्वों को भी उजागर करता है जिनसे ये समस्याएं या प्रश्न निर्मित हुए हैं। वह शोषकों के क्रियाकलापों का पर्दाफाश करता है ताकि दलितों की पीड़ाओं पर अंकुश लगाया जा सके और समाज में

असमानता को समाप्त करके समता, स्वतंत्रता और बंधुता की संविधान संगत लोकतांत्रिक व्यवस्था कायम की जा सके।

लेखक के सामने कई तरह के मानव सृजित नरक रहे हैं। विगत दिनों में झेले अभावों, तनावों और विभिन्न प्रभावों से चिंतन के स्तर पर वे मुक्त नहीं थे। लेकिन सिर्फ निजी जीवन से जुड़े दुःख–दर्द को व्यक्त करना बेचैन जी की काव्य संवेदना नहीं थी। उन्होंने मानव–जीवन से जुड़े भूख, गरीबी, जातिभेद, निरक्षरता, अज्ञान, दलित व स्त्री की उपेक्षा आदि को अपनी कविताओं के केंद्र में रखा।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के अब तक तीन काव्य–संग्रह **'क्रौंच हूँ मैं'**, **'नई फसल कुछ अन्य कविताएँ'** तथा **'चमार की चाय'** प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अलावा उनकी अनेक कविताएं विभिन्न समाचार पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी काव्य–संवेदना सामाजिक संवेदना से जुड़ी हुई प्रतीत होती है। उन्होंने समाज, जाति और जनतंत्र की अपनी सघन पीड़ा की अनुभूतियों को अपनी कविताओं में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इसलिए उनकी कविता के मूल में मानवतावाद से जुड़ी दलित समस्या है, दलित जीवन के प्रश्नों से जूझता हुआ इनका कवि मन अत्यंत संवेदनशील है, जोकि वह अपने पूरे दायित्वबोध के साथ कविता रचते हैं।

'क्रौंच हूँ मैं', नामक काव्य–संग्रह के माध्यम से लेखक ने शोषण के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान किया है। संग्रह के शीर्षक के बारे में लेखक का मत है कि – "संग्रह का शीर्षक (क्रौंच हूँ मैं) भी मेरा पहले से सोचा हुआ नहीं था। यह नामकरण भी चलते–चलते यूं ही अचानक हो गया। तब इसकी ऐतिहासिक व्यंजना, प्रतीकात्मकता, रूपक और कथा–सम्बद्धता की सुखद कल्पना भी मुझे होने लगी। तीन प्रतीक चित्र मेरी दृष्टि में उपस्थित हुए। पहला प्रतीक वह वर्ग यह घटक है जो दूसरे वर्ग के लिए शिकारी है। दूसरा वर्ग संवेदनशील कारुणिक प्रेक्षक जो आहत के प्रति रागात्मक संवेदना व्यक्त करता है यह आज का वाल्मीकि है, आदि कविता का जनक नहीं। तीसरा वर्ग व्यवस्था का सीधा शिकार हुआ वर्ग 'क्रौंच' है – जो प्रतिनिधि है आज के मूक, उपेक्षित, पहचानहीन जातीय हीनता–बोध के घेरे में कैद मानव समुदाय का जो

शिकारियों के प्रहारों से घायल, उत्पीड़ित, दमित और कुल मिलाकर जिंदा लाश की शक्ल में हैं। वह भी एक–दो नहीं, बहुसंख्य विशाल विश्व।"[3]

स्पष्ट है कि 'पहले ये शब्द' में श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने स्वयं ही अपने काव्य–शीर्षक को अर्थ प्रदान करने का प्रयास किया है। यद्यपि क्रौंच–वध का प्रसंग हमेशा आदिकवि वाल्मीकि के साथ आता है, जिसमें कि उनकी अभिव्यक्त संवेदना को प्रथम–कवि बनने का गौरव प्रदान किया गया। क्रौंच–वध की घटना को रचनाकार ने आज के संदर्भ में उठाने का प्रयास किया है। साथ ही उन तमाम प्रश्नों का उत्तर भी अपने आप में है, जो समय–समय पर उठते रहे हैं कि दलित किसे माना जाए, सहानुभूति और स्वानुभूति का वास्तविक दंश क्या है ? संग्रह में रचनाकार ने घर–परिवार, समाज से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक की स्थितियों एवं घटनाओं को अभिव्यक्त किया है।

दिवंगत वरिष्ठ कवि वीरेन डंगवाल ने 'नई फसल' नामक काव्य–संग्रह के प्रथम संस्करण की भूमिका में लिखा है कि – "इस संग्रह में उनकी कोशिश यही है कि इन अपने लोगों तक वे उस समझ को भी पहुँचा सकें जो उन्होंने अपने राजनीतिक कार्य के दौरान अर्जित की है और जिसके बगैर शोषण से निजात पाना मुमकिन नहीं है। यही वजह है कि ये कविताएँ 'नेल्सन मंडेला' से लेकर 'भगत सिंह' तक के बारे में अफ्रीकी रंगभेद व विश्वयुद्ध के विरोध में, भारत की आजादी के बारे में और अत्याचार से लेकर मुक्ति के बारे में समान अधिकार और सन्तुलित विवेक से बात करती हैं – कभी गीत के रूप में, कभी खुले उड़ते छन्दों में।"[4]

उपर्युक्त कथन से प्रतीत होता है कि कवि श्यौराज ने एक सामाजिक पूर्णकालिक कार्यकर्त्ता के रूप में दलितों, किसानों और छात्रों के आंदोलन में लंबे समय तक हिस्सा लिया था। इसलिए उनके पास प्रामाणिक अनुभवों की कमी नहीं है। 'नई फसल' के गीत व कविताएं भी दलित आंदोलन, किसान सभाओं और छात्र–छात्राओं के बीच चल रहे सांस्कृतिक विमर्श के दौर में लिखी गई कविताएं हैं।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का अपने 'नई फसल' नामक काव्य–संग्रह के नामकरण को लेकर विचार है कि – "दो बातें दिमाग में थीं, एक तो हम नई उम्र के थे। यानी

नई पीढ़ी, की प्रतीक नई फसल, दूसरा मैं किसानों में उनके हकों और हितों के लिए निःस्वार्थ सेवा कर ही रहा था। किसानों में नई फसल आने से उत्साह और आशा का संचार होता है और परिवर्तन कामी नई सोच, नये विचार और नये सपने ही तो मेरे पंखों में उड़ान भर रहे थे। ऐसी ही बातें नामकरण की सार्थकता और प्रासंगिकता से जुड़ी हैं।"[5]

वरिष्ठ आलोचक प्रो. गोपेश्वर सिंह ने ठीक ही कहा है कि – "'नई फसल' शीर्षक के जरिए कवि का उद्देश्य शायद यह संदेश देना है कि हिंदी कविता का यह नया इलाका है।"[6]

अतः कह सकते हैं कि कवि श्यौराज सिंह 'बेचैन' हिन्दी काव्य–परंपरा को नकारते हुए, इस काव्य–संग्रह को 'नई फसल' नाम देते हैं।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने अपने नव प्रकाशित काव्य–संग्रह 'चमार की चाय' के माध्यम से एक तरफ तो वर्णवादी व्यवस्था के बरक्स फैली अस्पृश्यता व भेदभाव को उजागर किया है तो दूसरी ओर अपने बाल्यकाल में किये गये बालश्रम को माननीय प्रधानमंत्री और अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति बराक ओबामा के जीवन के क्षणों से तुलना की है कि तथाकथित सवर्ण के जीवन में और एक अछूत के जीवन में क्या मूलभूत अंतर हैं ? अर्थात् वे एक चमार की चाय की तुलना तथाकथित सवर्ण यानी गैर–दलित की चाय से करते हैं।

जानकारी यह भी है कि इस संग्रह की प्रत्येक कविता के संदर्भ बहुत गहरे और सदियों पुराने हैं। जिसमें मूलतः दलित समस्या व ऐसे गूढ़ दलित प्रश्न हैं जिनसे कवि जूझता हुआ अपने पूरे दायित्वबोध के साथ कर्त्तव्यनिष्ठ बना हुआ है।

3.1 प्रज्ञा, शील, करुणा, समता, स्वतंत्रता, बंधुता और शिक्षा के प्रति निष्ठा

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' दलित विमर्श से जुड़े एक ऐसे दलित साहित्यकार हैं जो कि जनांदोलनों से होते हुए कविता तक पहुँचे हैं, इसलिए सामाजिक परिवर्तन के प्रति उनकी प्रतिबद्धता उनके रचनाकर्म में सर्वत्र देखने को मिलती है। उनके अनुभवों

का क्षेत्र निश्चय ही बड़ा व्यापक है। इस ओर संकेत करते हुए दिवंगत वरिष्ठ कवि डॉ. वीरेन डंगवाल ने 'नई फसल' के प्रथम संस्करण में लिखा था कि – "श्यौराज सिंह 'बेचैन' एक प्रतिबद्ध राजनीतिक कार्यकर्त्ता हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसान आन्दोलन में लम्बे समय से खासतौर पर सक्रिय रहे हैं। चौधरी महेन्द्र सिंह 'टिकैत' के किसान संघर्षों में ग्रामीण समाज की वंचित जातियों और भूमिहीन मजदूरों की भूमिका को सुनिश्चित करने और इस प्रकार इस आन्दोलन को संकीर्ण होने से बचाने में उनकी एक खामोश लेकिन महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उनके पास दुनिया और अपने समाज को देखने तथा अन्तः सम्बन्धों को समझने की एक विशिष्ट विज्ञानसम्मत दृष्टि है जिसे व्यावहारिक अनुभवों ने और भी समृद्ध किया है।"[7] जाहिर है कि वरिष्ठ कवि वीरेन डंगवाल ने आज से तीस साल पहले ही श्यौराज सिंह के कार्यों और कविताओं का न केवल संज्ञान लिया था अपितु उसे मान्यता भी दी थी।

जानकारी यह है कि श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने अपने जीवन का एक हिस्सा किसानों, दलितों और आम लोगों के साथ बिताया है। इसी व्यावहारिक जीवन के इस विस्तृत अनुभव को लेकर वे कविता के क्षेत्र में उतरे हैं। वे गाँव के किसान हैं, मजदूर हैं। शहरों के पढ़े–लिखे, अनपढ़–कुजात कहलाने वाले उत्पीड़ित तबकों के लोग कारीगर, फैक्टरी मजदूर हैं। इन सबके बारे में बेचैन जी एकदम साफ हैं, क्योंकि अब तक की अपनी उम्र का काफी हिस्सा उन्होंने उन्हीं के साथ बिताया है।

हिन्दी में डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताओं में संवेदनाओं के अनेकानेक रूप हैं। उनकी कविताओं में एक ओर तो अपने परिवेश की घुटन, दुःख, कष्ट, पीड़ा, टूटन, संत्रास, संताप आदि का तो जीवंत चित्रण हुआ है तथा दूसरी ओर वे अपने काव्य के माध्यम से केवल वर्तमान विषम व्यवस्था को ही विध्वंस नहीं करना चाहते बल्कि वे एक ऐसी व्यवस्था का प्रारूप प्रस्तुत करते हैं, जहाँ स्वतंत्रता, समता तथा बंधुता ही सर्वोपरि हो। वे घृणा को अवांछनीय करार देते हुए प्रज्ञा, शील, करुणा, मैत्री की पैरवी करते हैं। क्योंकि दलित साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही सड़ी–गली मान्यताओं से शोषित वर्ग को निकाल कर मानवीय व्यवहार में परिवर्तित करना है। अतः उनकी कविताओं का सीधा संबंध मानव जीवन और मनुष्य की समस्त यातनाओं से है, वे 'मानवतावाद' पर बल देते

हैं। श्यौराज सिंह की कविता में ध्वंस नहीं सृजन की प्रेरणा है मानवीय मूल्यों की पोषक ऊर्जा है, नए समाज की संकल्पना है।

श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपनी **'गीत'** नामक कविता में चाटुकारिता के गीत न गाकर मानवता के गीत गाने की बात करते हैं। जहाँ स्वतंत्रता, समता और बंधुता ही सर्वोपरि हो –

"शेष रही दासताओं/की समाप्ति के बाद/भावों के विहंग/मुक्त नभ में उड़ायेंगे।/सत्य को असत्य कहें,/यह कदापि होगा नहीं,/रात यदि रात है/तो रात ही बतायेंगे।/बात यह कि हम किसी,/चाटुकारिता तो हम/कर नहीं पायेंगे।/मानावास्तित्व से/सुहागिनी रहे धरा/मानव विरुद्ध /कोई युद्ध नहीं चाहेंगे।"[8]

लेखक यहाँ मानवतावाद का समर्थन करता हुआ, मानवता के विरुद्ध किसी भी प्रकार के युद्ध को नकारता है। विकसित देशों युद्ध उन्माद का कवि प्रबल विरोधी है। शांति प्रगति सामाजिक आर्थिक विकास में संतुलन और जन भागीदारी उसकी काव्य चेतना का मर्म है।

बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने जातिविहीन और वर्गविहीन समाज के रूप में एक ऐसे समाज की परिकल्पना की थी जो समता, न्याय, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व पर आधारित हो, जिसमें ऊँच–नीच, छुआछूत आदि के लिए कोई जगह न हो। जीवन–भर वे इस तरह के समाज की स्थापना के लिए संघर्षरत रहे। डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' भी बाबा साहब की वैचारिकी से लेखन की प्रेरणा ग्रहण करते हैं इसलिए उन्होंने अपनी कविताओं में बार–बार स्वतंत्रता का पक्ष लिया है। यह स्वतंत्रता चाहे स्त्री की हो, दलित की हो, कमजोर वर्ग की हो या फिर किसी भी प्राणी मात्र की ही, यह सभी को भाती है। **'वह उठी'** नामक कविता में व्यक्त मार्मिक करुणा दृष्टव्य है –

"स्पंदित उर को अखण्ड।/जैसे–जैसे/वह उठी और अन्याय झुका/अबलत्व/हीनता निगल गई ज्वाला प्रचण्ड।/आज की अहिल्या/मूक नहीं है महा मुखर/पांचाली बनाकर/भी जुए में जाएं हार/तैयार नहीं।"[9]

कवि बेचैन की **'बैसाखी'** नामक कविता में भी एक परतंत्र पीड़ित स्त्री की कल्पना बैसाखी से की गई है कि पिता, पति, भाई आदि के रिश्तों रुपी बैसाखी पर जीवन भर निर्भर रहना ही स्त्री की नियति है। स्वयं निर्णय लेने के लिए वह कभी स्वतंत्र नहीं रही है। साथ ही परंपरावादी सोच पर व्यंग्य है –

"बैसाखियाँ/निर्जीव होती हैं मगर/हैं मगर –/करती सचेतन कोशिशें/ताकि यह/ साबित न हो/सचमुच अप्रासंगिक हैं वे।"[10]

इसी प्रकार **'औरत की गुलामी'** शीर्षक कविता में कवि स्त्री की गुलामी को रेखांकित करते हैं कि वह उपेक्षित ही पैदा होती है –

"पैदा हुई थी जिस दिन –/घर शोक में डूबा था।/बेटे की तरह उसका –/उत्सव नहीं मना था।/बंदिश भरा है बचपन –/बोझिल–सी जवानी है।/औरत की गुलामी भी –/ एक लम्बी कहानी है।"[11]

आगे कवि लिखता है कि सारी अग्नि–परीक्षाएं स्त्रियों के लिए ही हैं –

"कभी अग्नि परीक्षा में –/औरत ही तो बैठी थी।/होती थी जब सती तो –/औरत ही तो होती थी।/उसी जुल्म की बकाया –/पर्दा भी निशानी है/औरत की गुलामी भी –/ एक लम्बी कहानी है।"[12]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने अपनी कविताओं में स्त्रियों की समस्याओं व उत्पीड़न को उकेरा है चूँकि वे स्त्रियों के अधिकारों से भलीभांति परिचित थे इसलिए उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से स्त्रियों को जागरूक व प्रेरित करने का प्रयास किया है –

"अब वक्त है वो अपने –/आयाम खुद बनाये।/तालीम हो या सर्विस –/अपने हकूक पाये।/मिलजुल के विषमता –/की दीवार गिरानी है।/औरत की गुलामी भी –/एक लम्बी कहानी है।"[13]

अर्थात् यहाँ कवि स्त्रियों को अपनी दासता की बेड़ियों को स्वयं काटने के लिए प्रेरित करता है चूँकि कवि के भीतर आजादी की ललक आशा का संचार करती है, कवि इसके लिए हाथ पर हाथ रख कर नहीं बैठा है, वह चुप भी नहीं है, बल्कि व्यापक

वंचित–दलित स्त्रियों व लोगों को आजादी दिलाने–पाने का हर संभव उपक्रम करता है और अपनी **'जिसको आजादी नहीं'** नामक कविता में आह्वान करता है कि –

"कुएं तालाब में बदलने दो,/दीये मशाल में बदलने दो।/मैं मुंतमईन हूँ, सुबह को/हम भी पहुचेंगे –/चाल धीमी है, तो भूचाल/में बदलने दो।।"[14]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' को लेखन के लिए दलित अस्मिताओं के महानायकों के व्यक्तित्व, कृतित्व से भी प्रेरणा मिली। इसलिए उन्होंने दलित महापुरुषों पर भी कविताएं रची हैं। इनमें महामानव डॉ. अम्बेडकर का नाम उल्लेखनीय है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर दलित मुक्ति के स्रष्टा हैं। उनके संघर्षों का ही परिणाम है कि भारत में दलित शिक्षा, समता, स्वतंत्रता और बंधुता का जो थोड़ा–सा उजाला देख पाए हैं। उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को कवि बेचैन ने कुछ शब्दों में समेटने का प्रयास किया है। उन्होंने **'भीम'** नामक कविता में बाबा साहब अम्बेडकर का जिक्र किया है जिसमें कवि ने भीम के शिक्षा, संगठन और संघर्ष का उल्लेख किया है –

"था तिमिरमय गगन घोर हिन्दुत्व से/नाम समता–स्वाधीनता का न था।/शासकों, ग्रन्थकारों ने बाँटे थे हम/दूर तक जिन्दगी में उजेरा न था।।/ब्राह्मण स्वयं सर्वोपरि था बना/मात्र पैरों में स्थान था शूद्र का।/तब दलित बेड़ियाँ तोड़ने को उठे..... /उनकी जानिब इशारा हुआ भीम का।।/..... किन्तु ए दलित जन तेरा दायित्व है/खत्म कर अपने मस्तिष्क की दासता।/ज्ञान पा, संगठित हो के संघर्ष कर/आपदाओं से मुक्ति का है रास्ता।।"[15]

अर्थात् यहाँ कवि डॉ. अम्बेडकर द्वारा किए गए संघर्ष व आंदोलनों का जिक्र करता हुआ अछूत वर्ग को जगाने का प्रयत्न करता है। इसके साथ ही **'कौन–सी सदी है और कौन–सा जमाना ?'** नामक कविता में कवि अम्बेडकर के दर्शन का हवाला देते हुए ऐसे जाति और वर्गविहीन समाज के निर्माण की कामना करता है, जिसमें धर्म की भी विषमता न हो –

"जाति, धन, धर्म की/विषमता रहेगी नहीं/भीम के सपूत/ऐसा भारत बनाना है।"[16]

इसके अतिरिक्त मार्क्सवादी कवि गोरख पाण्डे, भगतसिंह, नेल्सन मंडेला पर भी उन्होंने कविताएँ लिखी हैं। श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने एक कविता मार्क्सवादी कवि गोरख पाण्डे के ऊपर भी लिखी है, जिसे कवि ने **'खुदकुशी'** नाम दिया। गोरख पाण्डे जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय में छात्र थे और उसी कैम्पस में स्थित छात्रावास में उन्होंने मौत को गले लगा लिया था। बेचैन भी उस समय तक जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय के संपर्क में आ चुके थे। गोरख पाण्डे की दुखद मृत्यु से द्रवित होकर उन्होंने यह कविता लिखी –

"तुम्हारी मौत मोहब्बत की मौत लगती है/..... तुम्हारे पास नर्मदा थी गंगा, कावेरी/बही न एक भी जीवन के मरू में आकर/तुम्हारी प्यास जरूरत की प्यास थी गोरख/डसा तन्हाई की नागिन ने दिल को तड़पा कर।/हसरते इंकलाब, दिल में धड़कने ठहरीं/ आँख खुलते समाजवाद का सपना रोया/गर्दिशें लाख पर जमीर का सौदा न किया/गँवा दी जान कवि–कर्म पर धब्बा न लिया।...../नया समाज नया आदमी बनाने चला ?/ खुद की साँसों से बुझ गया चिराग कैसे जला/खुद सच्चाई ने गले डाल लिया था फंदा/मुझको लगता है सच्चाई ने खुदकुशी की है।"[17]

इतना ही नहीं कवि 'बेचैन' द्वारा रचित गोरख पाण्डे से अपनी मुलाकातों पर आधारित एक संस्मरण **'गोरख पाण्डे से आखिरी मुलाकात'** शीर्षक से राष्ट्रीय दैनिक अमर उजाला के रविवारीय परिशिष्ट में दिनांक 19 फरवरी 1989 को छपा था।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने **'नेल्सन मंडेला को'** नामक अपनी कविता रंगभेद के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष कर रहे अश्वेत योद्धा नेल्सन मंडेला को समर्पित पंक्तियों में अपनी वैश्विक चेतना का परिचय दिया है –

"तिल–तिल होता कारा में जिन्दा शहीद/गोराशाही विरुद्ध अफ्रीकी गर्म हवा/तूफान बनी दुनिया की हरने लगी नींद/अब रंगभेदी नीति होगी नेस्तनाबूद/भूमण्डल पर आजादी की है नयी गूँज।"[18]

इसके अतिरिक्त गरीब किसानों की एकता पर प्रसन्नता और जहांनाबाद में मरने वाले दलितों की स्मृति में जिम्मेदार व्यवस्था पर तीखा कटाक्ष करने के लिए कवि को भगत सिंह की भी याद आती है और वे **'भगत सिंह'** पर भी कविता लिखते हैं कि –

"युद्ध के इतिहास में जो श्रेष्ठतम बलिदान है।/जिनके आत्मोत्सर्ग से आजाद हिन्दुस्तान है।"[19]

यहाँ श्यौराज की काव्य–दृष्टि व्यापक नजर आती है। उनका आत्मसंघर्ष एक सच्चे जुझारू मानवतावादी चेतना से लबालब कवि का संघर्ष है। इसलिए भगत सिंह सरीखे नौजवानों से कवि नई दुनिया बनाने का आह्वान करता है। इस नई दुनिया में कवि का समतामूलक समाज–रचना का सपना उसकी आँखों में तैर रहा है और इसलिए कवि **'समूहगान'** लिखकर नौजवानों का आह्वान करता है कि क्रांतिधर्मिता को सामूहिकता के साथ जोड़ो तथा वे संकीर्णता और सांप्रदायिकता पर तीव्र प्रहार किया है –

"उठें कि जुल्म फिर मजाल/हो कि सिर उठा सके।/उठें कि आदमी को/आदमी नहीं सता सके/सदा दबे–पिसे अवाम/से जुड़े रहे हैं हम/नहीं रुकेंगे अब हमारे/साथियों के ये कदम।"[20]

कवि ने भारतीय समाज की वर्णवादी व्यवस्था के बरक्स होने वाले भेदभाव को भोगा है। यहाँ के समाज में भारतीयता की अपेक्षा अभी वर्ण व जाति का संस्कार कुलाँचे मारता है। डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपने अन्य काव्य संग्रह "नई फसल कुछ अन्य कविताएँ" की **'समूह–गान'** नामक कविता में भी दलितों में चेतना जगाते हैं कि हम सब मिलकर एक ऐसे मानवतावादी समाज का निर्माण करेंगे जहाँ जात–पांत, ऊँच–नीच, गरीबी, अस्पृश्यता जैसे सवालों से छुटकारा मिल जाएगा। चारों तरफ स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व का वातावरण होगा –

"जात–पाँत का तनाव/ऊँच–नीच, भेदभाव/पेट के सवाल का/जो दे नहीं सके जवाब/ ऐसी रहनुमाई अब न चाहेंगे।/नौजवां नया 'जहाँ' बनाएँगे।"[21]

इसके अतिरिक्त कवि बेचैन उस आजादी को भी अधूरी मानते हैं जहाँ पर मानव–मानव व स्त्री–पुरुष में भेदभाव हो, इसलिए वह स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे से परिपूर्ण नई दुनिया बनाने पर बल देते हैं। न कोई ऊँच होगा, न कोई नीच, न कोई छूत होगा, न कोई अछूत, न कोई अतिभक्षण से अस्वस्थ होगा और न कोई भूख से

तड़प–तड़प कर मरेगा। कवि की दृष्टि में भारत सही मायनों में उसी दिन आजाद होगा। वे अपनी गीतात्मक पंक्तियों में लिखते हैं कि –

"मर्द–औरतों में फर्क है अभी/जमीं पे बेबसी का नर्क है अभी/दहेज कोढ़ है अभी समाज में/बराबरी कहाँ है इस निजाम में/कदम हमारे पर न लड़खड़ाएँगे।/नौजवां नया 'जहाँ' बनाएँगे।"[22]

इस नए जहाँ में दहेज की प्रथा नहीं रहे, लोकतन्त्र सजीव हो, मनुकथा जैसी कथा न हो, तीसरा विश्वयुद्ध न हो, दरिद्रता न हो, देह की तस्करी न हो आदि सपने कवि देखता है और **'विश्व की वसुन्धरा सुहागिनी बनी रहे'** नामक कविता के माध्यम से कहता है कि –

"गगन में सूर्य–चन्द्र/और चाँदनी बनी रहे/चमन बना रहे/चमन की स्वामिनी बनी रहे/ कोयलों के/कंठ की माधुरी बनी रहे।/रागियों के –/अधरों की रागिनी बनी रहे/...../गरज ये कि/तृतीय विश्व युद्ध नहीं चाहिए/विश्व की –/वसुन्धरा सुहागिनी बनी रहे। /हवा सुचैन/शान्ति की सदा सुहावनी रहे।/नहीं रहे तो/देश की दरिद्रता नहीं रहे।/ आदमी की आदमी से/शत्रुता नहीं रहे।..... /मनुष्यता/की भावना घनी बनी रहे।"[23]

अतः कवि ने यहाँ भारतीय समाज में एक ऐसे समाज की कामना की है जिसमें प्रेम–सौहार्द, भाई–चारा, समता, स्वतंत्रता की स्थापना हो, दरिद्रता, शत्रुता, दुश्मनी, भुखमरी, जात–पांत, छुआछूत आदि न हो। लोकतन्त्र की भावना सर्वोपरि हो, जहाँ सभी को सब कुछ बोलने–सुनने का अधिकार हो। अर्थात् लेखक ऐसे समाज का निर्माण चाहता है जहाँ शांति–अमन बना रहे, शत्रुता खत्म हो और मानवतावाद का निर्माण हो।

दहेज प्रथा की मार झेलती लड़की हो या बेरोजगारी का दंश झेलता नौजवान, कुर्सी की न्यारी महिमा हो या रंगभेद की समस्या हो, कवि की दृष्टि इन सभी विषयों पर जाती है। वे मानते हैं कि दुनिया तभी बदलेगी, जब मजदूरों, किसानों, दलितों तथा स्त्रियों आदि में एकता होगी। इसलिए यहाँ कवि नई फसल की **'हम एक हैं'** नामक गीत के माध्यम से ऐसे ही भारत के निर्माण के लिए मजदूरों, किसानों और मेहनतकश लोगों की एकता का आह्वान करता है और गाता है –

"मजदूरों – किसानों के अधर यूँ ही कहेंगे।
हम एक थे, हम एक हैं, हम एक रहेंगे।।
मजहब धरम के नाम पर लड़ना नहीं हमें।
फिर्कों में जातियों में बिखरना नहीं हमें।
हम नेक थे, हम नेक हैं, हम नेक रहेंगे।

.....

समता, स्वतंत्रता के नये गीत गाएँ हम।
इंसानी भाईचारे के डंके बजाएँ हम।।
मेहनतकशों जहान के मिल बैठ कहेंगे।
हम एक थे, हम एक हैं, हम एक रहेंगे।।"[24]

कवि का जीवन सफर डॉ. अम्बेडकर के सन्देश 'शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो' की सीख पर अमल करता आगे बढ़ता है और दुनिया के सामने जीती–जागती मिसाल बनता है। इतना ही नहीं कवि श्यौराज मानवतावाद पर बल देते हुए स्त्री–पुरुष की समानता का भी सपना सँजोते हैं। इस समानता के लिए वे स्त्री शिक्षा पर बल देते हैं।

'लड़की ने डरना छोड़ दिया' नामक उनकी कविता इस दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस कविता में कवि ने बताया है कि लड़की पढ़–लिखकर ही तमाम षड्यंत्रों से मुक्त हो सकती है। उसका तमाम भय व डर शिक्षा से ही दूर हो सकता है और शिक्षा ही उसमें आत्मविश्वास भरती है जिससे वह हर क्षेत्र में अपनी प्रभावपूर्ण छाप दर्ज कर रही है –

"अक्षर के जादू ने –/उस पर असर बड़ा बेजोड़ किया,/चुप्पा रहना छोड़ दिया,/लड़की ने डरना छोड़ दिया।/हंस कर पाना सीख लिया/रोना–पछताना छोड़ दिया।"[25]

आज तमाम सामाजिक सोच पलट रही है लड़कियाँ माँ–बाप की ज्यादा सेवा कर रही हैं बजाय लड़कों के। कवि यहाँ समाज से प्रश्न करता है कि फिर भी लड़कों को चाहना क्यों ?

"लड़की सेवा करे –/बुढ़ापे में तो क्यों लड़का चाहें ?/इसी प्रश्न के –/समाधान ने भीतर तक झकझोर दिया/चुप्पा रहना छोड़ दिया/लड़की ने डरना छोड़ दिया।"[26]

इसी प्रकार **'विराम दो'**, नामक कविता भी एक स्त्री की व्यथा बयान करती प्रतीत होती है। पुत्री की तुलना में पुत्र की प्राप्ति आज भी समाज में अनिवार्य उपलब्धि मानी जाती है। प्रस्तुत कविता में तीन–तीन पुत्रियों को जन्म दे चुकी माँ की व्यथा है। लड़के की लालसा में और संतान वह नहीं जन्मना चाहती। अतः पति से वह अनुरोध करती हुई यह संदेश भी देती है कि लड़की और लड़के में कोई फर्क नहीं होता है।

"बेटा–बेटी हैं/समान/कह रहा है/संविधान/माल–मत्ता/के हकों का/है समान/प्रावधान/नये मौसम/की नब्ज/को लो जान हे ! पिया।/अब विराम दो, पिया।/कहा मान लो पिया।"[27]

वास्तव में दलित व स्त्री के लिए शिक्षा ही एकमात्र उपाय है। चूँकि तथाकथित धर्मग्रंथो में स्त्री को पराधीन बना कर रखा गया। सीता द्रौपदी और अहिल्या उसके आदर्श बना दिए गये थे, परंतु आधुनिक समता आंदोलन में ये पात्र किसी भी प्रकार आदर्श नहीं हो सकते। ये पात्र पुरुषवादी मानसिकता में रचे गये हैं और ये पुरुषों के आगे हार मानते पात्र हैं। कवि बेचैन **'वह उठी'** नामक कविता में संघर्षरत और बराबरी की चाहना रखने वाली स्त्रियों को भी वाणी देते हैं –

"नारी विरोध में/रचे गये उन ग्रन्थों में/लूका देती/वह निकल पड़ी बेचैन नारि।
पुरुषीय प्रभुत्व/प्रदत्त प्यार का यह प्रचण्ड।/कैसे रख पाये।/स्पंदित उर को अखण्ड।"[28]

कवि श्यौराज सिंह 'बेचैन' स्त्री अधिकारों के प्रति सचेत हैं। विवाह में मिलने वाले दहेज को कवि 'भीख' संज्ञापित करता है। दहेज स्त्री–पुरुष की समानता में सबसे बड़ी बाधा है। यह लड़की के अपमान के साथ–साथ आधुनिक सभ्यता का भी अपमान है। उनकी **'बिटिया'** नामक कविता में अभिव्यक्त है कि समाज में दहेज प्रथा का दानव अविवाहित लड़कियों के स्वप्नों को लील रहा है। समाज में पैसों का बढ़ता हुआ प्रभाव, घटते हुए जीवन–मूल्य और टूटते आदर्श चिंता का विषय बनते जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त कवि श्यौराज की **'भीख माँगने के लिए'** नामक कविता दोहरे मानदण्ड रखने

वाले लोगों की मानसिकता को भी उद्‌घाटित करती है कि लड़की का पिता बेटी की शादी में दहेज नहीं देना चाहता, किंतु बेटे की शादी में कुबेर का खजाना मिल जाने की लालसा रखता है –

"किंतु बेटे के/विवाह में मिले कुबेर का धन/दोहरे मापदण्ड/लेके जी रहे श्रीमान !..... / बाप का धन हुआ/बेटे का धन/'बेटियाँ' आती रहें/भीख (दान) मांगने के लिए।"[29]

कवि को विश्वास है कि संविधान व कानून के माध्यम से भारतीय समाज में छुआछूत व अस्पृश्यता की समस्या से निजात पाया जा सकता है, समानता आ सकती है, जाति–जुल्म और भेदभाव समाप्त होंगे। इसी भाव को वे अपनी 'इकतारा' कविता में अभिव्यक्त करते हैं –

"समता–व्यापकता आयेगी,/अर्थ–विषमता जायेगी।/छूत–अछूत/ब्राह्मण–चमार की/हर खाई पट जायेगी/जात–पाँत के फन्दे टूटें,/दकियानूसी दूर हटें,/ठाकुर की भी मूँछ रहे,/कोई शूद्र न कहे – "मुझे मारा।"/तुन–तुन...तुन–तुन–तुनन...इकतारा।।"[30]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'क्रौंच हूँ मैं' नामक संग्रह की अंतिम कविता **'इन्तजार'** में कवि को उम्मीद है। उसे स्वीकार जाएगा। कवि सर्वश्रेष्ठ होने का सम्मान अन्य कवियों की भांति किया जाएगा। कवि जीवन की अंतिम सांस तक इंतजार करेगा कि कभी तो समता, स्वतन्त्रता और बंधुता की लहर आएगी, जब उसे हीन दृष्टि से न देख कर उसके श्रम, सेवा और देश के प्रति समर्पण के महत्त्व को समझा जाएगा –

"आप मुझे/स्वीकारेंगे, यदि/इतनी/उम्मीद रही होती/जीवन की/अन्तिम सांसों तक इन्तजार –/कर लेता मैं।"[31]

डॉ. राजेन्द्र बड़गूजर श्यौराज सिंह 'बेचैन' को वर्तमान समय का अपरिहार्य कवि की संज्ञा देते हुए लिखते हैं कि – "उनकी कविताएँ मानवीय सरोकारों की कविताएँ हैं और अपने लिए हकों की माँग करती कविताएँ हैं। उनकी कविता में उनके अपने अभावों और संघर्षों के चित्र हैं। उनकी कविता सहज–स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। उसमें बनावटीपन नाममात्र भी नहीं है। उनकी कविताएँ उनके संघर्षमयी जीवन की पृष्ठभूमि में तैयार होती हैं।"[32]

प्रो. कालीचरण 'स्नेही' का मानना है कि – 'इन कविताओं से लोकतंत्रात्मक मूल्यों को मजबूती मिलेगी, साथ ही समानता पर आधारित भारत के नव निर्माण में डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की भागीदारी भी सुनिश्चित हो सकेगी।'

अतः श्यौराज सिंह 'बेचैन' संघर्ष, स्वप्न और वंचित के स्वराज की कामना के कवि हैं। इनकी कविताएँ नीरस नहीं हैं परंतु मात्र आनन्द और रसास्वादन की चीज भी नहीं हैं, बल्कि कविताओं के माध्यम से कवि की पूरी सोच और चेतना मानवीय पक्षों को उजागर करते हुए मनुष्यता के सरोकारों और मनुष्यता के पक्ष में खड़ी होती हैं। चूँकि उनके जीवन का संघर्ष ही उनकी कविताओं में फलीभूत हुआ है। परंपरा का पुनर्मूल्यांकन करना, यथास्थितिवाद से विद्रोह और नये मूल्यों की तलाश करना उनकी कविताओं का निहितार्थ है तो मनुष्य ही उनके साहित्य का लक्ष्य है। उनका मनुष्य सामान्य मनुष्य है – हजारों सालों से शोषित, पीड़ित और वंचित मनुष्य। अर्थात् वे मनुष्य और मनुष्य के बीच की खाई को पाट कर उसकी समता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व के हिमायती हैं।

3.2 वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्राह्मणवाद, जाति–जुल्मों और सामंती मूल्यों के प्रति विद्रोह

वर्णाश्रम व्यवस्था कहने के साथ ही समाज की उस व्यवस्था का बोध होता है, जिसके आधार पर वैदिक काल में समाज को चार वर्णों में बांटा गया था। यह विभाजन आर्यों ने समाज की व्यवस्था की दृष्टि से तथा अपनी श्रेष्ठता और सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए किया था। प्रत्येक वर्ण के कर्म निश्चित थे। चारों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने जीवन कर्म को धर्म–स्वरुप मानकर करते थे। ब्राह्मण का कर्म ज्ञान देना और प्रार्थना, यज्ञ, पूजा आदि सभी धार्मिक संस्कार करना था। क्षत्रिय वर्ण का धर्म देश और समाज की रक्षा शत्रुओं से करना था। वैश्य व्यापार और उद्योग द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। शूद्र का काम अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना बताया गया था। वर्णव्यवस्था सामंतवाद का प्रमुख स्तंभ है जो ब्राह्मणवाद को सुदृढ़ बनाता है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने दलित समुदाय को हाशिए पर रखने को मजबूर किया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज का बड़ा हिस्सा दलित व अछूत कर दिया

गया। सामंतवादी व्यवस्था में समाज पूर्णतः पंगु होता चला गया क्योंकि सामंत व राजा अपने ऐश्वर्य और सुख भोग के लिए प्रजा अर्थात् जनता का शोषण करते थे।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपने काव्य में इसी वर्णाश्रम, ब्राह्मणवादी, सामंतवादी व्यवस्था के खिलाफ जेहाद बोलते हैं। उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से इस तथ्य को उद्घाटित किया है कि हजारों वर्षों से चली आ रही वर्णवादी व्यवस्था, ब्राह्मणवादी व्यवस्था और सामंती मूल्यों के कारण ही भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जाति–जुल्म आज भी विद्यमान हैं। आजादी के सत्तर वर्षों बाद भी जातिवादी व सामंतवादी मानसिकता ने हमारे भारतीय समाज को कोढ़ग्रस्त बना रखा है। बुद्धिजीवी वर्ग के तथाकथित सवर्ण वर्ग के लोग जातिवादी मानसिकता की संकीर्णता के चंगुल से निकल नहीं पा रहे हैं।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि – "वर्ण–समाज में मनुष्य कुछ भी होने से पहले अपनी जाति से पहचाने जाते हैं। उनमें जन्मना भेद–भाव और अस्पृश्यता–भाव भरे होते हैं।"[34]

लेखक अपनी आत्मकथा दूसरी जगह शिकायती लहजे में वर्णवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं कि – "शिकायत है तो देश की विशेष वर्णोन्मुखी व्यवस्था से, जिसने मेरे जैसे लावारिस बच्चों की शिक्षा का जिम्मा नहीं लिया। श्रम और शोषण से हुई पीढ़ी–दर–पीढ़ी की आंशिक भी क्षतिपूर्ति नहीं की इस आजाद देश ने।"[35]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'क्रौंच हूँ मैं' नामक संग्रह की सबसे पहली कविता **'श्रद्धांजलि'** है, जिसमें एक तरफ तो लेखक प्राकृतिक हादसों में मरे लोगों को श्रद्धांजलि देता है तथा दूसरी ओर इस कविता में जातिवादी भेदभाव उभरकर सामने आया है। दलितों पर जाति के नाम पर होने वाले अत्याचारों के जिस दृश्य का वर्णन यहाँ कवि ने किया है, वह सदियों से चला रहा है आज भी जाति रुपी राक्षस पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ है –

"लेकिन तब तक/हार चुकी थी/'किल्लारी'/छाती पर से/बुलडोजर–सा/गुजर चुका था/एक हादसा/निर्दय त्रासदी/प्रलयंकारी।/रात तो/घर–घर में जीवन थे/किन्तु सुबह तक/लाश हो गये।"[36]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताओं में सबसे अधिक आक्रोश वर्ण व जाति के पोषकों पर उतरता है चूँकि यही भारत की तमाम समस्याओं की जड़ है। इक्कसवीं सदी में भी इसे बरकरार रखने की दलीलें दी जाती हैं। लेखक मानते हैं कि ब्राह्मणवाद से इस देश का सर्वनाश हुआ है। अकर्मण्यता, भाग्यवाद, स्वर्ग–नरक, काल्पनिक देवी–देवताओं की कुंडली में जकड़ा यह देश निरीह बनकर रह गया है। इसके लिए **'इकतारा'** नामक लंबी कविता का सार देखा जा सकता है –

"राजपुरोहित ही था माहिर,/उल्टा पाठ पढ़ाने में।।/गौरव था भाई–भाई को,/ छूत–अछूत बताने में।/स्वागत संविधान/का जिसने/दूर किया झंझट सारा।।/ तुन–तुन... तुन–तुन–तुनन.....इकतारा।।"[37]

कवि को यह भी विश्वास है कि जिसने हम पर जाति–जुल्म ढाएं हैं, उनका सर्वनाश जरुर होगा –

"ऐसा शोषक तत्त्व कौन है –/जिसे काल नहीं खायेगा ?/दलितों–गरीबों के हक/ खाकर कौन अमर हो जायेगा ?/आज नहीं तो कल/हिसाब दुनियादारी में होना है/ जिसने क्षति की है/उस ही को, दंड का भागी होना है।"[38]

यद्यपि आज वर्णवादी व्यवस्था के फलस्वरूप होने वाले सामाजिक–भेदभाव, छुआछूत, तिरस्कार व जाति–जुल्मों में थोड़ी बहुत कमी व उनके रूप में बदलाव अवश्य आया है। परंतु बेचैन के काव्य में सामाजिक भेदभाव, छुआछूत, तिरस्कार की भावना के प्रति विद्रोह और संघर्ष ही उजागर हुआ है।चूँकि यह भेदभाव अभी समाप्त नहीं हुआ है।

'जो नहीं बदला जा सकता' नामक कविता के माध्यम से कवि बताता है कि कोई कितना भी विद्वान क्यों न हो परंतु तुम्हारी जात पर जरुर जाता है। चूँकि समाज में जाति–पांति का बोलबाला है। कवि का मानना है कि इस जाति के कोढ़ को हमें खुद ही मिटाना है –

"भारत में/कोई कितना/भी विद्वान हो –/गुजरने से पहले –/जात पर जरुर जाता है।"[39]

श्यौराज सिंह 'बेचैन' नई फसल के 'गीत' के माध्यम से दलितों की मुक्ति के लिए अवाम का आह्वान करते हैं कि हमें अपने देश में यदि जाति व अस्पृश्यता से मुक्ति लानी है तो स्वयं आगे आना होगा इस असमानता को यहाँ से हटाना होगा, समता का भाव लाकर ही छुआछूत का भेदभाव खत्म होगा तभी यह देश वर्णवादी व्यवस्था के जाति–जुल्मों से मुक्त होगा –

"देश ले रहा है –/देश प्रेमियों का इम्तिहान/सब हों समान/असमानता हटाओ रे !/भूल जाओ/आज से अछूत या सछूत भेद।/आदमी हो/आदमी का रूप अपनाओ रे !"[40]

कवि श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'गाँव का खत'** नामक कविता में भारतीय गाँव वर्णवादी व्यवस्था, ब्राह्मणवाद और सामंती मूल्यों के कारण होने वाले जाति–जुल्म व शोषण के जीते–जागते उदाहरण हैं। कवि जब गाँवों के बारे में मनन करता है तो उसे बहुत ही ग्लानि होती है। चूँकि वे गाँव के वातावरण से बेहद आहत हैं। इस संदर्भ में 'गाँव का खत' एक बेहतरीन रचना है, जिसमें लेखक ने गाँवों में दलितों के साथ सवर्णों के व्यवहार को इंगित किया है –

"कागज में पट्टा अछूत को,/जमींदार हल चलवाता है।/लुटते, जलते दलितों के घर,/पुलिस प्रशासन सुस्ताता है !/गाँव से जब कोई खत आता है,/मेरा सिर चकरा जाता है।"[41]

इसी प्रकार उनकी **'चमार की चाय'** नामक कविता भी वर्णाश्रम व्यवस्था के कारण होने वाली छुआछूत व अस्पृश्यता को दर्शाती है। इस कविता में मौजूद एक दलित जब तक बिना जाति बताये चाय बेचता है तो उसकी चाय की दुकान खूब चलती है। लेकिन जब उसका ही एक अभिन्न मित्र दुकान बंद होने पर चाय की दुकान के बाहर यह लिख देता है कि 'यहाँ चमार की चाय मिलती है' तो तब उसकी दुकान पर एक भी ग्राहक नहीं आता –

"फिर क्या था/'चमार की चाय'/पीना तो दूर/छुई भी नहीं जा सकी।/पिछड़े अगड़े/ ब्राह्मण बनिये/सबने कर दिया बहिष्कार।/और फिर/चाय भी नहीं बेच सका दलित बेरोजगार।"[42]

अर्थात् यहाँ यह कथन सही प्रतीत होता है कि 'जब तक यह नहीं पता होता कि आप दलित हैं तो सब कुछ ठीक रहता है, जाति मालूम होते ही सब कुछ बदल जाता है।'

दलित वर्ग हिन्दूवादी वर्णवादी व्यवस्था के शोषण का शिकार हुआ है। दलित वर्ग का हर बुद्धिजीवी इस तथ्य को शिद्दत के साथ महसूस कर रहा है कि जब तक इस समाज में अज्ञान रुपी अंधकार विद्यमान रहेगा तब तब पाप और जाति–जुल्म होते रहेंगे। जाति–व्यवस्था की बर्बरता, धार्मिक पाखण्डता दलित समाज को कभी स्थिर नहीं रहने देगा। यदि इस व्यवस्था को शीघ्र समाप्त नहीं किया गया तो भारत का टूटकर बिखर जाना या पुनः गुलाम हो जाने से कोई नहीं रोक सकता। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने **'राही'** नामक कविता में लिखा है कि –

"जब तक –/जाति जंगलीपन है,/जब तक –/धर्म–विवाद रहे,/तब तक –/मुमकिन नहीं कि,/भारत –/सुखी रहे, आजाद रहे।"[43]

इसीलिए कवि श्यौराज यहाँ अपनी **'मनु को मात'** नामक कविता में मनुवादी व्यवस्था पर प्रहार करता है और दलितों में चेतना जगाता है कि –

"जिन के घरों में/कबीर की वाणी का पाठ होता है/और जिन्हें रैदास का –/निर्वर्णीय/ संघर्ष ज्ञात रहता है/होठों से/दलित साहित्य का/जिक्र दिन–रात होता है/जहाँ रहता है/संविधान का संकल्प/वहाँ मनु का –/भूत नहीं रहता है।"[44]

इसके अतिरिक्त कवि हजारों सालों के जातिगत शोषण से निकलने का एकमात्र रास्ता 'शिक्षा' को मानता है। कवि श्यौराज की **'अपराधबोध'** एक कविता न होकर मानो एक सच्ची घटना है। एक गरीब परिवार का संघर्ष है। बच्चा पढ़ना चाहता है। माँ गरीबी के कारण चाहती है कि मजदूरी करें। सौतेला बाप प्रताड़ित अलग करता है। माँ से मारपीट करता है, जिसकी चोट माँ के शरीर के साथ–साथ बालक के मन–मस्तिष्क

पर भी पड़ती है। कोई भला आदमी बच्चे को स्कूल में दाखिला दिला देता है उस व्यक्ति के लिए बच्चे के मन में अपार श्रद्धा है। उनका अपना व्यक्तिगत जीवन शिक्षा की जिजीविषा का महती संदेश है। **'अपराधबोध'** नामक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए –

"मैं कहता था
अक्षर–अक्षर के बदले
दूँगा रक्त की बूँदें।"[45]

उन्होंने स्वयं रक्त की बूंदों के बदले शिक्षा ग्रहण की है। इस शिक्षा के लिए कवि ने क्या–क्या नहीं किया, प्रस्तुत प्रसंग कवि के जीवन का है जिसका उल्लेख **'मेरा बचपन मेरे कंधों पर'** लेखक की आत्मकथा में देखा जा सकता है तथा उनकी कविताओं में भी अभिव्यक्त हुआ है।

उनकी **'खाट खड़ी है'** नामक कविता में भी इंसान को इंसान के बराबर समझने में अभी भी कई बाधाएं आती हैं। इंसान से बड़ी अभी भी जाति ही समझी जाती है। भारतीय समाज में वर्णवादी व्यवस्था से उत्पन्न जात–पांत को बड़ा माना गया है, उस पर ही कवि ने दलितों को जगाने के लिए यहाँ व्यंग्य किया है कि पैसों के सामने भी देश को कुछ भी नहीं समझने वाले लोग हैं –

"धर्म बड़ा है/जात बड़ी है।/इसीलिए तो/रात बड़ी है/सब इंसान,/बराबर हैं/यह व्यवहार/नहीं तो,/रार खड़ी है/प्यार नहीं कुछ/फर्ज नहीं कुछ/पूर्वजों का/कर्ज नहीं कुछ/'श्री' के आगे/देश नहीं कुछ/ग्रन्थों में/उपदेश नहीं कुछ/अविश्वास की/बुरी घड़ी है/सब की उल्टी/खाट खड़ी है।"[46]

रचनाकार की **'तुम्हारी दुनिया'** नामक कविता में नैसर्गिक मानवाधिकारों से वंचित अछूत की पीड़ा उभर कर आई है। कवि द्वारा बताया गया है कि अछूतों से गलत व्यवहार अमानवीय है, उनके साथ भी हमें समानता का व्यवहार करना चाहिए। अर्थात् उन्हें इंसान व मनुष्य का ही दर्जा देना चाहिए –

"मेरे सपनों/की ऐसी–तैसी/मैंने जिस्म/अछूतों–सा पाया/मेरा जेहन है क्या/मेरा दिल क्या है ?"[47]

'गजल' में तो रचनाकार ने आह्वान ही कर डाला है कि कब तक अपने हालातों से मुँह छिपाते रहोगे ? अब वक्त है कि हालातों का सामना करने का साहस पैदा करना होगा। जिम्मेदार लोग इस भ्रम में जी रहे हैं कि पड़ोसी की झोपड़ी जले तो जले पर अपनी झोपड़ी सलामत रहे, किंतु ऐसे लोग यह नहीं जानते कि पड़ोस की आग अपनी झोपड़ी तक भी पहुँच सकती है। मनुष्य का संपूर्ण जीवन सह–अस्तित्व के बगैर नहीं चल सकता। अतः अन्य लोगों की भी चिंता करनी होगी अन्यथा सभी का अस्तित्व संकट में पड़ जाएगा –

"आग लगती है लगे,/अपना मकां साबुत रहे।/यह नहीं मुमकिन ये तय है/आप भी जल जायेंगे।"[48]

कवि श्यौराज की **'दरियागंज में'** नामक कविता में सटीक विश्लेषण यह कहता है कि भारत के सछूत अंग्रेजों से कम गुनाहगार नहीं है। बल्कि उन द्वारा दी गई पीड़ा अधिक गहरी है। अंग्रेजों के बाहर का होने के कारण पीड़ा का स्वरुप थोड़ा भिन्न होता था परंतु जब अपने ही अछूतों पर जुल्म ढाते हैं तो पीड़ा की कोई सीमा नहीं रह जाती। बार–बार दलितों को गुलामी का अहसास कराया जाता है। उनके घर फूंक कर, उचित अवसर न देकर, उनके मानवाधिकारों का हनन करके, उनकी मौलिकता से खिलवाड़ किया जाता है –

'जितने सीनों में/अँग्रेजों ने दागी गोलियाँ/दस गुना उनसे अधिक/मारे सछूतों ने अछूत।'

यहाँ जानकारी यह भी है कि आए दिन जाति–संघर्ष की घटनाएँ बढ़ती जा रही है और पिसता 'अछूत' ही है। रचनाकार हालातों का सिर्फ रोना नहीं रोता, बल्कि वह समाधान भी प्रस्तुत करता है कि असल में संघर्ष के अतिरिक्त कोई रास्ता भी नहीं है। कवि शोषण को रोकने के लिए संघर्ष व विद्रोह को जरूरी मानता है –

"सामने आ वक्त की/आँखों में आँखें डाल दो/वरना इस हालात के/तेवर बहुत चढ़ जायेंगे।"[49]

श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपनी **'वन्दन'** नामक कविता में ब्राह्मणवादी व्यवस्था का पर्दाफाश करते हुए उसके प्रति विद्रोह प्रकट करते हैं। क्योंकि इसी व्यवस्था के कारण दलित कवियों को श्रेष्ठ कवि का दर्जा नहीं मिल पाता, चाहे दलित कवि योग्य ही क्यों न हो, उनके साहित्य को नकारा जाता है। इसलिए वह अपनी पृथक मुख्यधारा प्रवाहित करता है –

"कितनी भी/दाढ़ियां रखा लें/हम कविश्रेष्ठ न बन पायेंगे।/व्यर्थ जायेगा।/
शब्द–शब्द में भरा हमारा/हृदय–स्पंदन/संपादकों, तुम्हारा वन्दन।"[50]

उपर्युक्त कविता वर्तमान समय के संपादकों व कवियों की स्थिति का हाल ही बयान नहीं करती बल्कि संपादक यदि मेहरबान नहीं हैं तो रचनाकर्म व्यर्थ ही चला जाता है। गद्य–पद्य को या तो दीमक खा जाए या फिर अंगीठी को जलाने के काम आए। इसलिए संपादकों का वन्दन करने में ही भलाई है –

"जिसे प्रकाशित,/करो उसे तुम/गुमनामी से मुक्ति दिला दो।/मिट्टी चुनो बना दो/
चन्दन/संपादकों, तुम्हारा वन्दन।"[51]

श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपनी **'समय लगेगा'** नामक कविता में आशा अभिव्यक्त करते हैं कि दलितों की स्थिति में सुधार जरुर आएगा लेकिन उसके लिए हमें प्रयत्न करने अनिवार्य हैं। बिना प्रयत्न के हाथ पर हाथ रखे बैठे रहने से परिवर्तन नहीं आ सकता –

"धीरे–धीरे ही –/आजादी/जन–जीवन तक जायेगी।/फूँक मार कर –/अस्पृश्यता भी/उड़ाई नहीं जा सकती।/समय लगेगा/सुलझने–समझने में/जाति धर्म/अलगाव की गुत्थी –/यूँ ही नहीं सुलझाई जा सकती।"[52]

प्रो. कालीचरण 'स्नेही' श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताओं पर विचार करते हुए लिखते हैं कि – "इन कविताओं में एक ओर अम्बेडकरवाद की जय–जयकार है तो दूसरी ओर असमानता और ऊँच–नीच के विरुद्ध कड़ी फटकार भी है। प्रायः सभी कविताओं का मूल स्वर व्यवस्था परिवर्तन के साथ–साथ दलितों को स्वाभिमान से जीने

का हुनर सिखाना है। जातिवाद के विरुद्ध अपने समुदाय को जागृत करने की आकुलता प्रायः हर कविता में देखी जा सकती है।"[53]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' जिस मुस्तैदी के साथ वर्णवादी, ब्राह्मणवादी व सामंतवादी व्यवस्था के संस्थापकों के विरोध में खड़े हैं, उसी तरह शोषित–पीड़ित दलित मनुष्यों के साथ भी खड़े हैं। इस वैकल्पिक प्रतिमान पर बेचैन जी कविताएँ एकदम खरी उतरती हैं।

3.3 सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक व शैक्षिक उपेक्षा–उत्पीड़न के प्रति विद्रोह

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' उस तरह के कवि नहीं हैं जो सिर्फ दलितों के दुखों का वर्णन करके लोगों की सहानुभूति हासिल करते हैं या हिन्दुओं तथा उनके भगवानों से दलितों के कष्टों का निवारण करने की अपीलें करते हैं। बल्कि उनकी काव्य–संवेदना अपने समाज की काल्पनिक हिन्दी कविता के समानांतर सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक सरोकारों से जुड़ी हुई है। उन्होंने अछूतों में नया विमर्श और विद्रोह व चेतना जगाने के लिए कविता रची है। उन्होंने अपनी कविताओं में दलितों से संबंधित उन मुद्दों व दलित प्रश्नों के यथार्थ को उद्‌घाटित किया है जिससे तथाकथित सवर्णवादी लेखकों ने मुँह मोड़ा है। अर्थात् वे अपनी कविताओं के जरिए दलित समाज की विषमता के साथ भारतीय समाज में फैली तरह–तरह की विषमताओं पर चोट करते हैं।

दलित वर्ग हमेशा ही उच्च वर्ग के लोगों के अत्याचारों व उत्पीड़न को सहता आया है। उसे शारीरिक व मानसिक पीड़ा देकर यह अहसास कराया जाता है कि चाहे वह कितनी भी उन्नति कर ले, वे रहेंगे फिर भी दलित। वह उच्च वर्ग की बराबरी नहीं कर सकते हैं।

'क्रौंच हूँ मैं' नामक कविता का सच सामाजिक संवेदना का सच है, यहाँ कवि की स्वानुभूति या भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति है। यद्यपि क्रौंच–वध की घटना से कवि वाल्मीकि को जो पीड़ा हुई और उस पीड़ा की जो अभिव्यक्ति हुई वह प्रथम छन्द बन

गई। यह कारुणिक अभिव्यक्ति उन्हें प्रथम कवि कहलाने का गौरव प्रदान कर गई। किंतु प्रस्तुत कविता में रचनाकार किसी अन्य की पीड़ा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बना रहा है, बल्कि वह तो स्वयं को क्रौंच पक्षी मान रहा है, जिसका बहेलिये ने वध किया है। यहाँ एक मौलिक अंतर स्पष्ट है स्वानुभूति और सहानुभूति का –

"'क्रौंच हूँ मैं'।।/भुक्तभोगी मैं –/तुम्हारे तीर का,/दर्द मेरा –/औ' मेरा संताप/दूसरों के/पाप का मैं भोगता/अभिशाप।"[54]

अतः यहाँ कवि का दर्द बनावटी या काल्पनिक न होकर भीतर कहीं जलते अंगारे–सा है, जिसकी आँच से साहित्य की गरिमा और उसकी प्रामाणिकता का विस्तार होता है। अर्थात् 'दलित किसे माना जाए' उक्त कविता इस प्रश्न का समाधान कर सकती है और इन पंक्तियों में लेखक का यह सच व्यष्टि का होकर भी समष्टि का अर्थात् समाज का सच बन जाता है। इसके अतिरिक्त यह कविता सिर्फ पीड़ा की ही अभिव्यक्ति नहीं करती, बल्कि आशा भी जगाती है –

"स्वयं पीड़ित –/स्वयं ही हूँ साक्ष्य।/प्रेक्षकों पर/है नहीं विश्वास।/न्याय बेला/ आ रही है पास।"[55]

अतः यह क्रौंच अर्थात् दलित किस तरह दूसरों के पाप का फल भोगता है, न्याय में विश्वास रखता है, दृष्टव्य है।

उनकी **'ढोंग'** नामक कविता में भारतीय सामाजिक संरचना पर व्यंग्य है। गाय के माध्यम से गरीब आदमी की स्थिति को दर्शाया है, गाय निरीह होती है, दूध देती है, उसका बछड़ा बड़ा होकर बैल बन कोल्हू के काम आता है, उसी प्रकार गरीब आदमी भी आदमी की शक्ल में निरा गाय है उसकी संतानें भी पीढ़ी–दर–पीढ़ी बैल के समान पूँजीपतियों के काम करते–करते अपना जीवन बिता देते हैं। यह भारतीय समाज व्यवस्था का दुर्गुण है –

"अपनी संतानें/इंसानी शक्लों में/बैल बनने के लिए/मूर्खता के कोल्हू में/जुतने खपने के लिए/पीढ़ी–दर–पीढ़ी/बैल ही बने थे हमारे/पूर्वज हम/और संताने भी/और तुम/ स्वामी अनुदार/ढोंगी अपार।"[56]

'फरेब नहीं' नामक कविता में भी लेखक ने दलितों, नारियों व दलित कवियों के उत्पीड़न को बखूबी उकेरा है –

"श्रमिकों का –/शोषण, स्त्रियों का/वस्तुकरण/दलितों और अवामी –/कवियों की –/ गर्दनों पर वैसे ही है/जैसे –/वक्षस्थल में –/पशुओं की गर्दनों पर आरा है।"[57]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' एक ओर तो **'अंधेरा समाज का'** नामक कविता के माध्यम से सामाजिक विद्रूपता को उजागर करते हैं। जिसमें माँ–बाप की विवशता है अंधी लड़की के साथ साठ वर्ष का बूढ़ा जबरदस्ती करता है। माँ–बाप इसे नियति मानकर चुप होकर बैठ जाते हैं। लड़की तो बेचारी अंधी है और चाहती है कि उसकी आँखें ठीक हो जाएँ वह सब कुछ देखें किंतु यहाँ रचनाकार पितृसत्तात्मक समाज के अंधेपन की ओर संकेत कर रहा है –

"लड़की के मां–बाप ने –/नहीं सिखाया विरोध/मान लिया बोझ और/कर लिया सब्र।
/लड़की मन की,/आँखों से देखती है/और आँखों में झोंकी हुई धूल/साफ करना
चाहती है/क्योंकि अंधेरा/कुदरत का नहीं, समाज का है।"[58]

तथा दूसरी ओर वे दलितों पर होने वाले अत्याचारों से पीड़ित होकर सब तरह की असमानताओं और दासताओं के विरुद्ध एक आंदोलन छेड़ने का आह्वान **'अंधेरा चीरने की शक्ति'** नामक कविता में करता है –

"एक दिन/टकरा गया इंसान/क्रूरता की/थी उसे पहचान/और उसने/कर दिया विद्रोह/तोड़ दी कुछ बेड़ियाँ/खोले गये कुछ द्वार/रास्ते खुद/कर लिये तैयार/और बच्चों को बताया सत्य/बेड़ियों को/काटने का राज/और अंधेरा/चीरने की शक्ति।"[59]

भारत में महाजनी प्रथा का इतिहास बड़ा पुराना है। मुगल आए, फिर ब्रिटिश आए, कितने साम्राज्य लेकिन यह प्रथा आज भी नहीं बदली। इसकी सर्वाधिक मार गरीब व वंचित दलितों पर पड़ी है। श्यौराज सिंह 'बेचैन' की ऐसी अनेकों कविताएं हैं जिनमें दलितों की आर्थिक पराधीनता की पीड़ा की अभिव्यक्ति मिलती है। पुत्र के बीमार पड़ने पर रोजी–रोटी की समस्या से जूझ रही माँ वैद्य को देने के लिए पैसे कहाँ से लाए। इसी चिंता में डूबी माँ कवि के कंठ से **'लोक मल्हार'** नामक कविता में गा रही है –

"कड़वी, दुखीली,/बैरिन रात है।/रोजी–रोटी की/उलझन खास है।/मेरी बहना ललुआ/पड़यौ है बीमार/नकद माँगे वैद्य जी ..... मेरी/करजा में गिरवी/खेती बाप की/माया है पटवारिया/के बाप की/मेरी बहना/पुलिस, वकीलन की मार,/पड़ी है मोपे बेतुकी।"[60]

स्वतंत्रता के बाद भी दलित आर्थिक उत्पीड़न व शोषण से मुक्त नहीं हो पाया है। इन्हीं भावों को **'जुल्म जारी भी है'** नामक कविता में लेखक चिंता अभिव्यक्त करते हुए लिखता है कि आज गाँव का बेरोजगार आदमी शहर की ओर भाग रहा है। भूमिहर, पटवारी आदि उसकी जमीनें हड़पने में लगे हुए हैं। जमींदारों के कब्जे से होरी आज भले ही आजाद है, किंतु उस पर जुल्म यथावत जारी हैं – हाँ शोषण के तरीकें जरुर बदल गये हैं। दूध–मुँहे बच्चे को पीठ पर बाँधकर 'धनिया' बीमारी की अवस्था में आज भी काम पर जाने को मजबूर है। अनपढ़ बिटिया आज भी विवाह के लिए बैठी है। डेमोक्रेसी है किंतु होरी पर आज भी जुल्म हो रहे हैं –

"अब उसके खेत का,/टुकड़ा कुतरने में लगा है भूमिधर/उसकी बरबादी का –/जिम्मेदार पटवारी भी है। वह मजूरी गाँव –/में देखे या भागे शहर को/हो गया आजाद –/'होरी'/पर जुल्म जारी भी है।"[61]

कवि श्यौराज सिंह 'बेचैन' **'जब तलक आयेगी'** नामक कविता में चिंतित दिखलाई पड़ते हैं चूँकि दलितों पर होने वाला सामाजिक व आर्थिक उत्पीड़न सदियों से चला आ रहा है। न जाने कब इससे मुक्ति मिलेगी जब तक बहुत देर हो जाएगी। इन्हीं भावों को अभिव्यक्त करता हुआ कवि लिखता है कि –

"वह सदी/जब तलक आयेगी/इस हाड़ –/मांस के पिंजर को/बेरोजगार –/को,
बेघर को/महंगाई –/गरीबी/बच्चों की गर्दनों/को कसती जायेगी।"[62]

आजादी के बाद आज भी दलितों, पीड़ितों, उपेक्षितों, गरीबों की स्थिति में परिवर्तन नहीं आया है। **'खून हमारा'** में रचनाकार कहता है कि –

"लेकिन हम पाकर/आजादी/खुद ही बने खड़े/फरियादी/सारा अंधकार –/पी बैठे/फिर भी हम/भूखों के बेटे/बढ़ती भूख/उन्हें खा जाये/हे प्रभु !/ऐसी प्रलय न आये।"[63]

उक्त पंक्तियों में कवि ने दबे स्वर में उस रक्त क्रांति की आशंका को भी व्यक्त किया है जिसमें मानव का रक्तपात होता है जोकि देश के वर्तमान हालात बयाँ करने के लिए पर्याप्त हैं। इसी तरह उनकी **'सपना'** नामक कविता में आर्थिक विपन्नता दिखाई पड़ती है और कवि लिखता है कि –

"किराया नहीं/दे सका 'मेहनती राम'/मकान–मालिक/ने उठाया सामान/फेंक दिया सड़क पर/पूरी हिकारत के साथ।"[64]

दलित जीवन के जितने कटु अनुभव कवि श्यौराज के पास हैं, उतने शायद किसी ओर दलित लेखक के पास हों। उनकी आत्मकथात्मक कविताएं मनुष्य की संवेदना को गहरे तक झकझोर देती है। इन कविताओं में **'अपराधबोध'**, **'मजूर'** तथा **'मातृ–ऋण'** नामक कविताएं उल्लेखनीय हैं। जिनमें कवि अपने बचपन के कटु अनुभवों को भूलना चाहता है और सोचता है कि उसका दुःख भरा बचपन कभी लौट कर न आये। उनकी 'मातृ–ऋण' नामक कविता का अंश देखिए –

"पेट भरने के –/लिए क्या–क्या नहीं/मैंने किया ?/ज्ञान की थी/भूख मेरे साथ।/लोग बचपन के/लिए आवाज देते हैं/कि वह लौटे –/उजालों की करे बरसात।/पर ओ !/मेरे दुखों भरे बचपन/न आ, नहीं लौटा –/पुराने दर्द, काली रात।"[65]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' को अपने जीवन में इतनी कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा कि उन्हें छोटी–सी उम्र में ही अपनी रोटी की व्यवस्था खुद करनी पड़ती थी चूँकि पाँच–छह वर्ष की अवस्था में ही उनके सिर से पिता का साया उठ गया था। उन्होंने अपनी **'दर्द समेट लिखा मैंने'** नामक कविता में भूख व गरीबी से जुड़ी समस्या पर विचार किया है –

"मादक लगी न रात,/दुखों की, साधक लगीं न स्मृतियाँ।/सूरज ठंडा लगा/धूप–सा जलता साँच लिखा मैंने।/कामिनी–कटि से लिपट/श्यामल केशों को सुलझाना क्या ?/इस रोमांटिक/ख्वाब से खुद को/अक्सर दूर रखा मैंने।/गीत चाँदनी पर/लिखने का/मन था पर मौका/तो न था/चाँद लगा रोटी का/टुकड़ा, भूखे पेट लिखा मैंने।"[66]

डॉ. गोबिंद प्रसाद का इस कविता के विषय में कथन है कि – "दलित कविता का यह संग्रह कटि कामिनी के श्यामल केशों के रूमानी ख्वाब से नहीं बुना गया है। न इसमें चाँदनी के गीत हैं बल्कि यह भूखे पेट से निकले जलते सच की कविता है।"[67]

अतः दलितों की आर्थिक पराधीनता उनकी सामाजिक स्थिति का प्रतिफलन है। वर्णव्यवस्था में दलितों का स्थान और उनकी आर्थिक विपन्नता एक–दूसरे से गुंथी हुई है।

दलितों की आर्थिक पराधीनता को दूर करने के लिए कवि ने बताया है कि प्रत्येक घर में स्त्री–पुरुष को कमाना अनिवार्य है जब दोनों कमाने जायेंगे तभी उनका आर्थिक स्तर ऊँचा उठ सकता है। उनकी **'टिकाऊ पति'** नामक कविता में बेरोजगार युवक की वैवाहिक समस्या को मुखरित किया गया है और लड़कियों का एक घरेलू लड़की बनना एक विडंबनात्मक समस्या है। कवि कहता है कि आज के युग में पति–पत्नी दोनों कमाएं तो आर्थिक संकटों का सामना कुछ हद तक किया जा सकता है। साथ ही घर गृहस्थी के निर्वाह में संयुक्त भागीदारी और जिम्मेदारी बन जाती है। यह कविता व्यंग्य–विनोद की विधा में लिखी गई है। अधिकांश दलित गृहस्थियों की गाड़ी एक ही पहिए पर चल रही है। कमाने–खाने में संयुक्त हिस्सेदारी से पति–पत्नी होने का दायित्व–बोध बढ़ता है और उनके व्यक्तियों की पहचान भी बनती है। कम से कम दलितों की नई पीढ़ी में लड़की अथवा बहू का वर्किंग होना संभव है –

"दुल्हनें खुद भी कमाएँ/दुल्हे, जो बेरोजगारी के कारण/गृहस्थी से पलायन कर रहे हैं/उन्हें टिकाऊ पति बनाएँ।"[68]

उक्त पंक्तियों में स्त्री–पुरुष की समानता व स्त्री को भी स्वतंत्रता प्रदान की गई है। अतः कवि स्त्री चेतना के प्रति सचेत है।

हिन्दू धर्म के उन्नायकों ने ईश्वर के नाम पर दलितों को पशुओं से बदतर स्थिति तक पहुँचा दिया है। डॉ. अम्बेडकर से लेकर वर्तमान तक के सभी दलित चिंतक इस धार्मिक पाखण्ड से मुक्त हुए बिना दलितों का उद्धार होगा, ऐसा नहीं मानते। जैसे–जैसे दलित समाज शिक्षित हो रहा है, उसमें चेतना आ रही है। वह इस धर्म और उसके उपकरण यथा ईश्वर, आत्मा–परमात्मा, स्वर्ग–नरक श्राप तथा इनके क्रीडा स्थल मंदिर आदि, जहाँ पर धर्म के नाम पर व्यभिचार या शोषण होता है, उसका पर्दाफाश करते हैं। बेचैन की **'मन्दिर–मन्दिर'** नामक कविता में बड़े राम मन्दिर के निर्माण के लिए कई छोटे–छोटे शिव मन्दिरों के तोड़े जाने पर देखिए कैसी टिप्पणी करते हैं –

"छोटे–छोटे/क्योंकर टूट रहे हैं।/रामेतर सब देव/हो रहे बेघर सारे/बेचारे हैं/आम आदमी की हालत में/राजा राम तुम्हारे/मन्दिर की चिंता में/उजड़ी दुनिया भिक्षुक प्रभु/शिवशंकर की।"[69]

इसी प्रकार श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'चेला'** नामक कविता धार्मिक आडंबर को अभिव्यक्त करती है। यह छोटी कविता अपने आप में एक बड़ा कथानक समेटे हुए है। पारिवारिक दायित्वों से मुँह चुराकर पलायन कर जाने वाले लोग साधु–सन्यासियों का स्वांग भरकर समस्त वैभव लूटते रहते हैं। ऐसे लोगों की मानसिक–प्रवृत्ति का इसमें यथार्थ चित्रण है। एक हट्टा–कट्टा व्यक्ति पारिवारिक जिम्मेदारियों से तंग आकर सन्यास ग्रहण कर लेता है। आश्रम के वैभव एवं सुख–सुविधाओं को देखकर वह दंग रह जाता है। सन्यासियों की किस प्रकार चाकरी में लोग लगे रहते हैं, उनकी बातें सुनते हैं यह सोचकर वह भी आश्रम में रह जाता है। चतुर चेला एक दिन अपनी पत्नी को भी आश्रम ले आता है। आश्रम के सन्त यह देखकर आगबबूला हो जाते हैं तब चेला बड़े ही अकाट्य तर्क देकर सन्त को निरुत्तर कर देता है कि – गुरुदेव मैं अपनी पत्नी को तो अपने पास रखूँगा मगर उसमें आसक्त नहीं होऊँगा।

"आग–बबूला/हुआ गुरु, चेला विनम्र था/गुरु मैं इसे रखूंगा,/जैसे 'कामरेड' जाति को रखकर/उसमें लिप्त नहीं होते हैं।/अथवा जैसे 'न्यासी'/धन के संरक्षक होते हैं बेशक पर आसक्त नहीं होते हैं/गुरु मैं इसे रखूँगा/वैसे।"[70]

अतः भारतीय धार्मिक दृष्टि का जो गहरा अर्थ था कि वैभव में रहते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होना, उस दृष्टि का स्वार्थी, प्रपंची और अकर्मण्य लोग किस प्रकार फायदा उठाते हैं, इस कविता में स्पष्ट है।

श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'नशे में हम'** नामक कविता में लेखक ने धार्मिक उन्माद के प्रति विद्रोह अभिव्यक्त किया है कि धार्मिक नशा चाहे 'राम' का हो या 'रम' का हो दोनों ही सिर पर चढ़कर बोलते हैं –

"कभी राम पिया/कभी रम/हर वक्त/'नशे में हम'/मरते हैं तो लोग मरें/सब 'राम' ही 'राम' करें/हमें अपना/होश नहीं/फिर देश का किसको गम/कभी राम पिया कभी रम/हर वक्त/नशे में हम।"[71]

अतः कह सकते हैं कि श्यौराज सिंह 'बेचैन' के पास समाज को देखने की एक अलग दृष्टि है। वे अलोकतांत्रिक मूल्यों से अपने पाठकों को सचेत कराते हुए, समकालीन विडंबनाओं से दो–चार होते दिखलाई पड़ते हैं। वे जातिभेद–सांप्रदायिकता व नारी–उत्पीड़न आदि को देश के लिए खतरा बताते हुए स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व का मार्ग प्रशस्त करते हैं। उनकी कविताओं में पारंपरिक रूढ़ियों के प्रति आक्रोश झलकता है। वे कुरीतियों और अन्धविश्वासों को समाज के लिए घातक मानते हैं।

कवि श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपनी **'कुछ भी नहीं बदलेगा'** नामक कविता में कहते हैं कि खुद–ब–खुद कुछ भी नहीं बदलेगा। भाग्य या भगवान के भरोसे बैठे रहने से किसी भी समस्या का हल नहीं होने वाला। खुद संघर्षरत होना होगा व कर्मशील बनना होगा तभी परिवर्तन संभव है। केवल ईश्वर व परमात्मा में विश्वास करने से नौकरी नहीं लगती, लड़की की शादी नहीं हो जाती या जीवन में कोई सुधार नहीं होगा। इसके लिए स्वयं को प्रयास करना जरुरी है –

"तुम बैठी रहो –/हाथ पर हाथ रखे हुए,/भगवान आयेगा/तुम्हारी नौकरी/तुम्हारी शादी/और घर की कैद से/तुम्हारी आजादी/दिलाने का प्रबन्ध करेगा।"[72]

सामाजिक विषमता का दंश झेल रहे अपने भाई–बहनों को उद्‌बोधित करते हुए कवि श्यौराज **'अफसोस'** नामक कविता में धार्मिक आध्यात्मिकता के प्रति अफसोस जाहिर करते हैं –

"उफ्फ तुम/अभी भी खड़े हो/कतार, दर कतार/पीढ़ी, दर पीढ़ी/मन्दिर के बाहर।/मेहतर–महार/पासी चमार/चार हजार साल से/दर्शनाभिलाषी बने/गाँव–बस्ती से/तिरस्कृत और बहिष्कृत/आ खड़े हुए हो/प्रभु के आँगन में।"[73]

कवि बेचैन इस देश की बदहाली के लिए तथाकथित पुरातन महान संस्कृति को जिम्मेवार मानते हैं। इस तथाकथित महान संस्कृति में दलितों, स्त्रियों के लिए कोई स्थान नहीं है। अनेक अंधविश्वास पैदा कर एक वर्ग विशेष मौज उड़ाता है। कवि ने इन धार्मिक पाखंडों को सचेत करने के लिए **'घोर अन्धकार है'** नामक कविता का सहारा लिया है। वे भगवान के ढोंगी भक्त बाबाओं को लताड़ते हैं जो भाग्य, किस्मत, स्वर्ग–नरक का जाल फैलाकर अकर्मण्यता का वातावरण तैयार करते हैं –

"साधुओं का भेष आज/डाकुओं का भेष है/दुखी बहुत और चन्द खुश/तो क्या स्वतन्त्र देश है ?/साधना के म्यान में भी/वासना कटार है/जलाओ दीप साथियो/कि घोर अन्धकार है।/जाति, धर्म, मजहबों के/नाम पर लड़ाइयाँ/बेकसूरवार लोग/सह रहे तन्हाइयाँ/मन्दिरों और मस्जिदों/की आड़ में प्रहार है। जलाओ दीप साथियो/कि घोर अन्धकार है।"[74]

कवि यहाँ मंदिर व मस्जिद को षड्‌यंत्र का ठिकाना मानता है, जिनकी आड़ में दलितों पर प्रहार होते हैं। अतः कवि यहाँ धार्मिक पाखंड के छल–कपट का पर्दाफाश करता है।

श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताओं में जो खास बात है, वह कवि की वह आस्था है जिसमें वह परिवर्तन के लिए मुतमईन है। लेकिन कवि जनता है कि यह परिवर्तन अपने आप नहीं आएगा। इसके लिए व्यक्ति और व्यक्ति समूह दोनों को प्रयास करना पड़ेगा। समस्त जनता को यहाँ कर्मशील बनने के लिए भी प्रेरित किया गया है। अर्थात् पुरुषार्थी मनुष्य भाग्य के भरोसे न बैठकर हालात को बदलने का प्रयास करता है, अपने

इस अहसास को लेखक **'कुछ भी नहीं बदलेगा'** नामक कविता में इस प्रकार अभिव्यक्त करता है –

"बैठे–बिठाये/पूरी नहीं हो सकती/किसी कामगार की इच्छा।/मुझे बेचैनी है –/ठहराव के विरुद्ध,/मुझे अहसास है जीवन में खुद–ब–खुद/कुछ भी नहीं बदलेगा।"[75]

'अफसोस' नामक कविता के माध्यम से लेखक दलितों की सोई हुई सामाजिक चेतना को जगाने का प्रयत्न करता हुआ लिखता है कि –

"पचास साल पहले/घुस जाना चाहिए था/स्कूलों, कॉलेजों और/साहित्यिक अध्यायों में,/मीडिया संस्थानों में/साधिकार।/आज तुम्हें/होना था पूरा नागरिक/आरक्षण–संरक्षण/की जरूरतों से ऊपर।/तुम्हें होना था/प्राध्यापक, वैज्ञानिक/राजनेता, कलाकार और पत्रकार।"[76]

उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से दलित विषयक कल्याणकारी नीतियों की विडंबना से असंतुष्टि का प्रकटीकरण भी होता है। इसलिए कवि अवाम को अपने अधिकारों के प्रति आवाज उठाने के लिए प्रोत्साहित करता हुआ, हिस्सेदारी का प्रश्न उठाता है और शिक्षा पर भी बल देता है।

स्वतंत्र भारत में दलितों एवं स्त्रियों की समस्या का उचित समाधान नहीं हुआ है। देखा जाए तो दकियानूसी विचारों के लोग स्त्री और दलित को आजादी दिलाने के हिमायती नहीं हैं। आज भले ही देश स्वतंत्र है, लेकिन फिर भी दलित एवं स्त्री की स्वतंत्रता और इनकी सुरक्षा का प्रश्न चुनौती बना हुआ है। बेचैन अपनी **'नारा बस'** नामक कविता में समाज की यथार्थपरक स्थिति को बड़ी बखूबी से चित्रित करते हैं और इसके माध्यम से जनता में चेतना जगाते हैं –

"वर्दियों के साये में/पनपते हों अपराध/भ्रष्ट अधिकारियों/का जहाँ बोलबाला हो।/देश की स्वतन्त्रता/वहाँ विडम्बना है जहाँ/रौशनी की भीख/अन्धकार देने वाला हो।"[77]

सत्ता व राजनीति मानव की प्रत्येक क्रिया को प्रभावित करती है। फिर साहित्य इससे कैसे अछूता रह सकता है। श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने भारतीय राजनीति को एक सजग नागरिक की भाँति देखा–परखा है तथा अपने निष्कर्ष दिए हैं। उनकी चिंता यह है कि प्रत्येक राजनैतिक पार्टी अम्बेडकर का गुणगान तो कर रही है लेकिन दलितों के अधिकारों की बात नहीं कर रही है जिसके कारण दलितों का शोषण घटने की बजाय बढ़ता जा रहा है। जिसके परिणामस्वरुप भारत की जनता को महंगाई, अभाव, गरीबी, बेकारी, भ्रष्टाचारी जैसी अनेकों समस्याओं से जूझना पड़ रहा है।

आज के चरम अवसरवादी युग में राजनीतिक दलों के सिद्धांतों में छिपे उनके व्यक्तिगत स्वार्थ को दलित कवियों ने पहचान लिया है। दलितों के सामाजिक उत्थान और विकास हेतु उन्हें मुख्यधारा में लाने हेतु जब भी उन्हें अतिरिक्त सुविधा दी जाती हैं राजनीतिज्ञों का एक वर्ग बौखला उठता है, क्योंकि दलितों के हम कदम बन जाने पर भारतीय समाज और राजनीति में उन्हें अपना सिंहासन जलता हुआ सा लगता है। भारतीय राजनीति के इस दोहरे मानदण्ड को श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'जिन्दा लोग'** नामक कविता में देखा जा सकता है –

"लोग मिले उजले कपड़ों में/मन के काले लोग मिले/मरज मुफलिसी का फैलाते/पैसे वाले लोग मिले/नाम पै मन्दिर और मस्जिद –/के खाते चन्दा लोग मिले/कुर्सी वाले, बंगलों वाले/खादी वाले लोग मिले/दहेजरोधक दस करोड़ –/की शादी वाले लोग मिले/मतलब की बारूद से युग को/करते अन्धा लोग मिले।"[78]

अतः कांशीराम व मायावती के प्रभाव ने दलितों द्वारा सत्ता पर कब्जा करने की पहल ने गैर–दलितों राजनीतिज्ञों और विचारकों को सकते में डाल दिया है।

उनकी **'भूकंप'** नामक कविता में राजनेताओं की दोगली मनःस्थिति का चित्रण है। भूकंप पीड़ित क्षेत्र का दौरा करने गए नेताजी मरे हुए लोगों के प्रति सहानुभूति रखने के बजाय यह सोचकर दुःखी हो रहे हैं कि मृतकों में ज्यादातर वे लोग मरे हैं जो उनके वोटर हो सकते थे, क्योंकि उन्होंने कंबल और पैसे उन्हें ही बाँटे थे। यहाँ कवि ने वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था के प्रति उपेक्षा प्रकट करते हुए करार व्यंग्य किया है –

"पिछली बार जिन्हें/बाँटे थे कम्बल, पैसे।/उन सब में तो/वोट हमारे पक्के ही थे।/अरे विधाता/देख लिया यह न्याय तुम्हारा।/उसके मतदाता/जिन्दा हैं,/पर मेरे वोटर को मारा।"[79]

श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'गाँव का खत'** नामक कविता वर्तमान व्यवस्था की पोल खोलती है। यह एक छोटी–सी कविता देश में फैले तमाम क्षेत्रों के भ्रष्टाचार को बेबाकी से उद्घाटित करती है। बंधुआ मजदूरों की समस्या, गाँव के मुखिया की मनमानी, स्कूलों की दुर्दशा, जातिवाद के आधार पर वोट की राजनीति ये तमाम समस्याएँ इस कविता में हैं। दलितों पर होने वाले अत्याचार के तमाशे को पुलिस प्रशासन देखता रहता है। बड़ा आदमी अपराध में लिप्त होने के बावजूद भी पकड़ में गरीब आदमी आता है। लोकतान्त्रिक देश में वोटर को मर्जी से वोट डालने का हक भी नहीं है, यह कैसा लोकतन्त्र है ?

"नेता, चोर, शरीफ आदमी,/सब थाने आते–जाते हैं।/अपराधी कोई हो लेकिन,/पकड़े तो निर्धन जाते हैं।/गाँव का एका तोड़ रहे हैं,/गलत सियासत करने वाले।/बस्ती की बस्ती स्वाह कर दें,/वोट अगर मर्जी से डाले।"[80]

अर्थात् देश के लोकतन्त्र में जहाँ लोकमंगल की भावना सर्वोपरि होनी चाहिए। वहीं लोक गायब है, बचा है सिर्फ छल–प्रपंच। इंसान मात्र एक वोटर बनकर रह गया है। वर्तमान सत्ता व राजनीति के दांव–पेंच में मानवीय संवेदना कहीं नहीं बची है, यह भाव बेचैन की **'मतदाता'** व **'हम होने वाले सांसद हैं'** नामक कविता में झलकता है –

"काश मतदाता/मरते रहें,/कटते रहें,/और हम –/करते रहें/जुगाली।/बाग को–/उजाड़ें/और–/कहलायें माली।"[81]

इसलिए लेखक अपनी 'मतदाता' नामक कविता में ही आजादी को सर्वोपरि मान रहे हैं –

"वो मुझे मान भी दें/प्यार भी दें, शोहरत भी।/मेरी आजादी न देंगे/तो कुछ नहीं देंगे।"[82]

इसी प्रकार उनकी **'आजादी अभी ?'** नामक कविता सहृदय पर सीधा प्रभाव डालती है। इस कविता में अभिव्यक्त है कि आजादी के बाद भी मेहनतकश दलितों, भूमिहीनों और व्यवसायहीनों की समस्याएं समाज में ज्यों की त्यों विद्यमान हैं। शोषक–शोषित का संघर्ष भी बेचैन जी की कविताओं में सतह पर उभर कर दिखता है। वर्तमान में समाज में ऐसी बहुत–सी समस्याएं व्याप्त हैं इसलिए कवि कह उठा – 'आजादी अभी अधूरी है'। सत्ता व राजनीति की पोल खोलती 'हम होने वाले सांसद हैं', नामक कविता की पंक्तियाँ देखिए –

"महँगाई, तबाही बढ़ती रहे।/जनता आपस में लड़ती रहे।/मण्डल औ' कमण्डल चलते रहें।/दलितों के गाँव–घर जलते रहें।/सिंकती है सियासती को रोटी।/यह देख के हृदय गद्‌गद हैं।/हम होने वाले सांसद हैं।/बेटों को विरासत में कुर्सी/पोतों को जखीरे दौलत के।/सब कुछ लेकर निर्लिप्त हैं हम।/एक बार चुने फिर चुनते गये।/वोटर तो हमीं से सहमत हैं।/हम होने वाले सांसद हैं।"[83]

लेखक की **'प्रगति'** नामक कविता में भी प्रगति की झूठी बात करने वाले लोगों पर व्यंग्य किया गया है। लोग आधा पेट खा रहे हैं, अंधकार में रहने को मजबूर हैं, गाँव और शहर दरिद्रता में जी रहे हैं, फिर भी लोग प्रगति की बात कर रहे हैं –

"शोषितों की हड्डियों पै,/हो रही कबड्डी आज/सुविधाभोगी प्रगति की/दौड़ बतलाते हैं।"[84]

श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने **'वोट पक्के'** नामक कविता में चुनाव में खड़े प्रत्याशी नेतागण कैसे जनता के समक्ष झूठे वायदे करके वोट पक्के करते हैं, इसका प्रत्यक्ष चित्रण किया है –

"निर्वाचन/नजदीक देखकर/नेता अखबारों की/सुर्खियां चूँसता है।/क्षेत्र में आने–जाने/वालों से पूछता है/'मेरे क्षेत्र' में/दंगा क्यों नहीं हुआ ?/एक भी कत्ल नहीं/बलात्कार भी नहीं/यानी कोई हादसा नहीं/तो कौन लेगा,/सहानुभूति।/मौत का हरजाना।/इस के बगैर –/कैसे जुटायेंगे भीड़/क्यों करें/इलाके का धुआँधार दौरा।/कैसे करें/बिरादरी में वो पक्के।"[85]

देश में राममन्दिर को लेकर हो रही राजनीति को लेकर रचनाकार की पीड़ा अभिव्यक्त हुई है। **'आम और राम'** नामक कविता में सारी राजनीतिक चेतना मानो राम पर ही आकर टिक गई है –

"राम सियासी/रोजी–रोटी/अन्य देव हो रहे उपेक्षित/जैसे इस/दुनिया
के/आम–खास में अन्तर/दोनों हैं बरबाद/अजी हां, दोनों बेघर।"[86]

इसी प्रकार **'दो शिकार'** नामक कविता में भी स्पष्ट है कि नेता समस्याओं को सुलझाना नहीं चाहते। देश की जनता को बेवकूफ बनाते रहते हैं –

"एक–एक तीर से/दो–दो शिकार/डालते हैं हड्डियाँ/लड़ाते हैं श्वान/लड़ते हैं
श्वान/मरते हैं इंसान/हमारे पक्ष में/बढ़ जाता है मतदान।"[87]

इसी प्रकार वे अपनी **'स्थिति'** नामक कविता में सत्ता व राजनीति की स्थिति पर चोट करते हुए नेताओं की दोगली नीतियों की पोल खोलते हैं –

"ढपोरशंख से –/वायदे ही वायदे करते हैं।/वाक् पटु हैं,/अतिभाषी हैं/मत लेने में सिद्धहस्त वे/बकवासी हैं/सिर्फ मुखरता से ही/मसले हल करते हैं।/दलित हितैषी/मितभाषी हैं।/मौनी बाबा/मुँह में जुबां/नहीं रखते हैं ?/बात जरूरी भी/कहने की हो तब भी/कहा नहीं करते हैं ?"[88]

'युद्ध टालना होगा' नामक कविता में कवि ऐसे ही दलित नेताओं के चरित्र को स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार उनमें अपने समाज के नेतृत्व की समझ भी नहीं होती है। वे नेता तो दलितों के होते हैं परंतु उनका व्यवहार सवर्णों जैसा ही होता है –

"दलित अपने कर्मों से/दीन है/पूरा बहिष्कृत भारत/नेतृत्व विहीन है/नेता उनके हैं
–/जो दल उन्हें चुनवाते हैं/दलित की देह में भी वे/अदलित ही हो जाते हैं।"[89]

कवि श्यौराज दलित जीवन और दलित सपने को अपना काव्य विषय बनाते हैं, इसके साथ ही दलितेत्तर विषयों पर भी उनकी दृष्टि जाती है और वे बेबाकी से कहते हैं कि कला, साहित्य, राजनीति आदि क्षेत्रों पर जो लोग काबिज हैं अथवा सफल हैं, वे

प्रायः गलत लोग हैं। श्यौराज सिंह 'बेचैन', **'शिखर पर'** नामक कविता में लिखते हैं कि –

"साहित्य में घाघ/कला में कपटी/सियासत में शातिर/मीडिया में/मठाधीश/सिनेमा में/शिखर पर हैं/संसद में/मनोनीत/लोकतन्त्र के/माई–बाप/सर्वेसर्वा/अपने आप।/देश के सपने/देश की सुविधाएँ/देश के साधन/सब के सब/उनके घर पर हैं/वे शिखर पर हैं।"[90]

कवि यहाँ विभिन्न क्षेत्रों में फैले छल–प्रपंच, मोह–माया, शोषण, भ्रष्टाचारी आदि को उजागर करता है। अतः सभी ओर यही षड्यंत्र विद्यमान है जिससे कवि अवाम को अवगत कराता है। दलितों को केवल अवसर पर स्वार्थ हेतु अपनाना, भाईचारे का झूठा स्वप्न दिखाना और मतलब निकल जाने पर उन्हें भूल जाना और पुनः उनका शोषण करना तथाकथित सवर्णों का यही कर्त्तव्य रहा है। अर्थात् ये वर्णव्यवस्था के पोषक अपने भौतिक सुख–सुविधाओं में खोकर अपने कर्त्तव्यों से भी हाथ धो लेते हैं और उनका शोषण करने से भी नहीं हिचकते।

'इक्कसवीं सदी की ओर' नामक कविता में रोजमर्रा की दिक्कतों से जूझते हुए और समय से मुठभेड़ करते हुए लोगों के दुःख उभरकर आए हैं। इक्कसवीं सदी में भी दलितों और स्त्रियों की स्थिति हजारों सालों पहले जैसी है। उनकी शिक्षा व बराबरी का प्रश्न यथावत बना हुआ है। इस कविता में लेखक दलितों की शिक्षा का प्रश्न उठाते हैं –

"19वीं के अन्त में/सबसे अपढ़ हैं हम/नहीं जीविका के साधन/और घर–ब–दर हैं हम/यह राज है पर्दे का/बाहर बताएँ क्या !/इक्कसवीं सदी में/ऐसे ही जाएँ क्या ?"[91]

श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताओं की विशेषता यह है कि वह जिन्दगी का इतना जहर पीकर भी कटु नहीं होते। उन्हें लगता है कि उनसे बदतर जीवन जीने वाले भी कुछ लोग हैं, बस उन्हें उनकी चिंता है। वे अपनी **'मुँह खोलो'** नामक कविता में लिखते हैं कि –

"इन आँखों के/सपने तो टूट गये लेकिन।/जिन आँखों में/जन्मे ही नहीं, उनकी सोचो।/तुमने तो/कह ली/अपनी और पराई भी/अब खोल/सको तो/बेजुबान का मुँह खोलो।"[92]

पत्रकार अनिल भास्कर ने लिखा है कि – "आम आदमी से होकर गुजरती हैं बेचैन की कविताएँ – समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों व सामान्य जन समस्याओं का कवि ने निकट से अवलोकन किया है। इन्हें अपनी रचनाओं की रीढ़ बनाया है। व्यंग्यात्मक लहजे में उनकी निराली तस्वीरें खींची हैं। इनकी कविताओं से गुजरने पर आभास होता है कि कवि बेचैन में कलावाद के प्रति कोई मोह नहीं है, न ही भाषा की दुरुहता। सही अर्थों में वे जन कवि हैं, उनकी कविताओं में कष्टमय जिन्दगी बोलती है।"[93]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपने समय के तीव्र, सघन और पारदर्शी संवेदना के कवि रहे हैं। जो अपने परिवेश और वर्तमान के साथ आगामी काल के कठिन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि मुद्दों से पूरी तरह परिचित थे। चाहे वे मुद्दे स्थानीय हो या राष्ट्रीय या फिर अंतर्राष्ट्रीय। उनकी संवेदना गहरे सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़ती व उन्हें विकसित करती है। उनके काव्य में इन राजनैतिक, सामाजिक मुद्दों के प्रति संवेदनशीलता व पक्षधरता स्पष्ट देखी जा सकती है।

अतः कह सकते हैं कि डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताओं में काल्पनिक जगत कम, यथार्थ की दुनिया के विविध रूप दिखलाई पड़ते हैं। कवि ने ढर्रे की कविताओं का पूरा पैटर्न ही बदल दिया है। वे दूर भविष्य का संदेश देती हैं। अर्थात् वे एक रास्ता ऐसा बना रहे हैं जो युगांतरकारी होगा और दलित कविता इसका अनुकरण करेगी।

संदर्भ सूची

1. भारती, कंवल, *दलित कविता का संघर्ष*, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2012, पृ.13
2. बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), सहयोग प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1995, भूमिका से
3. बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), भूमिका से
4. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2014, पृ. 9
5. वही, पृ. 15
6. सिंह, गोपेश्वर, निकष – जनवाद और आम्बेडकरवाद के बीच से गुजरती कविताएं, *युद्धरत आम आदमी* (कथामसिक पत्रिका), मई 2017, पृ. 87
7. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 9
8. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 22
9. वही, पृ. 33
10. वही, पृ. 22
11. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 112
12. वही, पृ. 112–113
13. वही, पृ. 113
14. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 27
15. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 126
16. वही, पृ. 93
17. वही, पृ. 156–157
18. वही, पृ. 153
19. वही, पृ. 54
20. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 36
21. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 55
22. वही, पृ. 55

23. वही, पृ. 57–58
24. वही, पृ. 116 –117
25. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 48
26. वही, पृ. 48–49
27. वही, पृ. 25
28. वही, पृ. 33
29. वही, पृ. 42–43
30. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *चमार की चाय* (काव्य–संग्रह), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2017, पृ. 61–62
31. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 56
32. बड़गूजर, डॉ. राजेन्द्र, लेख – वर्तमान समय का अपरिहार्य कवि, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन', *चमार की चाय* (काव्य–संग्रह), पृ. 22
33. 'स्नेही', प्रो. कालीचरण, लेख – श्रम और संघर्ष के आस्वाद की कविताएँ, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 39
34. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *मेरा बचपन मेरे कंधों पर* (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वि. सं. 2013, पृ. 343
35. वही, पृ. 338
36. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 19
37. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *चमार की चाय* (काव्य–संग्रह), पृ. 55–56
38. वही, पृ. 54
39. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कविता – जो नहीं बदला जा सकता, *दैनिक जनसत्ता*, 2 सितंबर 2007
40. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 91
41. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 19–20
42. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *चमार की चाय* (काव्य–संग्रह), पृ. 118
43. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 28
44. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *चमार की चाय* (काव्य–संग्रह), पृ. 147
45. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 42

46. वही, पृ. 47–48
47. वही, पृ. 44
48. वही, पृ. 24
49. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 24
50. वही, पृ. 56
51. वही, पृ. 56
52. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *चमार की चाय* (काव्य–संग्रह), पृ. 184
53. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 37
54. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 21
55. वही, पृ. 21
56. वही, पृ. 30
57. वही, पृ. 39
58. वही, पृ. 24
59. वही, पृ. 34–35
60. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 59–60
61. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 36
62. वही, पृ. 43
63. वही, पृ. 38
64. वही, पृ. 32
65. वही, पृ. 54
66. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 94
67. प्रसाद, डॉ. गोबिंद, लेख – श्यौराज की कविता : धूप में जलते सच की कविता, *सम्यक भारत* (मासिक पत्रिका), नवंबर 2012, पृ. 172
68. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 64
69. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 29
70. वही, पृ. 28
71. वही, पृ. 49–50

72. वही, पृ. 30–31
73. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 43
74. वही, पृ. 69–70
75. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 31
76. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 43
77. वही, पृ. 88
78. वही, पृ. 128
79. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 21
80. वही, पृ. 20
81. वही, पृ. 26
82. वही, पृ. 26
83. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 147
84. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 22
85. वही, पृ. 49
86. वही, पृ. 38
87. वही, पृ. 49
88. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *चमार की चाय* (काव्य–संग्रह), पृ. 76–77
89. वही, पृ. 167–168
90. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ* (काव्य–संग्रह), पृ. 47
91. वही, पृ. 63
92. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं* (काव्य–संग्रह), पृ. 53
93. सिंह, डॉ. एन., *दलित साहित्य के प्रतिमान*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, आवृत्ति 2014, पृ. 121

चतुर्थ अध्याय

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में अभिव्यक्त बाल शोषण और दलित जीवन की दास्ताँ

4.1 साहित्य में दलित आत्मकथाओं की विशेषता और आवश्यकता

4.2 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में अभिव्यक्त बाल–शोषण तथा दलित जीवन

4.1 साहित्य में दलित आत्मकथाओं की विशेषता और आवश्यकता

यह एक मान्य धारणा पुष्ट हुई है, हमें लगता है कि आधुनिक युग में जीवन के तथ्यपरक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ है। इस नवीन दृष्टिकोण के आविर्भाव ने चिंतन और दर्शन के क्षेत्रों को प्रभावित करने के साथ–साथ कला और साहित्य पर भी गहरा प्रभाव डाला है। आज कल्पना–प्रधान कथात्मक साहित्य की तुलना में आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, डायरी, रिपोर्ताज, साक्षात्कार साहित्य आदि तथ्यपरक विधाओं का अधिक विकास हो रहा है। यद्यपि कल्पना प्रधान साहित्यिक विधाओं में सौंदर्यतत्व की प्रधानता रहती है, किंतु तथ्यपरक विधाओं में सत्य और तथ्य का प्रामाणिक आधार होने के कारण प्रमाता के अंतर्मन पर जैसा स्थायी और प्रबल संस्कार पड़ता है वैसा कल्पित चरित्रों के द्वारा नहीं पड़ पाता। इसलिए आज के युग में अपेक्षाओं की पूर्ति में समर्थ होने का कारण 'आत्मकथा' और 'जीवनी' आदि यथार्थपरक और तथ्यपरक साहित्यिक विधाओं की तेजी से प्रगति हो रही है और इन्हें वैश्विक मान्यता भी प्राप्त हो रही है। अपितु दलित साहित्य की समाज निष्ठ नवीनता के कारण अपेक्षा कृत पश्चिम के देशों के बुद्धिजीवियों, शोधार्थियों और पाठकों का आकर्षण बढ़ रहा है।

साहित्य में सबसे प्रामाणिक विधा 'आत्मकथा' ही मानी जाती है, किंतु यह बहुत प्राचीन विधा नहीं है। यह विशुद्ध रूप से आधुनिक युग की देन मानी जा सकती है। आत्मकथा शब्द मूलतः 'आत्म' और 'कथा' इन दो शब्दों के योग से बना है, जिसका अर्थ होता है आत्म मतलब अपनी, कथा अर्थात् अपने जीवन की कहानी। अतः 'जब कोई व्यक्ति स्वयं अपने जीवन की कथा हुबहू यथावत लिखता है, तब उसे 'आत्मकथा' माना जाता है।' अर्थात् आत्मकथा सिर्फ, आत्म की कहानी नहीं होती है बल्कि वह कथा आत्म के नजरिए से अपने समय, समुदाय और संबंधित समाज की कहानी भी होती है। इसलिए किसी आत्मकथा की महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके लेखक का समाज और जीवनानुभव कितना सीमित या विस्तृत है। दूसरी बात यह है कि लेखक अपने भोगे हुए जीवन की तमाम घटनाओं को ईमानदारी से अभिव्यक्त करता है कि नहीं ।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने आत्मकथा विधा पर लिखते हुए स्वयं माना है कि – "आत्मकथा से तात्पर्य है लेखक द्वारा स्वयं के जीवन का वर्णन करना।"[1] अर्थात् उनके मतानुसार भी आत्मकथाएं आत्मकथाकार की सच्ची कथा या कहानी पर आधारित होती है। लेकिन जब वे दलित आत्मकथाओं पर विचार करते हैं तो लिखते हैं कि – "आत्मकथाओं को आम तौर पर व्यक्तिगत कथाओं की तरह पढ़ा जाता है। ज्यादातर मामलों में आत्मकथा एक व्यक्ति के जिए हुए और महसूस किए हुए का विवरण होती है। ऐसे विवरण में सामाजिक यथार्थ निश्चय ही दाखिल होता है, लेकिन वह आमतौर पर इतना अजनबी या असरदार नहीं होता कि आत्मकथा को सामाजिक यथार्थ के प्रतिबिंब की तरह पढ़ा जाए। यही वह बिंदु है जहां दलित आत्मकथाएं बाकी आत्मकथाओं से अलग होती हैं।"[2]

डॉ. रजत रानी 'मीनू' लिखती हैं कि – "साहित्य में आत्मकथा लेखन बहुत पुरानी विधा है। हिन्दी में आत्मकथाएं अधिक नहीं लिखी गईं। सवर्ण–समृद्ध वर्गों से आए जिन लेखकों ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया उन लोगों के लिए यह कोई जोखिम भरा कार्य नहीं था। बल्कि लेखकों ने अपनी विभिन्न अवस्थाओं को साहित्यिकता का जामा पहना कर स्वयं को आनंदित व गौरान्वित महसूस किया ।..... जबकि आत्मकथाओं का आशय एकदम स्पष्ट है। यह आत्मकथाकार की सच्ची कथा या कहानी होती है।"[3] अर्थात् रजत रानी 'मीनू' भी दलित आत्मकथाओं को सामाजिक सरोकारों से जुड़ा बताती हैं।

'युद्धरत आम आदमी' कथा मासिक पत्रिका की संपादक रमणिका गुप्ता का कहना है कि – "आत्मकथा भोगे हुए सच और जीवन के अनुभवों का दस्तावेजीकरण है। इसलिए जिंदगी काफी हद तक जी लेने के बाद ही वे सार्थक हो सकती हैं। चूंकि जिंदगी के शुरू में व्यक्ति के पास अनुभव से अधिक सपने होते हैं। जिंदगी को काफी अर्से तक जी लेने के बाद या कहूं जिंदगी से मुठभेड़ कर लेने के बाद या यथार्थ से रु–ब–रु हो लेने के बाद, सपनों के टूटने या साकार होने के बाद जो लिखा जाता है वह व्यक्ति से अधिक समाज का अनुभव या सपना होता है। संघर्ष करते और जूझते हुए जिंदगी जीने के अनेक सत्यों से जब हम रु–ब–रु हो लेते हैं तो परिपक्व निष्कर्ष और

संकल्प हाथ लगते हैं। तब लिखी गईं आत्मकथाएं इच्छाओं की नहीं बल्कि सत्यों के साथ–साथ अनुभवों के साक्षात्कारों की कथा होती है।"[4]

रमणिका गुप्ता की लंबी उम्र वाली राय दलित आत्मकथाओं पर लागू नहीं होती क्योंकि 27 वर्ष की उम्र में शरणकुमार लिंबाले ने अपनी आत्मकथा लिख दी थी। दलितों को अस्पृश्यता, हिकारत और जाति–भेद का जो अनुभव आठ से अट्ठाईस साल के बीच हो जाता है, रमणिका गुप्ता को वह अनुभव पिचासी (85) साल की होने पर भी नहीं हुआ होगा। इसलिए दलितों और गैर–दलितों के सामाजिक अनुभवों में बड़ा भारी अंतर है।

अतः आत्मकथाएं ही वह साहित्य रूप होती हैं, जो अपनी प्रामाणिकता की दृष्टि से अत्यंत प्रभावित ही नहीं करती है, बल्कि ईमानदारी से वास्तविक स्थितियों का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करने के साथ–साथ बिल्कुल ठीक जानकारियां भी देती हैं। इनमें कल्पना, फैंटेसी और छद्मता के लिए कोई स्थान नहीं है।

दुनिया में आज ऐसा कोई देश या भाषा नहीं होगी जहाँ आत्मकथाओं का विशेष महत्त्व न हो। ब्रिटेन, अमरीका, जर्मन और कनाडा में तो दलित आत्मकथाओं की धूम मची हुई है। कहीं मूल तो कहीं अनुवादों पर शोध हो रहे हैं, सीरियल और फिल्में भी बन रही हैं। डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' लिखते हैं कि – "साहित्य में इसके प्रचलन के मुख्य दो उद्देश्य व कारण रहे हैं – पहला कारण है आत्मनिर्माण या आत्मपरीक्षण, दूसरा कारण है समाज के जटिल परिवेश में अपने आपकी पहचान करना।"[5]

वैसे तो आत्मकथा लेखन अत्यंत चुनौतियों से भरा हुआ लेखन है, जिसमें लेखक की ईमानदारी, अनुभव की प्रामाणिकता, तटस्थता आदि का समावेश अनिवार्य है। महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि लेखक जितनी ईमानदारी से आत्मकथा लिखेगा, उतनी ही वह प्रेरणास्पद, अपीलिंग और उत्कृष्ट होगी। पर जब कोई व्यक्ति अपने लेखन में ईमानदारी न बरत सके या सच कहने का साहस न जुटा सके, तो अच्छा है वह आत्मकथा के बजाय उपन्यास व कहानी लिखे।

डॉ. लालसाहब सिंह ने हिन्दी के नवीन इतिहास में लिखा है कि – "आत्मकथा में लेखक अपने बीते हुए जीवन का सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने

जीवन का महत्त्व प्रतिष्ठापित करता है। वह अपने पूरे परिवेश के साथ पूरी जीवन्तता से जुड़ा होता है।"[6]

अतः आत्मकथा के केंद्र में लेखक का निजी जीवन होता है और समाज उसके साथ चलता है। इसलिए मान सकते हैं कि आत्मकथा का तात्पर्य केवल लेखक के निजी जीवन की झांकी मात्र नहीं है, अपितु वह लेखक के समकालीन सामाजिक एवं युगीन परिस्थितियों व परिवर्तनों का आईना होती है। लेखक उनसे प्रेरित व प्रभावित होता है तथा वह अपना प्रभाव भी उन पर छोड़ता है।

साहित्य में आत्मकथा लेखन के भी नवीन प्रयास होते रहे हैं। सर्वप्रथम हिन्दी की प्रथम आत्मकथा बनारसीदास जैन द्वारा लिखी गई, इसका नाम था 'अर्द्धकथानक', जोकि हिन्दी जगत में बहुत प्रसिद्ध हुई। इसके पश्चात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती', अंबिकादत्त व्यास ने 'निजवृत्तांत' और स्वामी श्रद्धानंद ने 'कल्याण मार्ग का पथिक' आदि लिखीं। इसके अतिरिक्त बेचेन शर्मा उग्र, हरिवंशराय बच्चन और राजनीति में महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरु आदि ने भी आत्मकथाएं लिखीं। लेकिन आत्मकथा लिखने के लिए जिस प्रकार की तटस्थता, ईमानदारी, स्पष्टता, प्रामाणिकता, निर्ममता और बेबाकी की आवश्यकता होती है, वह हिन्दी की इन सवर्ण आत्मकथाओं में नहीं दिखलाई पड़ती। अतः हिन्दी में जितनी भी आत्मकथाएं प्रकाशित हुई हैं, उनमें सत्य सिर्फ इतना ही है, जितना कि लेखक के व्यक्तित्व को उभारने में सहायक सिद्ध हुआ हो। गैर–दलितों की आत्मकथाओं में विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा अपने जीवन की उपलब्धियों को बघारना मूल मुद्दा रहा है। किसी सवर्ण आत्मकथाकार ने यह नहीं बताया कि वे अस्पृश्यता और जातिभेद क्यों मानते थे ? दलित स्त्रियों का अपमान क्यों करते थे ? जबकि दूसरी ओर यह अपेक्षा अब दलित आत्मकथाओं द्वारा पूरी होती दिखाई पड़ती है। चूँकि भारतीय समाज में सदियों से दलित समस्या या प्रश्नों के चलते दलितों के साथ हुए अमानवीय अत्याचारों पर गैर–दलित समाज के लेखक सहानुभूतिवश केवल अनुमान लगाते रहे हैं। इस समस्या का पूर्णरूपेण चित्रण व दलितों का यथार्थ दलितों की आत्मकथाओं में ही उभर पाया है।

साहित्य में दलित आत्मकथाओं की शुरुआत मराठी दलित आत्मकथाओं से हुई। किशोरी लाल रैगर के अनुसार – "दलित साहित्य में आत्मकथा लेखन का आरंभ 'अस्मितादर्श' (1976) के 'दीपावली विशेषांक' से हुआ। इस विशेषांक में 'मैं और मेरा लेखन' शीर्षक से रा. यो. केशव मेश्राम, बन्धुमाधव, राजा ढाले, नामदेव ढसाल, योगिराज बाघमारे, बाबूराव बागुल आदि मराठी दलित लेखकों के संक्षिप्त आत्मकथ्य प्रकाशित हुए। इन आत्मकथ्यों की प्रेरणा से ही कालांतर में स्वतंत्र रूप से दलित आत्मकथाएं अस्तित्व में आईं।"[7]

लेकिन सवाल यहाँ यह उठता है कि इन मराठी दलित आत्मकथाकारों को आत्मकथा लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली। इस संबंध में डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने लिखा है कि – "वस्तुतः यह डॉ. अंबेडकर थे जिनकी प्रेरणा और प्रभाव से ही आत्मकथा–लेखन आरंभ हुआ। उन्होंने स्वयं अपनी अंतरंग बातें प्रो. सत्यबोध हुदलीकर की डायरी में दर्ज कराई थीं। तत्कालीन मराठी साहित्य की स्थापित साप्ताहिक पत्रिका 'नवयुग' के 'अंबेडकर विशेषांक' (१३ अप्रैल १९४७) में इसे प्रकाशित किया गया था। पत्रिका में उनके आत्मकथ्य का एक महत्त्वपूर्ण अंश प्रकाशित हुआ था। उसके बाद डॉ. अंबेडकर ने 'मैं कैसे बना ?' शीर्षक से आत्मकथा लिखना आरंभ किया था।"[8]

यद्यपि बाबा साहब ने कोई आत्मकथा नहीं लिखी, लेकिन बताया जाता है कि दलित साहित्य के प्रेरणा स्रोत डॉ. अंबेडकर रहे हैं, 'मी कसा झालो' (मैं कैसे बना) नाम की उनकी जीवनी ही दलित आत्मकथाकारों के लिए प्रेरणा का काम करती है। इसके माध्यम से ही दलितों की आत्मपीड़ा सामने आने लगी।

बहरहाल दलित आत्मकथाओं की विशेषता यह है कि इनमें दलित जीवन का यथार्थ गहराई से उभर कर कर आ रहा है, जो भारतीय साहित्य के लिए नया है। जहाँ सामान्य आत्मकथाओं में व्यक्ति का चित्र होता है, वहीं दलित आत्मकथाओं में पूरे समाज का चित्रण होता है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' दलित आत्मकथाओं पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि – "दलित आत्मकथाओं में दलित छवि एक सचेतन आत्म संघर्षरत स्वाभिमानी व्यक्ति की छवि के रूप में उभरकर सामने आई है। दलित आत्मकथाकार अतीत की भद्दी

तस्वीरें देखते हैं। साथ–साथ उन हाथों को भी पकड़ते हैं जिन्होंने कई सौंदर्य से भरी जीवन झाँकियों पर ईर्ष्यावश कालिख पोत दी है। इतिहासविहीन समाज में ये आत्मकथाएं सूचनाओं, तथ्यों और स्थितियों के ऐसे प्रमाण जुटाती हैं जिनके बगैर हिंदी समाज का अध्ययन अधूरा है।"[9]

दलित आत्मकथाओं में दलित लेखक अपने समाज का संपूर्ण दारिद्रय, अज्ञान, यातनाओं, पीड़ाओं और शोषण का बड़ा ही तीखा और यथार्थ चित्रण करते हैं। इन्होंने अपने मन की पीड़ा से बाह्य जगत को परिचित कराया है तथा इस ओर तथाकथित सवर्ण समाज का ध्यान आकर्षित किया है और यह भी बताया है कि किस प्रकार हिन्दू समाज उनके साथ सदियों से घोर अन्याय करता आया है और आज भी उनका दमन और शोषण जारी है। ऐसा इसलिए है कि भारतीय समाज में दलितों की पहचान उनके नाम से अधिक, उनकी 'जाति' से ही होती रही है।

हिन्दी की दलित आत्मकथाओं का पक्ष लेते हुए दलित चिंतक डॉ. धर्मवीर ने भी अपने एक लेख में लिखा है कि – "दलित आत्मकथा अधिक जीवंत विधा है। भारत में 'जाति' एक कोढ़ की भाँति है जो राष्ट्र और राष्ट्रीयता के लिए सबसे बड़ा खतरा है। 'जाति' की श्रेष्ठता ही हिन्दू राष्ट्र की संकल्पना का मूल सिद्धान्त है। इसलिए संघ परिवार और उसके घटकों का मुख्य उद्देश्य हिन्दू–राष्ट्र और हिन्दू–संस्कृति की स्थापना करना है, यही तो इनका गुप्त एजेण्डा है।"[10]

अर्थात् उनका मानना है कि हिन्दू–संस्कृति पोषित वर्णवादी व्यवस्था देश की गुलामी का सबसे बड़ा हथियार है और जातिवादी व्यवस्था उसका मूल कारण है और साहित्यिक लेखन भी उसको मिटाने में मददगार साबित हो सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्यौराज सिंह 'बेचैन' की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' पर "बालक श्यौराज महा शिलाखंडों का संग्राम" नामक शीर्षक से समीक्षात्मक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक में डॉ. धर्मवीर ने इस आत्मकथा को विश्व स्तर की आत्मकथा भी स्वीकार किया है जो डॉ. धर्मवीर 1990 से 1996 तक आत्मकथा लिखने को आत्महत्या करना कहते थे, उन्हीं डॉ. धर्मवीर द्वारा श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा पर पूरी किताब लिखना सामान्य बात नहीं हैं। उन्हीं के शब्दों में कहें तो – "यह डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन ने

अच्छा किया कि अपनी आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' लिख दी है। उन्होंने यह और भी अच्छा किया कि अपने बचपन को इतनी गहराई और इतने विस्तार से हमारे सामने रख दिया। यह भारतीय बच्चों पर उनका उपकार है। इस पुस्तक की वजह से लोगों को इस व्यक्ति के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। यह व्यक्ति पढ़े–लिखों के लिए देवता है। जब यह पुस्तक आई थी, मैंने लेखक से कहा था कि लेखक को यह नहीं पता है कि उन्होंने यह कितनी अच्छी पुस्तक लिख दी है और प्रकाशक को धन्यवाद देते हुए प्रकाशक से कहा था कि प्रकाशक को यह पता नहीं है कि हिन्दी में उन्होंने यह विश्व स्तर की पुस्तक छाप दी है।"[11]

इसलिए ये दलित आत्मकथाएं जहाँ एक ओर दलित पाठक को संघर्षशील एवं प्रबुद्ध बनाती हैं, वहीं गैर–दलित पाठकों में भी अपराध–बोध पैदा कर उसे एक बेहतर नागरिक बना सकती हैं। सवर्ण जन अपने पूर्वजों द्वारा दलितों के किए गए नुकसानों की भरपाई करने की ओर सोचना शुरू कर सकते हैं। इतना नहीं तो कमसकम अपनी ओर से दलितों का शोषण, दमन, उत्पीड़न और सामाजिक अन्याय करना बंद कर सकते हैं। इन आत्मकथाओं का संवेदनात्मक धरातल इतना विशाल है कि ये मात्र लेखक का व्यक्तिगत जीवन संघर्ष नहीं है, बल्कि समूचे दलित समुदाय के संघर्ष की करुण गाथाएं हैं। अतः एक ओर तो दलित आत्मकथाओं को संघर्ष–गाथा माना जाना चाहिए और दूसरी ओर निस्संदेह दलित लेखक विपरीत परिस्थितियों में रहकर भी अपने लक्ष्य की तरफ अग्रसर होता है तो वहीं ये आत्मकथाएं आज की पीढ़ी के लिए प्रेरणास्रोत भी समझी जानी चाहिए।

दूसरी ओर दलित पक्षधर वरिष्ठ कथाकार कमलेश्वर की इस बारे में राय यह है कि – "आत्मकथा निश्चित रूप से प्रामाणिक है। दलितों के जो अपने जख्म हैं, वे उनकी आत्मकथाओं के रूप में आने चाहिए। कुछ लोग दलित आत्मकथाओं के बारे में गलत सोचते हैं। उन्हें कुछ ऐतराज होंगे। मुझे दलित की आत्मकथाओं से बिल्कुल भी परहेज नहीं है। पर मेरा कहना है कि दलितों का दुःख व्यक्तिगत न बने, वे समाज के बारे में लिखें। दलित आत्मकथाकार की दृष्टि एकांगी नहीं होती। जब वह लिखता या सोचता है तो समूचे दलित समाज की दृष्टि, उसका मान–अपमान, उसके सवाल एक

लेखक के सामने होते हैं। इसलिए दलित आत्मकथाएं एक व्यक्ति के जीवन पर ही आधारित नहीं होती, उसमें संपूर्ण दलित समाज होता है।"[12]

नागरिकों को निजता को जाहिर न करने का विधिक अधिकार है, परंतु माना जाता है कि दलित आत्मकथाओं में जीवन की निजता महत्त्वपूर्ण नहीं होती, बल्कि वहाँ दलित समाज की कथा महत्त्वपूर्ण होती है। निजता को खोना कितना कष्ट कर होता होगा यह वही जानते हैं जो इसे खोते हैं, परंतु दलितों की विवशता है, विकल्पहीनता जो वे ऐसा करते हैं।

डॉ. तुलसीराम का मानना है कि – "दलित आत्मकथाओं की जो सबसे बड़ी विशेषता है वो उस सामाजिक इतिहास को सामने ला रही है, जिसको देखते हुए भी लोग हमेशा अनदेखा करते रहे, उस पर किसी इतिहासकार, किसी समाजशास्त्री या साहित्यकार ने विचार नहीं किया और न ही ध्यान दिया। अब दलित साहित्यकार खुद अपना ध्यान दे रहे हैं और समाज की उन कड़वी सच्चाइयों को सामने ला रहे हैं जो सच्चाइयाँ मामूली नहीं हैं। ये कड़वी सच्चाइयाँ ऐसी हैं, जिसने किसी भी व्यक्ति के पूरे जीवन को प्रभावित किया है, जिसके चलते उन्हें तरह–तरह के दुःख–सन्ताप झेलने पड़े हैं। यही कारण है कि जब दलित आत्मकथाएँ वैकल्पिक इतिहास को सामने ला रही हैं तो उनका बहुत महत्त्व बढ़ता चला जा रहा है।"[13]

अतः दलित आत्मकथाओं का दलित समाज के इतिहास लेखन में सहायक होना भी महत्त्वपूर्ण है। ये दलित समाज का जीवंत दस्तावेज है जो परवर्ती दलित समाज को समर्पित है।

मराठी दलित साहित्य की विशेषज्ञ डॉ. विमल थोराट का कहना है कि – "दलित आत्मकथन आज दलित समुदाय के विविध आयामों को अपने अन्दर समेट कर शोषण के उस हर पहलू की एक समाजशास्त्रीय चिकित्सक की दृष्टि से चीरफाड़ करके सामाजिक व्यवस्था और उसके अन्तर्सम्बन्धों की पड़ताल करता हुआ दिखाई देता है।"[14]

दलित आत्मकथनों में उपस्थित समस्या और प्रश्न व्यक्तिगत संदर्भों में नहीं, बल्कि समुदायगत संदर्भों से जुड़कर उभरते हैं। जब दलित रचनाकार अपने जीवन अनुभवों के माध्यम से दलित जीवन की त्रासदी को रचनात्मक अभिव्यक्ति देता है तो वह

संपूर्ण दलित समुदाय के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक सरोकारों को उजागर करता है।

डॉ. राजेन्द्र बड़गूजर का कहना है कि माताप्रसाद साहित्य में दलित आत्मकथाओं की सार्थकता पर बात करते हुए उन्हें प्रेरणास्रोत भी मानते हैं – "माताप्रसाद दलित आत्मकथाओं को दलितों के लिए प्रेरणा की विधा मानते हैं। उनका मानना है कि इन आत्मकथाओं में आयी मानवीय अस्मिता के लिए छटपटाहट और सफलता की अनवरत यात्रा दलितों के लिए प्रेरणा का सबब बनेगी। दलित इन्हें पढ़कर संघर्ष का रास्ता चुनेंगे और अपने व्यवस्था प्रदत्त कुटिलताओं से दो–चार होंगे। उनमें ब्राह्मणवादी व्यवस्था के प्रति वितृष्णा की भावना जागेगी और वे अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं तय करेंगे।"[15]

साहित्य में दलित आत्मकथाएं सिर्फ निजी जीवन की कथा नहीं कहती हैं, बल्कि वे अपने उदाहरण से व्यवस्था के प्रति विद्रोह भी व्यक्त करती हैं, अतः ये आत्मकथाएं प्रेरणादायक भी हैं।

डॉ. ललिता कौशल डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की आत्मकथा पर विस्तृत आलोचना लिख चुकी हैं। उनका मानना है कि – "दलित आत्मकथाएँ दलित संघर्ष की सार्थकता को रेखांकित करती हैं। किसी भी दलित लेखक द्वारा लिखी गई आत्मकथा उसकी जीवन–गाथा के साथ–साथ उसके समाज की भी गाथा होती है। वह अपने जीवन के दुःख–दर्द और अपमान को भी स्वर देता है। ये आत्मकथाएँ दलित समाज में सामाजिक चेतना और अस्मिताबोध जगाती हैं।"[16]

बहरहाल दलित आत्मकथाएं दलित समाज की समस्याओं से हमारा परिचय करवाती हैं, जिसकी वास्तविकता से हम अनभिज्ञ थे। यदि लोग उस सामाजिक जिंदगी से परिचित भी थे, तो उससे टकराने का साहस उन्होंने कभी नहीं किया। दलित आत्मकथाओं ने इस व्यवस्था के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया है। अतः व्यक्ति और समाज की वास्तविक छवि को दलित आत्मकथाओं ने प्रामाणिक ढंग से पेश किया है।

साहित्य की सभी विधाओं में 'आत्मकथा' ही ऐसी विधा है, जो बिना उद्देश्य नहीं लिखी जाती। अर्थात् वे उद्देश्य की पूर्ति अधिक करती हैं। आत्मकथाकार का कोई न कोई उद्देश्य जरुर रहता है। जब लेखक यह अनुभव करता है कि जो उसने भोगा है,

जीवन–अनुभवों से जो सीखा है, जो अनुभव प्राप्त किया है, उसे भी दूसरों को जानना चाहिए, वह भी साहित्य में लाने योग्य है, न केवल उसका कृतित्व बल्कि उसका व्यक्तित्व भी, अतः उससे समाज का हित हो सकता है, तब वह आत्मकथा लिखता है तथा दलित आत्मकथाएं भी इसी सौदेश्यता की निमित्त लिखी जाती हैं। उसमें आत्मकथाकार दलित जीवन की पीड़ा, संत्रास, दुःख, अपमान और वेदना को पूरी जीवंतता के साथ प्रस्तुत करता है।

सदियों से दलितों के साथ इस भारतीय सामाजिक व्यवस्था की विषमतापरक संरचना के कारण अमानवीय व्यवहार व शोषण होता रहा है। अर्थात् दलित समाज का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह अमीर हो या गरीब, शिक्षित हो या अशिक्षित, स्त्री हो अथवा पुरुष जातिगत अपमान को झेलने को अभिशप्त है। साथ ही बेरोजगारी, गरीबी, अशिक्षा, शोषण, भूमिहीनता आदि से बहुसंख्य दलित समाज आज पीड़ित है तथा अपनी स्थिति से उबरने का रास्ता भी वे नहीं जानते हैं। उनमें से अधिकांश पीड़ित तो परिस्थितियों से समझौता कर लेते हैं। इसलिए ऐसे लोगों के लिए दलित आत्मकथाएं जिनमें दलितों का जीवन–संघर्ष प्रामाणिक ढंग से अभिव्यक्त होता है तथा जिन्होंने उसी दलित समाज में रहकर परिस्थितियों से समझौता नहीं किया, स्वयं समाज में अपनी जगह बना ली है। उनकी जीवन–कथा निश्चय ही पाठकों में आशा का संचार करती है तथा शोषित, पीड़ित व निराश दलितों में ये आत्मकथाएं साहित्यिक व ऐतिहासिक जरूरतों से ज्यादा सामाजिक जरूरत की पूर्ति करती है। इन आत्मकथाओं में व्यक्त व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन संघर्ष न केवल दलितों को बल्कि गैर–दलितों को भी विषम व प्रतिकूल परिस्थितियों में संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। चाहे दलित आत्मकथा मराठी की हो या हिन्दी की व अन्य भाषा की उसमें हमें संवेदना व संघर्ष के विभिन्न धरातल मिलते हैं।

दलितों के दुखों पर गौर करते हुए दलित चेतना के दिली पक्षधर डॉ. अमरसिंह बार–बार इतिहास के सबक दोहराते हैं – "दलित आत्मकथाएं सत्य के जरूरी दस्तावेज हैं, इन्हें ब्राह्मणों को प्राथमिकता से पढ़ना चाहिए, यदि वे नहीं पढ़ पा रहे हैं तो वे खुद को नहीं समझ पाएंगे। ज्ञान व्यवस्था के सर्वेसर्वा होने के कारण अतीत में दलितों की जीवन भूमि में ब्राह्मणों ने दुःख बोए हैं तो दलितों को सुख भी उन्हीं से प्राप्त करने हैं।"[17]

इन अर्थों में दलित आत्मकथाएं गैर–दलित समाज के लिए अनुभवों के नए आयाम खोलती हैं, क्योंकि अस्पृश्यता की वजह से गैर–दलितों को दलित समाज के उन अनुभवों की जानकारी कभी भी नहीं मिल सकती थी जोकि उन्होंने अपने जीवन में अनुभूत किए हुए होते हैं। यद्यपि कविता, कहानी या गद्य की अन्य विधाओं में भी दलित आत्माभिव्यक्ति बखूबी हो रही है, किंतु दलितों के जीवन, उनके रहन–सहन, तीज–त्यौहार, मान्यताएं, विश्वास, अन्धविश्वास आदि की संपूर्ण जानकारी सिर्फ दलित आत्मकथाओं से ही मिल सकती है। अतः ये आत्मकथाएं गैर–दलितों के लिए, दलितों के संवेदनाओं व अनुभवों के भंडार खोलती हैं।

दलित आत्मकथाओं के विषय में डॉ. भगवान दास का कहना है कि – "आत्मकथा लिखना दलितों के लिए फायदेमन्द होगा, क्योंकि इस तरह न केवल दलित इतिहास जिन्दा रहेगा बल्कि वे अनुभव भी जिन्दा रहेंगे जो गलत काम करने वालों को सही तस्वीर तथा भविष्य में प्रेरणा देने का जरिया भी बन सकेंगे।"[18]

यद्यपि दलित आत्मकथाएं एक ऐतिहासिक दस्तावेज बनकर उभर रही हैं, ऐतिहासिक इस अर्थ में कि दलित समुदाय का इतिहास इस देश में अनुपस्थित रहा है। दलित रचनाकारों की आत्मकथाओं के माध्यम से अब जो कुछ दर्ज हो रहा है, उससे आने वाले समय में प्रामाणिकता के साथ जाना जा सकेगा कि इस देश के वंचित समाज के साथ सुखासीन तंत्र ने कहाँ क्या किया। इन्हीं में दर्ज तथ्यों के आधार पर भविष्य में दुनिया यह जान सकेगी कि मनुष्य को मनुष्य से कमतर समझने और सामाजिक गैर–बराबरी पर स्वाभिमान महसूस करने वाली सांस्कृतिक, सामाजिक व्यवस्था ने इस देश का चेहरा कैसे बिगाड़ा है और उसका विरोध करने वाली दलित चेतना ने कैसे इस जानलेवा दलदल से अपने आप को बचाने का अभूतपूर्व संघर्ष किया है। अतः ये आत्मकथाएं दलित इतिहास की कमी को पूरा करती हैं एवं इतिहास निर्माण में अपनी भूमिका निरुपित करती हैं।

डॉ. राजेश पासवान लिखते हैं कि – "दलित आत्मकथाकारों की आत्मकथाएं अधिक वास्तविक सत्य की उपस्थिति के साथ अधिक प्रामाणिक, तर्क तथा प्रश्नाकुलता को अपने आगोश में लिए अधिक ईमानदारी से लिखी गई महसूस होती हैं।"[19]

अगर उनकी बात को आगे बढ़ाया जाए तो वे लिखते हैं कि – "दलित समाज का अलग से कोई इतिहास नहीं है, लेकिन उसकी संवेदना, चेतना और अपेक्षाएं, दलित समाज के लोगों में जरुर रहती हैं, जिन्हें दलित आत्मकथाओं में देखा जा सकता है।..... दलित आत्मकथाएं दलित इतिहास की कमी को पूरा करती हैं एवं इतिहास निर्माण में अपनी भूमिका निरुपित करती हैं। वस्तुतः एक अच्छी आत्मकथा में एक व्यक्ति के परिवर्तन एवं उसकी प्रगति के लिए संघर्ष के साथ उस समय का इतिहास भी जिन्दा रहता है। इसलिए दलित आत्मकथाएं उन शिलालेखों की तरह हैं जिनके तथ्यों पर दलित इतिहास की नींव खड़ी होगी। चूंकि ये अपने समय में अपने लोगों के बीच में, स्वयं लेखक द्वारा लिखी गई हैं, इसलिए उनकी प्रामाणिकता किसी शिलालेख से कम नहीं है।"[20]

अतः दलित आत्मकथाएं दूसरी अन्य विधाओं से भिन्न हैं, चूँकि वे वास्तविकता के अधिक निकट एवं आत्मकथाकर के जीवन के कटु प्रसंगों की स्वीकार्यता के साथ उपस्थित होती हैं। उनके अनुसार दलित आत्मकथाएं भारतीय समाज का दस्तावेज हैं, उस दस्तावेजी साहित्य से ही बहुत सी बातें जानने को मिलती हैं। इसलिए भी साहित्य में दलित आत्मकथाओं की अलग से आवश्यकता है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की यह टिपण्णी भी दलित आत्मकथाओं की सार्थकता को और स्पष्ट कर देती है – "दलित आत्मकथाएं सवर्ण समाज को संबोधित संवाद हैं। इसमें मानवीय दायित्वबोध से भरे अनुभवों की आग है। किन्तु अपील की शक्ल में। यह विचारों की वह मशाल है जिसे पिछली पीढ़ी अगली पीढ़ी को इस उम्मीद से हस्तगत करती है कि वह मुक्ति की राह रोशन करती रहे।"[21]

दलित साहित्य की रचनाओं में विशेषकर जो आत्मकथा आ रही है, वह दलित समाज की तल्ख सच्चाई है। उसमें उनका जीवन है, समस्या है, विडंबना है। उसी में मुक्ति तलाशने का यंत्र भी है। इसलिए हम बड़े दावे के साथ कह सकते हैं कि दलित साहित्यकारों की जो आत्मकथाएं आ रही हैं, वास्तव में अनुभूति की अभिव्यक्ति है। जिससे समाज उस अनुभूति से परिचित होता है। हमारे समाज में विभिन्न जातियों, समुदायों के लोग रहते हैं। लेकिन एक जाति का वर्ग, दूसरे जाति के वर्ग की

समस्याओं, उत्पीड़न, दर्द, वेदना को नहीं समझ पाता है। जो यह एक बहुत बड़ी समस्या है। इस समस्या को उजागर करने में दलित आत्मकथाएं महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रही हैं।

अतः दलित आत्मकथाएं अन्य आत्मकथाओं से न सिर्फ कथ्य के स्तर पर महत्त्वपूर्ण हैं, बल्कि तथ्य के स्तर पर भी। ये आत्मकथाएं समाजशास्त्रीय अध्ययन में मददगार सिद्ध हो रही हैं। इन आत्मकथाओं के जरिए दलित रचनाकार समाज को यह बताना चाहते हैं कि पक्षपातपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के कारण समाज का एक बड़ा वर्ग शिक्षा, रोजगार, भूमि, उत्पादन के साधनों से वंचित हैं। ये आत्मकथाएं स्वान्तः सुखाय नहीं लिखी गई हैं, इनके द्वारा सामाजिक बदलाव की उम्मीद की गई है। अतः इन आत्मकथाओं के माध्यम से पाठकों को दलित जीवन की नारकीय स्थिति उनकी यातना–यंत्रणा का पता चलता है। साहित्य के जरिए व्यवस्था के प्रति विद्रोह का माध्यम बनकर, इन आत्मकथाओं ने दलित आंदोलन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भिन्न–भिन्न कोणों से इनका विवेचन–विश्लेषण करने पर यही तथ्य सामने आता है कि दलित आत्मकथाएं हिन्दी साहित्य में हाशिए से निकल कर अब जनमानस में अपनी पैठ बना रही हैं और यही दलित आत्मकथाओं की विशेषता, सार्थकता और आवश्यकता भी है ।

दलित आत्मकथाओं की उक्त पृष्ठभूमि तथा लेखकों व आलोचकों के अनुभवों के आलोक में अब मैं अपने अभीष्ट लेखक की आत्मकथा पर विचार करूंगी ।

4.2 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में अभिव्यक्त बाल शोषण और दलित जीवन

दलित बालक द्वारा जीवनयापन के लिए की जाने वाली मजदूरी बाल–मजदूरी कहलाती है। भारतीय संविधान में बालक की उम्र चौदह वर्ष तक निर्धारित की गई है। चौदह वर्ष तक की उम्र में काम पर लग जाना बाल–मजदूरी के अंतर्गत ही आता है। बाल श्रम कानून के अंतर्गत किसी भी बच्चे से 14 साल की कम उम्र में ऐसा कोई काम नहीं कराया जा सकता जिससे उसके शारीरिक, मानसिक विकास में बाधा आए और वह

भूख कुपोषण का शिकार हो कर अपने अस्वस्थ भविष्य के अंधकार में धकेला जाए। हिन्दू समाज व्यवस्था के अनुसार एक शूद्र जन्मना शूद्र होता है। वह शूद्र ही पैदा होता है और शूद्र ही मरता है। शूद्रों का 'मनुस्मृति' के अनुसार एक ही काम है अपने से ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा करना। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों को बहिष्कृत जाति माना है। हिन्दी में रविदास ने निर्वर्ण्य संप्रदाय की बात की है जो वर्ण रहित है। वर्णव्यवस्था के संस्थापक दलित नहीं हैं। इसलिए इस व्यवस्था में दलितों में पैदा होने वाले बच्चों के मानवाधिकारों की कोई रक्षात्मक दृष्टि नहीं है। यद्यपि आजादी मिलने के बाद लोकतांत्रिक संविधान ने मनुस्मृति के कानून को खारिज कर दिया। इसके अतिरिक्त बचपन की मुक्ति के लिए काम कर रहे श्री कैलाश सत्यार्थी को 'बचपन बचाओ' के लिए नोबेल पुरस्कार भी मिला है। परंतु दलित समाज के बच्चों का बचपन नहीं बच पा रहा है। मैं यह भी नहीं जानती कि सत्यार्थी जी ने 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथा से कितनी प्रेरणा ली है। वह आज भी उनके कमजोर कंधों पर ढ़ोया जा रहा है।

अतः देश की आजादी के इतने वर्षों बाद भी ढाबों, घरों और कारखानों में काम करने वाले बच्चों को चिन्हित करना कोई मुश्किल काम नहीं है। कूड़े–कचरे में से कुत्तों सुअरों की तरह खाने की चीजें खोजते बच्चे बाल कल्याण अधिकारियों की आँखों में चुभने चाहिए। चैन की नींद खोने का सबब बनने चाहिए। गाँवों में पीढ़ी–दर–पीढ़ी शीरी का काम करने वाले बंधुआ मजदूर आज भी भारत की आजादी पर कलंक के समान हैं। बाल–मजदूरी एक पूर्ण मानव की विकास यात्रा में तो रूकावट है ही, उसके साथ–साथ देश के विकास के साथ भी बड़ा धोखा है। कौम विशेष के बालकों द्वारा बचपन में ही मजदूरी करने से कुछ कौम विशेष के अहम् को तुष्टि अवश्य मिलती होगी परंतु यह देश के भविष्य के लिए कितना घातक है, यह विचारणीय है। दलित आत्मकथाओं में आया बचपन बालश्रम के अंधे रास्तों से अपना सफर तय करके आया है। वे जिस मुकाम पर पहुँचें हैं, वहाँ पहुँचना काल्पनिक–सा लगता है। इसमें कोई दो राय नहीं कि ऐसे बचपन के कारण वे मार्ग में ही भटक सकते हैं। श्यौराज सिंह के बचपन की समस्याएं घनीभूत वेदना का केंद्र बनी हुई है।

दलित आत्मकथाओं में बालश्रम की दृष्टि से अत्यंत मार्मिक आत्मकथा है : 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर'। डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपने पूरे बचपन में बालश्रमिक रहे हैं।

उनका बालश्रमिक का जीवन बहुत ही कठिन बीता है। जैसाकि आत्मकथा के नाम से ही प्रतीत होता है कि वह बालश्रम का पर्याय है। यह आत्मकथा करोड़ों बच्चों के बचपन का प्रतिनिधित्व करती है।

वरिष्ठ पत्रकार अमित सेन गुप्ता ने प्रस्तुत आत्मकथा की भूमिका में भी लिखा है कि – "उसके बचपन के बारे में पढ़ो, मगर जल्दबाजी में नहीं। क्योंकि उसे खुद कोई जल्दबाजी नहीं है। वो यह सब भुगत चुका है। नियति का यह नन्हा–सा शिशु, सामन्ती भारत की क्रूर जाति–व्यवस्था का यह दलित, यह बेचैन योद्धा जिसने नियति को चुनौती दी और अपना मौलिक मानचित्र तैयार किया है, मानवीय दासता के खिलाफ संघर्ष के बारीक ब्यौरे से कसीदा किया हुआ अपना गलीचा, खुद तैयार किया है।"[22]

राजेश कुमार चौहान लिखते हैं कि – "सौराज का बचपन बाल–मजदूर का बचपन है। अतः इस आत्मकथा का शीर्षक 'मेर बचपन मेरे कंधों पर' में 'बचपन' और 'मेरापन' यही तीन पद हैं, इनमें से कोई भी पद आत्मकथा के परंपरागत दलित पाठ की ओर संकेत नहीं करता अर्थात् शीर्षक 'बचपन' को किसी जाति विशेष के बचपन में रिड्यूस नहीं करता। लेखक ने जो कुछ अर्जित किया है, वह अपने बचपन को अपने कंधों पर ढोकर किया है, वह किसी से उपहार में, भीख में अथवा विरासत में नहीं मिला। 'बचपन कंधों पर' एक बाल मजदूर की प्रतिनिधि आत्मकथा के पाठ को पुष्ट करता है। यही पाठ इसे अन्य दलित–गैर दलित आत्मकथाओं से खास बनाता है और अलगाता है।"[23]

बचपन में ही एक तो लेखक के सिर से पिता का साया उठ गया था और माँ के पास आजीविका के कोई साधन नहीं थे। पिता के जाने के बाद घर की स्थिति इतनी दयनीय हो गई थी कि दो वक्त की रोटी भी ठीक से नसीब नहीं होती थी। और दूसरा बालक श्यौराज का जन्म उत्तर प्रदेश के नदरौली नामक गाँव की चमार जाति में हुआ। लेखक के शब्दों में – "जिन चमारों ने मवेशी उठाने का काम–धन्धा छोड़ दिया था, वे स्वयं को ऊँचे दर्जे का मानने लगे थे, जबकि माली हालत उनकी भी खराब थी।"[24] अर्थात् श्यौराज का घर चमारों में भी बहिष्कृत था, क्योंकि उनके घर में चमड़े उतारने और रँगने का काम होता था। लेकिन जो चमार यह काम नहीं करते थे वे अपने

आपको जाटव कहते थे, रँगाई करने वाले चमारों से अपना संबंध तोड़ लेते थे। इसलिए लेखक को छह वर्ष की आयु से ही शिक्षा, स्वाभिमान व भूख से निजात पाने के लिए बाल–श्रम करना पड़ा। बाल–मजदूर के रूप में काम करते समय उन्हें जो भी अनुभव आते हैं, उसे पूरी तटस्थता के साथ इस आत्मकथा में रखने का प्रयास किया है।

प्रकरण एक **'बेवक्त गुजर गया माली'** में अभिव्यक्त है कि जब लेखक पाँच–छह वर्ष के थे, तब वे अपने पिता के साथ छोटी बुआ की ससुराल धुर्रा–प्रेमनगर विवाह–समारोह में शामिल होने गए थे। वहाँ श्यौराज के पिता राधेश्याम का स्वास्थ्य शराब का सेवन करने के कारण खराब हो जाता है। वहाँ बीमारी की हालत में श्यौराज के पिता को किसी डॉक्टर आदि को न दिखा कर अंधविश्वास के कारण सयाने और झाड़–फूंक के माध्यम से इलाज कराया जाता है और परिणामतः लेखक के पिता का निधन हो जाता है। पिता की मृत्यु श्यौराज जी के बचपन को ऐसा मोड़ दे जाती है कि जहाँ से जीवन में दुःख और दरिद्रता की शुरुआत होती है। जिसके बारे में लेखक लिखता है कि – "मैं जब घर से गया था तो बारात देखने की खुशी में हँसता–खेलता चाचा के कन्धों पर सवार होकर गया था और अब पिता के चले जाने पर लौट रहा था तो मेरा बचपन खुद मेरे ही कन्धों आ पड़ा था।"[25]

इस प्रकार पिता के साथ हँसते–खेलते बारात में शामिल होने के लिए जाने वाला बालक वहीं पिता को खोकर जब लौटता है तो पाता है कि मानो 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर आ पड़ा हो' 'बेवक्त गुजर गया माली' और 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' की काव्यात्मक भाषा और मैटाफर इस कृति की साहित्यिक वैल्यू में इजाफा करते हैं। यहीं से लेखक को जीवन का पहला अनुभव प्राप्त होता है – "मनुष्य मर जाता है, उसका अमूल्य शरीर अपनों के हाथों जला देना पड़ता है। यह मेरा पहला और आत्मीय अनुभव था।"[26] यहाँ प्रयुक्त हुए 'आत्मीय' शब्द को बजरंग बिहारी तिवारी 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' नामक आत्मकथा पर लिखी अपनी समीक्षा में उचित नहीं ठहराते। जबकि मुझे इस शब्द से कोई आपत्ति नहीं है। इतनी कम उम्र में किसी बच्चे के जीवन से पिता का साया उठ जाना, एक आत्मीय अनुभव ही तो होता है। अतः लेखक के जीवन में शिक्षा, सम्मान और रोटी की राह में मुश्किलों व संकटों का दौर यहीं से शुरू हो जाता है।

घर के एकमात्र कमाऊ व्यक्ति की मृत्यु के बाद परिवार के सामने भरण–पोषण की समस्या खड़ी हो गई। स्वयं लेखक के शब्दों में – "उन दिनों मेरे घर में कोई भी सदस्य साक्षर नहीं था। परिवार के भरण–पोषण के लिए पौने दो बीघा जमीन थी जिसमें ताऊ का भी आधा हिस्सा था। उसमें से एक बीघा कल्लर (बंजर) की चपेट में आ चुकी थी। जैसे हमारे घर का एकमात्र कमाऊ व्यक्ति चला गया था, उसी तरह जमीन की उर्वरता भी जा चुकी थी। बाकी पुरुषों में बड़े बब्बा भागीरथ, छोटे बब्बा गंगी और ताऊ बाबूराम तीनों नेत्रहीन थे ही। चौथे सदस्य बचे विधाराम बब्बा चाचा के पिता सो 'फिरक' (वह बैलगाड़ी केवल दो–तीन सवारियों के लिए होती थी।) की दुर्घटना में उनकी एक टाँग टूट चुकी थी। कुल मिला कर, घर असहायों और अपाहिजों से भरा पड़ा था। अम्माँ के पास भी शिक्षा या रोजगार का कोई हुनर नहीं था। इस कारण वह किसी दूसरे पुरुष की मदद के बिना हमें पालने में असमर्थ थी।"[27]

पिता की असमय हुई मृत्यु के पश्चात् श्यौराज का बचपन कष्टों से भर गया। चूँकि अशिक्षा व गरीबी के कारण चार बच्चों को पालन–पोषण कर पाना लेखक की माँ सूरजमुखी के लिए असंभव था। तब श्यौराज के बाल–जीवन संघर्ष की त्रासद कथा शुरू होती है, जिंदा रहने के लिए व जीवन अस्तित्व बचाने के लिए उन्हें अपनी रोटी की व्यवस्था खुद करनी पड़ती है। पिता की जरूरत को महसूस करते हुए श्यौराज सिंह 'बेचैन' लिखते हैं कि – "अब हमारी तबाही और अभावों का क्रम तेज हुआ। तब जाना कि पिता क्या होता है। उसकी कमी बच्चों के जीवन में कितनी बड़ी त्रासदी होती है।"[28]

श्यौराज के पिता की मृत्यु के पश्चात् दलित जीवन की नीरसता और दयनीयता द्रष्टव्य है – "उनके बाद हमारे घर में साग–सब्जी से भरपेट खाना मिलना तो दूर, दोनों वक्त नमक–चटनी से रोटी मिलनी मुश्किल हो गयी थी। हारी–बीमारी में दवा–दारू के लिए भी अब घर में फूटी कौड़ी नहीं थी। ऐसे संकट–काल में मुझसे छोटा भाई नेकसिंह बीमार पड़ा और उसका कोई उपचार नहीं हो सका। इलाज दवा तो दूर, दो वक्त की दाल–रोटी के लाले पड़े हुए थे। अम्माँ के शरीर पर चाचा के मरने के बाद से कोई नया कपड़ा नहीं आया था।"[29]

अतः लेखक के पूरे परिवार के सामने भोजन की भयावह समस्या खड़ी हो गई इसलिए जो खाने योग्य भी नहीं था वह भी खाया – "इन्हीं दिनों हम दुबक छिप कर 'दाँयें' चलाने वाले बैलों के गोबर से गेहूँ निकालकर लाते थे और उन्हें धोकर अनाज छांट लेते थे। उस अनाज का रंग पीला था सो हमारी जीविका और कष्टमय हो गयी थी।"[30] इस प्रकार बालक सौराज खेलने, खाने व पढ़ने की उम्र में बाल श्रम व मजदूरी करने को मजबूर हुआ।

लेखक लिखता है कि किस प्रकार वे बिकाऊ माल की तरह अपने घर के बाहर बैठे रहते थे। कोई भी जरूरतमंद उन्हें मजदूरी के लिए ले जाता था – "अब बब्बा, ताऊ और मैं हमेशा घर के सामने बिकाऊ माल की तरह बैठे रहते थे। कोई आये, दिन–भर के लिए खरीद ले जाए, चाहे तो अपने खेत में काम कराने के लिए ले जाए या बोझा ढोने के लिए हम तैयार रहते थे। किसी तरह का काम दे, ताकि सेर–दो–सेर अन्न मिले। बड़े और बच्चों के पेट में अन्न पड़े।"[31] अतः भूख की विकरालता ने लेखक को बाल–संघर्ष करने के लिए विवश कर दिया।

सर्वप्रथम लेखक ने मुर्दा–मवेशी उठाने का काम अपने बब्बा और ताऊ के साथ किया – "मेरे कच्चे कन्धे संगेटा तो नहीं सँभाल पाते थे, लेकिन मुर्दा पशु के सींग, पैर या पूँछ पकड़ने का काम मैं डोरी ताऊ, प्यारे चच्चा, टुंडी व गंगी बब्बा के साथ करता रहता था। मांस निकाल लाने के लालच से भी मैं पशु–उठाई के काम में रूचि लेता था। सींग–पूँछ पकड़ते–पकड़ते आने–दो आने के लालच में लम्बे संगेटे के नीचे कब मेरे खुद के कंधे आ गये, पता ही नहीं चला था। यह मेरी अनौपचारिक ट्रेनिंग हुई।"[32] जानकारी यह भी है कि लेखक ने भूख की समस्या से निजात पाने के लिए भी अन्न के अभाव में मुर्दा–मवेशी की खाल उतारने का काम भी किया ताकि आना दो आना के साथ–साथ मुर्दा–मवेशी का मांस खाने को मिल सके।

यहाँ लेखक ने अस्मितामूलक प्रश्न भी उठाया है कि – "खाल काढ़ना एक कला थी तो उसे पकाने की प्रक्रिया पूरी इंजीनियरिंग थी। बिना कटे सफाई से खाल उतार देना या प्रयोगशाला में उसे पकाकर शुद्ध करना कोई कम हुनरमंदी का काम नहीं था। यहाँ किसी की किताबी मैरिट नहीं चलती थी, हालाँकि पोथी–मेरिट वाला होना समाज

की नजर में सम्मानजनक था और मवेशी उठाना अपमानजनक। इस परीक्षा में कोई भी ब्राह्मण फेल हो सकता था। एक जरूरी सेवा होने पर भी इसे करने से चमारों को जितनी घृणा और तिरस्कार मिले हैं, वे गिनाए नहीं जा सकते। डॉक्टर मनुष्य की लाश का पोस्टमार्टम करता है तो इज्जतदार होता है। भंगिन सफाई करती है तो दुत्कारी जाती है। चमार पशु की खाल उतारता है, तो वह बहिष्कृत और अछूत बना रहता है। मैं यह सब सहता रहा हूँ, इसलिए जानता हूँ कि आखिर भोगी हुई हिकारत का असर और भूख में अभोज्य का स्वाद कैसा होता है ?"[33]

लेखक यहाँ तथाकथित सवर्ण समाज से प्रश्न करता है कि आखिर क्यों दलितों के साथ ऐसी छुआछूत व अस्पृश्यता बरती जाती है या ऐसा क्यों होता है ? किसने ऐसी व्यवस्था बनायी है ? ये कुछ ऐसे सवाल हैं जिन्हें कमोवेश सभी दलित लेखक अपनी आत्मकथाओं में उठाते हैं ? और उसका जवाब ढूँढने की कोशिश करते हैं।

बहरहाल, लेखक के पिता की बेवक्त मृत्यु होने के कारण पूरे परिवार का जीवन तहस–नहस हो गया था। ऐसे में भूख और गरीबी से निजात पाने के लिए लेखक के नाना ने पुत्री सूरजमुखी के दो पुनर्विवाह कराए : पहला रामलाल से, और दूसरा भिकारी से। जबकि लेखक के दादा नहीं चाहते थे कि उनकी माँ का पुनर्विवाह हो, तब नाना ने परिवार वालों को सीधे–सीधे यह कह दिया – "मेरी बेटी की उमर अभी बीस–बाईस साल है। अभी उसने देखा क्या है? हम बामन बनिये तो हैं नाँय जो पाट न करें और न हम चौधरी हैं, जहाँ जायदाद की कमाई बेटियाँ खाती रहें। हम चमार हैं। हमारे यहाँ यही होता है और फिर बेटी घर बैठी भी रहे तो किसके सहारे ?"[34]

प्रस्तुत आत्मकथा में यह भी दर्शाया गया है कि ब्राह्मणों व सामंतों जैसी जटिलता यहाँ नहीं दिखलाई पड़ती जिसमें विधवा स्त्री जिंदगी भर दूसरों पर बोझ बनी रहती है। लेखक लिखता है कि – "पुनर्विवाह करना, विधवा विवाह करना या स्त्री–पुरुष को परस्पर सहमति से छोड़ना–जोड़ना हमारे यहाँ सामान्य प्रक्रिया थी। ब्राह्मणों जैसी जटिलता हमारे यहाँ आज भी नहीं है, जिसमें विधवा स्त्री जिन्दगी–भर दूसरों पर बोझ बनी रहती है। अपनी माँ और बहन के वैधव्य के उदाहरण मेरी स्मृति में जिन्दा हैं। कम से कम मेरे सामाजिक परिवेश में विधवा विवाह का विरोध और सती

प्रथा दलित स्त्रियों की समस्याएँ कभी नहीं रही हैं।"[35] अतः यह दलितों की परंपरा अच्छी मानी जाएगी कि यहाँ विधवा–विवाह का प्रचलन है।

रामलाल जाति से चमार, गरीब व मुर्दा–मवेशियों के सींग तथा हड्डियाँ उठाने का काम करते थे। रामलाल से सूरजमुखी का अलग होने का मुख्य कारण यह था कि वह दूसरे आदमी के बच्चों को पालने में रूचि नहीं रखता था। अतः कुछ ही दिनों में विवाद और कलह शुरू हो गया। अंततः लेखक के नाना ने पुनः मुखी का विवाह पाली–मुकीमपुर के भिकारी से करा दिया। वे तीन भाई थे भिकारी, डालचन्द और छोटे। भिकारी काम तो बहुत करता है, परंतु छोटी–छोटी बातों को लेकर अपनी पत्नी मुखी से झगड़ता रहता है। भयंकर क्रोधी है। मुखी के बच्चों को वह मजबूरी में पालता है, दोनों के बच्चों में वह निरंतर पक्षपात करता रहता है। भिकारी का छोटा भाई डालचन्द सेंधमारी का कार्य करता है और अपने दोनों भाइयों के टुकड़ों पर पलता है। हब्बू अहेरिया डालचन्द के साथ सेंधमारी का कार्य करता है। वह एक दिन श्यौराज को देखकर मुखी से सौराज की मांग करता है, ताकि वह उनके साथ चोरी करने में मदद करे, लेकिन माँ उनका विरोध करती है।

'घर' नामक प्रकरण में वास्तव में सौतेले पिता भिकारी का घर श्यौराज के लिए कभी भी अपना घर नहीं बन सका। यहाँ श्यौराज को 'लवारा' कहकर चिढ़ाया जाता था – "लवारा कहने से उसका मतलब था कि मैं सौतेले बाप के घर आने के कारण इंसान की औलाद नहीं रह गया हूँ। मेरा शुमार पशुओं में है।"[36]

मसलन मैं सौतेला हूँ, तो कुछ कम दर्जे का हूँ और इस बिना पर हिकारत और घृणा का पात्र हूँ, जिसे लेखक ने झेला। जो चाहे सो कहता : 'गे भिकारिया की दूसरी के संग आयौ है, गे सगौ नाँय हतु।' अतः बालक श्यौराज को पाली में सभी लोग हीन दृष्टि से देखते, जिससे उनके घाव और भी गहरे होते। न कभी उनकी जिद्द पूरी हुई और न ही कभी जन्मदिन मनाया गया। यहीं से उनके जीवन में स्वाभिमान की मुश्किलें प्रारंभ होती हैं। माँ भी अपनी दयनीय स्थिति के आगे विवश थी। अम्मा ने एक दिन क्रोधित होकर कहा था – "सुन सौराज, कान खोल के सुन ! तेरो बाप मरि चुको है। वो तेरी सुनन कूँ अब कबऊ लौटिके नाँय आवैगो, समझे। मैं तेरी कोई जिद पूरी नाँय

कर पाऊँगी। अब तोइ अपनी जिन्दगी अपनी कमाई में गुजारनी है। जिद्द छोड़, कछु काम सीख ले। कछु नाँय तो साइकिल में पिंजर जोड़नों ही सीख ले।"[37]

लेखक के स्वयं के शब्दों में – "इस प्रकार मेरा बचपन मेरा बोझ लेकर मेरे कमजोर कन्धों पर सवार होना शुरू हो गया था। बचपन मैं छोड़ नहीं सकता था और भार लेकर दौड़ नहीं सकता था। जीवन की मंजिलें आवाज दे रही थीं। रास्ते अनिश्चित और अपरिचित थे। पाली में मेरा गुजारा नहीं था। मैं यहाँ अवांछित तत्व था। बचपन के निर्वाह की जिम्मेदारियाँ जो खुद के कन्धों पर थीं।"[38]

अर्थात् पाली–मुकीमपुर में भी इस बालक के लिए जगह नहीं थी। इस प्रकार लेखक का पूरा बचपन कभी नदरौली, पाली, दिल्ली, बाजपुर, चन्दौसी आदि में भूख से संघर्ष और श्रमिक के रूप में कार्य करते हुए बीता। सौतेले पिता को एक औरत की जरूरत थी, उसके बच्चों की नहीं। इस स्थिति ने उन्हें रोटी के लिए बचपन में ही आत्मनिर्भर होने के लिए घर बदर हो कर दर–दर की ठोकरें खाने को मजबूर किया।

अतः पिता की असमय हुई ही मृत्यु बालक श्यौराज को वक्त से पहले ही बड़ा बनने को मजबूर करती है, उसे गंभीर और सहनशील बनाती है। जिसकी परिणति आगे उसके बाल मजदूर बनने में होती है। जीवित रहने के लिए काम करना जरुरी बन जाता है। ऐसी स्थिति में लेखक के जीवन में कुछ ऐसा था कि खाने के लिए जो भी मिलता श्यौराज और उसका परिवार बिना सोचे समझे उसे हलक के नीचे उतार लेता। एक दफा तो पेट की आग बुझाने के लिए ये सब लोग जहरीली ढड़ायन खा लेते हैं और मौत से रूबरू होकर आते हैं। इसका बड़ा ही करुण चित्रण लेखक ने 'भूख में ढड़ायन' नामक प्रसंग में अपनी आत्मकथा में किया है और मौत के मुँह से निकले अपने चारों बच्चों के चेहरे पर हाथ फेरते हुए लड़खड़ाते और रोते–घबराते स्वर में लेखक की माँ कहती है कि – 'मैं इकली मर जाती तो ठीक रहती। हे भगवान मेरे बालक कैसे मारि रए हैं।' इस पर लेखक लिखता है कि – 'अम्माँ एक बात अच्छी है कि हम सब एक संग मरि रए हैं। कोई रोवन और दुख उठावन कूं जिन्दो नाँय बचैगो।' यह सुन रहे बब्बा बोल उठते हैं कि – "जा घर में सबकी मरिनु में ही गिनती हैं। तुम बिना मौति ही मर रहे हो और हमारी तो जिन्दिनु में गिनती नाँइ है। मौत ससुरी नाँइ आवति सो

किडिरि (घिसट रहे हैं) रहे हैं। हम तो न जिन्दिनु में, न मरिनु में। तुम हो तो कछु दिन हम और जियते। अब घर ही मरघट बनि रओ है तो।"[39]

लेखक ने जिस प्रकार अपने व अपने परिवार के पालन–पोषण के लिए अपना बचपन श्रम के हवाले कर दिया, वह बहुत ही संघर्षशील व कर्मठता का सूचक है। एक जगह उन्होंने बताया है कि कैसे वह 'दायें' चलाने वाले बैलों के गोबर से गेहूँ निकालकर लाते थे, दूसरी जगह वे बताते हैं कि भूख मिटाने के लिए जहर रुपी ढड़ायन को भी पेट में उतार लेते हैं। पढ़ने पर बहुत ही दुःख एवं हैरत करने वाली घटना लगती है। एक और घटना जो बहुत ही करुणा से भरी होने के साथ–साथ ममतामयी है। उन्होंने एक जगह लिखा भी है कि – "देश के करोड़ों दलित बच्चों की तरह मेरा भी कभी जन्मदिन नहीं मना। जन्म–तिथि मेरी माँ को ज्ञात नहीं थी। उन्हें कभी अक्षर ज्ञान प्राप्त करने का मौका नहीं मिला। वैसे मैं भी उन बच्चों की तरह ही था जिन्हें अपने जन्मदिन उत्सव से लगते हैं।"[40]

यहाँ डॉ. राजेन्द्र बड़गूजर का कथन उल्लेखनीय है – "यह आत्मकथा उन तमाम बाल मजदूरों के प्रति भी पाठकों की सहृदयता जगाती है जो इस देश के गरीब बालक होने का दण्ड भुगत रहे हैं। बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर की 'शिक्षित बनो' की जिजीविषा को देखना है, तो हर दलित को यह आत्मकथा अवश्य पढ़नी चाहिए।"[41]

इस प्रकार न जाने श्यौराज के बाल–श्रम व दलित जीवन के कितने यातनामय संघर्ष के पहलू हैं जो दिल को दहला देने वाले हैं। उनका पूरा बचपन ही अभावों से घिरा हुआ जान पड़ता है। जीवन के हर मोड़ पर अभावों और कड़े संघर्ष से हरदम रु–ब–रु होना पड़ता है और वर्तमान में उनकी गिनती दलित चिंतकों में होती है। आज हरेक दलित एवं अन्य उन अभावग्रस्त युवाओं को उनकी इस आत्मकथा से प्रेरणा लेनी चाहिए। जिससे कि वे अपने जीवन को लक्ष्य प्राप्त करने में अग्रसर हो सके।

भूख जैसी बुनियादी समस्या के साथ ही श्यौराज के मन में शिक्षा प्राप्ति के लिए भी आकर्षण है। अर्थात् सौराज को बचपन से ही पढ़ाई में रूचि थी। जब सौराज पाली–मुकीमपुर में अपनी माँ के साथ अपने तीसरे पिता के घर रहने लगा तब उनका शिक्षा की तरफ रुझान हुआ। पिता के देहांत के पश्चात् माँ मुखी सामाजिक और

आर्थिक परिस्थितियों के कारण चाहते हुए भी लेखक को पढ़ा नहीं सकती थी और सौतेले बाप भिकारी के अंदर सौतेलापन का विष इतना घर कर गया था कि वह श्यौराज को स्कूल ही नहीं भेजना चाहता था लेकिन सामाजिक दबाव में आकर उसे अपने बेटे रूपसिंह के साथ सौराज का स्कूल में दाखिला करवाना पड़ता है। सगा बेटा पढ़ने में कमजोर था और सौतेला पढ़ने में बहुत आगे। सौतेले पिता 'भिकारी' को जब स्कूल के मास्टर से यह पता चलता है कि – "सुनो भाई भिकारीलाल, सच्ची बात तो यह है कि तुम्हारा यह बड़ा लड़का रूपसिंह तो पढ़ाई में कोई रूचि नहीं लेता और ना ही किसी विषय में मेहनत करता है। छह–सात महीने में उसे पूरे अक्षर तक याद नहीं हो पाए हैं। वह ज्यादा समय कक्षा से गायब रहता है, परन्तु तुम्हारा यह छोटा बेटा श्यौराज, पढ़ने में अच्छा है। यह पढ़ सकता है। आप इसे पढ़ाओ। यह होनहार है। आगे चल कर कुछ–न–कुछ अवश्य बन जाएगा।"[42]

शिक्षक की यह अप्रत्याशित रिपोर्ट सुनकर कि उसका सगा बेटा रूपसिंह पढ़ाई में कमजोर है और सौतेला पुत्र श्यौराज पढ़ाई में तेज है तो वह ईर्ष्या से भर उठता है। और उस दिन घर आकर बुदबुदाते हुए कहता है कि – "ससुरी, गे (यह) कलक्टर बनैगो, मास्टर की हूँ निघा (निगाह) में ससुरी को तेज है, होनहार है, सारे सबद याद कर लए या ससुर ने। याकौ पेट मैं भरूँ और पढ़ गयौ तो सुख दैगो मैहतारी कूँ। गै बिलौटा, खाइवे मैं नाको है और पढिवे मैं तेज है, कमाइवे कूँ मरी परे हैं या पै। ऐसौ 'हनुआ' लै आयी, जो मेरे लड़का से ज्यादा होशियार है।"[43]

इस घटना के बारे में श्यौराज लिखते हैं कि – "छोटेलाल की असहमति के बावजूद दोनों भाइयों ने मिल कर नकारात्मक योजना को कार्यरूप दिया। भिकारी ने तमतमाते हुए उठकर सिलौटी उठायी और दोनों पट्टियाँ (तख्तियाँ) चौखट पर रखकर एक–एक कर सिलौटी मार कर तोड़ीं और स्कूल के थैले से किताबें निकाल कर जब फाड़ना चाहा, तो अम्मा ने लपक कर झटके से किताबें छीन लीं। तब भिकारी ने उछल कर माँ की छाती पर एक लात जमा दी और वह चौखाने चित्त गिर पड़ी। उस वक्त ऐसा लग रहा था जैसे कोई भयंकर भूत या जिन्न भिकारी पर सवार है। मिट्टी के तेल की डिब्बी चूल्हे के ऊपर टाक में रखी थी। भिकारी ने किताबों पर तेल उड़ेल कर माचिस की तीली दिखा दी। किताबें जल उठीं। पट्टियों ने भी आग पकड़ ली।"[44]

इस काम को अंजाम दे उन्होंने संतोष की सांस ली। ऐसा करके उसने सोचा कि चलो हमने सौतेले श्यौराज के विद्यार्जन का मार्ग हमेशा के लिए बंद कर दिया। लेकिन "सच तो यह है कि किताबें जलाकर उन्होंने मेरी मेधा और जिज्ञासा की देह पर अंगारे भले ही फेंके हों, लेकिन दग्ध आत्मा मरी नहीं। सुरक्षित ही रही। यह और बात है कि इस अज्ञानता ने कलेजा मुँह को ला देने वाले अनुभवों का सामना हजारों बार कराया है। अड़ोस–पड़ोस से कोई उनका विरोध करने नहीं आया। आता भी कैसे ? मार–पीट और गाली–गलौच करना तो भिकारी का रोज का धन्धा था।"[45] किंतु अम्मा चीख–चीख कर कह रही थी – "जो कारे पेट को आदमी है, जा को बेटा फेल है गओ तो मेरो सौराज न पढ़ जाय, जा मारें दारीजार ने किताबें जराई दईं। पर मैं मन मसोसि कें कह रही हूँ, बंदे याद रखिये जो सौराज जरुर पढेगो। भगवान के घर देर है अँधेर नाँय है, और तू कितनोऊँ जल मरि, तेरे चाहिवे तें रूपा नाँय पढि पावेगो।"[46]

अतः भिकारी के ऐसा करने के बावजूद बालक श्यौराज का शिक्षा के प्रति लगाव और ज्ञान की प्यास बढ़ जाती है और लेखक लिखता है कि – "दो–तीन दिनों तक मुझे अक्षरों के दर्शन नहीं हुए। बस्ती के कुछ और लड़के स्कूल में मेरे साथ के थे। मैं दब–छिप कर उनकी किताबों में बने क से कबूतर, ख से खरगोश, ग से गदहा इत्यादि पढ़ आता था। सौ तक गिनतियाँ भी याद कर ली थीं।"[47]

लेखक में पढ़ने की ललक इतनी है कि वह हमेशा पढ़ने को तैयार रहता है। लगन एवं चीजों को समझने की क्षमता उसके हृदय में कूट–कूट कर भरी हुई है। इस प्रकार लेखक बचपन में पढ़ने की ललक के चलते मन में यह सोचता रहता कि – "मैं हर दिन यह जुगाड़ देखता रहता था कि कहीं से चार–छह आना हाथ लगें, तो मैं कोई किताब खरीद लूँ और उसे लटूरी या किसी अन्य साथी के घर में छिपा कर रख दूँ।"[48]

इसी ललक के चलते बालक सौराज चाचा डालचन्द की जेब से एक रुपए का नोट चुरा लेता है और पुस्तक की दुकान पर चला जाता है किंतु चाचा छोटेलाल के आ जाने से कहीं चोरी न पकड़ी जाए, वह रुपए को नाली में फेंक देता है पर माँ उसके रुपए चुराए जाने की एवज में पीटी जाती है। जब वह घर जाता है तो देखता है कि – "मेरी माँ कसाई द्वारा काटी जा रही गाय की तरह चीख रही थी। माँ की चीख मुझे

कुछ दूर से सुनाई पड़ गयी थी। मैं दौड़ कर उसके पास पहुँचा। उस समय माँ गलियारे में पड़ी कराह रही थी। उसकी कमर पर भिकारी ने पहला वार फरहे (वह लकड़ी जिस पर रख कर चमड़ा काटा जाता था) से किया था। उसके बाद डालचन्द ने भी माँ के शरीर पर लाठियाँ बरसाई थीं। उसने सिर बचा कर माँ का सारा शरीर तोड़ दिया था। माँ चीखते–कराहते बेहोश हो गई थी।"[49]

यहाँ दलित स्त्री होने के नाते माँ का तिहरा शोषण होता है। स्त्री के विषय में विशेषकर पत्नी के मामले में सारी उदारता व विनम्रता समाप्त हो जाती है और पुरुष केवल रूढ़ भारतीय मर्द बनकर रह जाता है। इसलिए लेखक की माँ घर में एक रूपया चोरी होने की सजा पाती है। सजा से पूर्व उससे एक रूपया चोरी करने के बारे में पड़ताल भी नहीं की जाती है। शक–सुबा के आधार पर उसको मारा–पीटा जाता है। यहाँ माँ की जिन्दगी इस भ्रम का भी भेद खोलती है कि दलित स्त्रियों को स्वतंत्रता हासिल है कि उन्हें विधवा होने का जीवन नहीं झेलना पड़ता जबकि विधवा–विवाह के पश्चात् लेखक की माँ का उत्पीड़न साबित करता है कि उन्हें विधवा–विवाह के पश्चात् भी सुख नसीब नहीं होता क्योंकि जब वह अपने बच्चों को नए पति के घर लाती हैं तो पति को सौतेले बच्चे मंजूर नहीं होते। बच्चों के साथ सौतेलेपन के कारण घृणा वा आक्रोश का बर्ताव किया जाता है। ऐसी स्थिति को देखकर कहा जा सकता है कि लेखक की माँ अपने गाँव नदरौली में ही मेहनत–मजदूरी करके अपने बच्चों का पालन–पोषण करती तो कम–से कम वह रामलाल व भिकारी का शोषण तो नहीं सहती।

बजरंग बिहारी तिवारी का कहना है कि – "'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' दलित स्त्री उत्पीड़न का नायाब दस्तावेज है। श्यौराज सिंह बेचैन को इसके लिए जितनी बधाई दी जाये, कम है। दलित स्त्री के प्रश्न पर उनकी जो छवि बनी है, यह आत्मकथा उसे तोड़ती है।..... सबसे बड़ी शिकार तो लेखक की माँ ही है।"[50]

दूसरी तरफ बालक श्यौराज में पढ़ने की ललक भूख व रोटी से भी बढ़कर है। जब श्यौराज सौतेले पिता भिकारी से पिटी माँ की मार पर देशी मरहम लगाता है तो –

"पीठ पर हल्दी पोतते हुए मुझे ऐसा लगा, मानो माँ की देह पर मेरी किताब के अक्षर छपे हैं और माँ पूरी की पूरी किताब हो गई है।"[51]

साहित्य अकादमी से सम्मानित दिवंगत वरिष्ठ कवि वीरेन डंगवाल बालक श्यौराज की पढ़ने की ललक पर विचार करते हुए लिखते हैं कि – "प्रत्यक्ष तौर पर 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' एक वृहत्तर आत्मकथा का पहला भाग है, जिसमें हर तरह से वंचित और अभिशप्त पांच–छह साल के दलित बालक सौराज की पढ़ाई के लिए ललक प्रारंभिक अक्षर प्रेम, इस प्रेम के लिए प्रताड़ना से लेकर दसवीं दर्जे तक का आख्यान है।"[52]

संपूर्ण आत्मकथा में उल्लेखनीय है कि बालक श्यौराज की पढ़ने की ललक बराबर बनी हुई है वह हर परिस्थिति में पढ़ने को तैयार है। इसलिए जब उसकी माँ बिना वजह पीटी जाती है तो उसकी पीठ पर पड़ी मार की कल्पना भी वह अक्षरों से करता है। इसके पश्चात् भी बालक श्यौराज का स्कूल व पढ़ाई के प्रति के आकर्षण बना रहता है।

माँ सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों के कारण चाहते हुए भी बालक श्यौराज को नहीं पढ़ा सकती। वह उसे हरदम अपने कठिन हालातों के प्रति सचेत कराते हुए नजर आती है। सहानुभूति भरे शब्दों में बेटे से कहती है कि – "जो तू पढ़नो चाहत है तो पहले अपने मर गये बाप को वापस बुला। बाप नाँय लावत तो पहले अपने खान कूँ रोटी पहन्न कूँ लत्ता और फीस किताबन कूँ पैसा ला। तब तू स्कूल जइये और तब तू झण्डा गीत गाइये। का तू जानत नाँय है कै तू भिकरिया को सगो बेटा नाँय है। जो तोय चों पढ़ावेगो ? तू पढिवे की जिद्द नाँय छोड़ेगो तो जे तेरे संग–संग हम सब को मारि–मारि के घर तें बाहर निकार देगो।"[53]

ऐसे बहुत से प्रसंग श्यौराज के बाल जीवन में घटे हैं जहाँ उसकी माँ परिस्थिति से लड़ने के लिए उसे हमेशा सचेत करती नजर आती है। माँ की बेरुखी व फटकारें बच्चों के दिलों पर गहरा असर डालती है लेकिन श्यौराज की माँ यहाँ मजबूर हैं क्योंकि वह जानती है कि श्यौराज की जिन्दगी का कोई सहारा नहीं है, यहाँ तक कि वह खुद भी उसे सहारा नहीं दे सकती थी। इस घटना के बारह वर्ष तक छात्र के रूप में लेखक

ने स्कूल का मुँह नहीं देखा। जो कुछ भी पढ़ा, वह बाल–श्रम करते हुए अनौपचारिक रूप से अभिरूचि के अनुसार पढ़ा।

फिर उसके बाद सौतेले पिता भिकारी द्वारा बालक श्यौराज व बहन माया को भट्टे पर बाल–श्रम के जबरन भेजने का फैसला लेना और भेजने से पूर्व ही पेशगी ले लेना, यह भी भिकारीलाल के स्वभाव में सौतेलापन ही दर्शाता है।

प्रकरण पाँच में वे अपने पुरखों का परिचय पाठकों को करा देते हैं। इनके पुरखे भी मुर्दा–मवेशी उठाने का काम करते थे। लेखक के शब्दों में – "मेरे तीनों बाबा मुर्दा–मवेशी उठाने का काम करते थे। पहली पीढ़ी तक पूरे मोहल्ले में यही काम होता था। लेकिन मैंने जब होश सँभाला, तब केवल दो–तीन घरों में ही यह काम रह गया था।"[54] क्योंकि बाकी सभी मुर्दा–मवेशी के काम को त्यागकर जाटव बन गये थे, अपने–आपको चमारों से ऊँचा समझने लगे थे। लेखक बताते हैं कि उनके परिवार में कोई भी शिक्षित नहीं था – "स्कूल का मुँह न तो मेरे बाबा दादाओं में किसी ने देखा था और न मेरी ननिहाल में किसी ने। सब के सब पीढ़ियों से निरक्षर थे, जिनमें जिन्दा बचे सदस्य आज भी साक्षर नहीं हैं।"[55] अर्थात् चारों ओर निरक्षरता व्याप्त थी। बालक श्यौराज के पिता जूते बनाते थे। इनके जूते बनाने की सभी प्रशंसा किया करते थे। उन्होंने एक बार एक ऐसे ग्राहक की जूती बनाई, जिसे कई कारीगर बनाने में असमर्थ थे, लेकिन ऐसे ग्राहक की जूती बनाने की बिना किसी अपराध के पुलिस ने उन्हें सजा दी और जुर्माना भी वसूल किया। तब लेखक अपने पिता के विषय में लिखते हैं कि – "मेरे पिता अनपढ़ होकर भी तीव्र बुद्धि वाले व्यक्ति थे। इस घटना से यह साबित हो गया था। मैं सोचता हूँ उन्हें पढ़ने का मौका मिला होता तो वे निश्चय ही और अधिक प्रतिभाशाली साबित हुए होते।"[56]

इससे लेखक की शिक्षा के प्रति दृष्टि का आभास होता है कि वह जीवन में शिक्षा को बहुत जरूरी मानते हैं। छुआछूत और अस्पृश्यता की भावना यहाँ भी मौजूद थी। लेखक के शब्दों में – "छुआछूत की भावना रखने के कारण गाँव के यादवों को चमारों और खास कर वाल्मीकियों को गाँव के अन्दर रहने से आपत्ति होती थी। उनके सूअरों को रास्ते नहीं मिलते थे। खुद वाल्मीकियों को अपने जानवर पालने में कठिनाई

होती थी। अतः अपने घर–आँगन यादवों को बेच कर आजकल सभी वाल्मीकि और चमार फिर गाँव से बाहर आ बसें हैं। हाशिए से बाहर।"[57] इसके अतिरिक्त बचपन में श्यौराज ने एक भंगिन के हाथ रोटी खाई थी, तब उन्हें इसके लिए चच्चा ने मुझे सबके सामने जलील किया और सभी में सनसनी फैल गई।

प्रकरण छह में बहन माया के विवाह का वर्णन है। बहन माया का विवाह भी घर की परिस्थितियों के अनुकूल न होने पर छोटी उम्र में ही करवा दिया जाता है। वर उनकी बहन से पंद्रह वर्ष बड़ा था। नापसंदगी का कोई सवाल ही नहीं उठता था, क्योंकि शादी जैसे–तैसे जोड़–गाँठ कर के हो रही थी। अम्माँ ने लड़के के बारे में कुछ भी कहना चाहा, तो उन्हें इस तरह खरी–खोटी सुना दी – "देख सूरजमुखी ! सुनि हमने खूब देखो, पर बिना बाप की लड़की तें कौन सुन्दर लड़का शादी करेगो ? घर में कहने को दाने नाँय शादी में दान–दहेज कहाँ से खर्च करेगी ?"[58] लेखक के परिवार की हालत ऐसी थी कि बारातियों को दूसरे वक्त की रोटी भी नहीं खिला सके। लेकिन फिर भी लेखक की बहन माया का विवाह सम्पन्न हुआ। बहन माया की शादी के बाद श्यौराज बहुत अकेलापन महसूस करते हैं कि मेरे पिता नहीं है। माँ भी मेरे पास नहीं रहेगी। वह पाली चली जायेगी। मेरे साथ एक बहन थी। वह भी जा रही है। मेरा आत्मीय कौन रहेगा यहाँ ? मेरा ह्रदय अपने अकेले होने की आशंका से डर गया था।

इनके जीजा के पास काफी जमीन थी। घर की आर्थिक स्थिति ठीक–ठाक थी। लेकिन बहन माया के ससुराल में भी छुआछूत विद्यमान थी – "माया बहन के घर के पास एक कुआँ था। कुएँ के पास से रास्ता गुजरता था। बरसात के झड़ लगे थे, कुएँ की जगत न होने के कारण रास्ते से जाता बारिश का पानी कुएँ में भर गया था। बिरादरी के सभी लोग मिल कर जाटों और बामनों के ऊँची जगत वाले सुरक्षित कुओं पर गये। याचकों की मुद्रा में पानी के लिए रिरियाए। पर अस्पृश्यता का आलम ऐसा था कि एक बूँद भी पानी किसी जाट–बामन ने उन्हें नहीं दिया था। मजबूरन सभी चमारों ने गन्दा पानी पिया।"[59]

नतीजा यह हुआ कि किसी को उल्टी, किसी को दस्त, किसी को बुखार, हर घर का सदस्य बीमार हुआ। इसी कारण बहन के विवाह के कुछ ही दिनों के बाद लेखक

के जीजाजी बीमार हो जाते हैं। उनके गले में इंफेक्शन हुआ। उन्हें स्वस्थ करने हेतु अँधश्रद्धा के अनेक उपचार किये जाते हैं। इसी बीच इतनी कम आयु में बालक श्यौराज गठियाबाय की बीमारी से परेशान हो जाता है। जीजा का उपचार कराने के लिए उन्हें दिल्ली इर्विन (एल.एन.जेपी) अस्पताल में भर्ती कराया जाता है। परंतु होता कुछ नहीं। कुछ ही दिनों में वही इंफेक्शन जीजाजी की मृत्यु का कारण बन जाता है। बहन माया का विवाह हुआ और विवाह की उम्र से पहले ही वह विधवा हो जाती है। फिर समस्या यह आती है कि दिल्ली जैसे शहर में जीजा का अंतिम संस्कार कैसे किया जाए ? अंततः सभी रिश्तेदार मजदूर, झुग्गियों में रहने वाले चंदा इकट्ठा करके कफन खरीदा जाता है। इस परिवार को नितांत त्रासदियों का शिकार होना पड़ता है। इधर श्यौराज गठियाबाय की बीमारी से परेशान, बहन विधवा और माँ का निरंतर शोषण। चाचा अँधे। उन दिनों श्यौराज का मजाक उड़ाते हुए उसके मित्र कहते हैं कि – "अब नाइ ठीक होइगो। जो खानदान ही ऐसो है। जामें कोई अँधो, कोई लंगड़ो ही होत है। सही सलामत होत ही कौन है ? और जो होत है सो मरिजातु है।"[60]

फिर प्रकरण सात **'जीवित बचा स्वराज'** में रोजगार की तलाश में बालक श्यौराज माँ के साथ बाजपुर निकल जाता है। यहाँ सरदारों की खेती है। भरपूर काम उपलब्ध है। खाना ठीक से मिलता है। मजदूरी भी। एक बार श्यौराज की इच्छा जम कर नदी में तैरने की करती है। वह इच्छा उसे मृत्यु तक पहुँचाने वाली थी। संयोग से वह बच जाता है। इसी बाजपुर में पके हुए अमरूदों के मोह में वह नीचे पड़े हुए अमरुद उठा लेता है और खाते वक्त उसे मालिक देख लेता है। ये दलित हैं, मजदूर हैं, इसका पता हो जाने पर वह श्यौराज को बेहद पीटता है। बाजपुर में वैसे तो खाने की कोई कमी नहीं थी पर मेहनत बहुत करनी पड़ती थी। यहाँ इन्हें एक बार साँप ने काटा, एक बार डूबते–डूबते बचे, इसी कारण माँ अब बाजपुर छोड़ना चाहती है। एक दिन वे बाजपुर से निकल जाते हैं। पाँच वर्षों बाद लेखक फिर बाजपुर जाता है। तब वे हाईस्कूल के छात्र थे। काम की तलाश में ही आए थे। एक बार मुरादाबाद रेलवे स्टेशन पर दलित होने के कारण सिपाही इनकी और उनके मित्र रज्जू मौर्य की खूब पिटाई करता है। बाजपुर से लौटने के बाद फिर से वे ईंटें पाथने के काम पर जाने लगते हैं।

प्रकरण आठ में भूख से परेशान होकर एक दिन श्यौराज दो रोटी भर आटे की चोरी करता है और पकड़ा जाता है। गाँव प्रधान के यहाँ पेशी हो जाती है। घरवाले भी पीटते हैं। यह सन् 1968 की घटना है। आयु आठ साल की। अब इन्हें ईंटें पाथने के लिए बुआ के पति अपने गाँव ले जाते हैं। वहाँ के अनुभव वे इस प्रकरण में विस्तार से बतलाते हैं कि – "जब से होश सँभाला, तब से आज तक मुझे चाहे बहन का घर हो, या सौतेले बाप का घर, अपने पूर्वजों का गाँव या फिर दिल्ली में मौसी का घर अथवा बाजपुर (नैनीताल) वगैरह में किए गये तरह–तरह के काम, मैंने काम करके ही रोटी खाई है और इतनी कीमतें चुकाई हैं कि समाज मेरे बाल श्रम का भुगतान कर दे तो मैं आज से ही शेष जीवन बगैर कमाए खाने का हकदार हूँ, जबकि हमारे देश में ज्यादातर बच्चे माँ–बाप की विरासत में मिली सम्पत्ति के कारण बड़े बनते हैं।"[61]

अतः रोटी, शिक्षा व अस्मिता के लिए मजदूरी और मजदूरी के लिए दर–दर भटकना यह इस आयु के श्यौराज की नियति थी। मजदूरी हेतु वे इस आयु में रामपुर भी गए। उनके अँधे ताऊ की पत्नी ताई उनके लिए अँधेरे में लौटती रौशनी थीं, अँधे ताऊ को छोड़कर एक दिन यह ताई भी निकल जाती है। यहाँ वे अपने नाना के व्यक्तित्व का भी परिचय कराते हैं – "नाना जी ने किसी गलती पर मुझे दूर से ही डाँटा तो मेरा पेशाब निकल गया। पेशाब की पहली धार सीधी दाल के बर्तन में गयी। मूतता हुआ उठा और उठ कर सामने नाली में बाकी पेशाब करके आया। लेकिन मैंने डर के मारे किसी को यह नहीं बताया कि दाल खाने लायक नहीं है। बल्कि भूख की तीव्रता में मैं वही पेशाब मिश्रित दाल खाता रहा। दाल खाना नाना की डाँट खाने से अच्छा था।"[62]

इसी अंश में लेखक स्कूल न जाते हुए भी अपनी पढ़ने की दीवानगी के बारे में बताता है कि – "पढ़ने का शौक पहले से ही था। जरूरत बाद में महसूस हुई। मेरा निर्माण अध्ययन की निरन्तरता में हुआ। पर यहाँ मैं बहुत आरम्भ की झलक दे रहा हूँ। जब भी, काम जो भी करता, लेकिन एक मैली पतली–सी किताब मेरी जेब या थैले में अवश्य रहती थी और जिन्हें मैं पढ़ सकता था। स्कूली बच्चों की वे सब किताबें मैं पढ़ता था जो मुझे अच्छी लगती थीं। मेरा कोई निश्चित कोर्स और गुरु नहीं था। किसी स्कूल का छात्र मैं नहीं था।"[63] अर्थात् बालक श्यौराज की बिना शिक्षक व स्कूल के भी

पढ़ने की ललक बरकरार थी। इसके लिए छुआछूत, गरीबी व अभावों के कारण लेखक पुस्तकें खरीदने में असमर्थ था इसलिए वह चोरी भी करने लगा था। लेखक के स्वयं के शब्दों में – "पढ़ाई में रुचि बढ़ने और किताबों के लिए पैसा न होने के कारण मैं जितनी किताबें खरीदता लगभग उतनी ही चुरा कर लाने लगा था।"[64]

यहाँ हिन्दी साहित्य के बड़े आलोचक प्रो. सुधीश पचौरी का कथन दृष्टव्य है – "बालक श्यौराज को बचपन में ही महसूस हो जाता है कि अगर वह सामर्थ्यवान हो सकता है तो पढ़ाई–लिखाई से। इसके लिए वह चोरी करता है, मार खाता है, ...पढ़ता है, लेकिन पढ़ने की उसकी भूख जाती नहीं। ये प्रसंग बेहद प्रामाणिक और नई चमक लिए हैं। पढ़ने का यह आत्मसंघर्ष आगे तक चलता है और तब तक, जब तक श्यौराज किशोर होता हुआ राजनीतिक रूप से कुछ–कुछ सचेत हो जाता है। ज्ञान ही सत्ता (power) है और ज्ञान किस तरह से कैसे सत्ता के हाथ में है, उसे वहां से लेना चाहिए, जो आत्मसंघर्ष को जन्म देता है।"[65] अतः यह आत्मसंघर्ष शिक्षा के प्रति ललक ने बालक श्यौराज से करवाया।

उमाशंकर चौधरी का कहना है कि – "बेचैन की आत्मकथा में जातीय दंश, जातीय अपमान नहीं के बराबर हैं। एकाध दृश्यों को छोड़ कर सवा चार सौ पृष्ठ की इस आत्मकथा में सिर्फ आर्थिक गरीबी का उल्लेख है।"[66]

यहाँ मैं डॉ. धर्मवीर द्वारा की गई समीक्षा की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहूँगी, जिसमें उन्होंने उमाशंकर चौधरी और बजरंग बिहारी तिवारी को इस प्रश्न का जवाब प्रस्तुत किया है – "सोचता हूँ, उमाशंकर चौधरी और बजरंग बिहारी तिवारी को इस पुस्तक में क्या मिला ? उत्तर है, उन्हें कुछ भी नया नहीं मिला। जो श्यौराज सिंह बेचैन ने इस पुस्तक में सच्चाई लिखी है, उसे गाँव और शहर के ये दोनों चौधरी और तिवारी पहले से जानते हैं। गाँव में बालक श्यौराज का जीवन किसी से छिपा नहीं है। क्या इससे पहले, भंगी जाति के ओमप्रकश वाल्मीकि के दारुण दुखों को और सूरजपाल चौहान के जीवन के कठिन हादसों को गाँव के मुकद्दम और जमींदार नहीं जानते हैं ? वे खूब जानते हैं, क्योंकि वे ही उन दुखों और हादसों के कारक हैं। इसलिए, इन

समीक्षाओं में हुआ कुछ नहीं है, गाँव से गुत्थमगुत्था करते–करते बेगारी और जमींदार के बालक राजधानी दिल्ली के साहित्यिक अखाड़े में उतर आए हैं।"[67]

अतः कह सकते हैं कि लेखक ने अपनी आत्मकथा में ब्राह्मणवादी व वर्णवादी व्यवस्था की पोल खोल कर रख दी है। इसी व्यवस्था के अनुसार दलितों के श्रम व श्रमिक जीवन को हेय दृष्टि से देखा गया। उनके साथ छुआछूत व जातिगत अपमान किया गया, जिसका लेखक भी शिकार हुआ है और अपनी आत्मकथा में इसका चित्रण भी किया है।

प्रकरण नौ **'विरासत'** में वह हर श्रमिक पेशे को छोटा समझता है – "गाँव में आज भी मेरे घर में आसानी से रोटी नहीं जुटती है। रोजगार का कोई साधन नहीं है। गैर–दलितों की तुलना में हालात बद से बदतर हो चुके हैं चमड़ा बनाने का धन्धा तो दशकों पहले बन्द ही हो गया था। डेढ़–दो बीघे पुश्तैनी जमीन के तीन टुकड़ों में से एक बचा है।"[68] लेखक यहाँ जाति–प्रथा के बारे में काफी सोचता है। उन्होंने लिखा भी है कि – "'पशुओं में गधा', 'पक्षियों में उल्लू', और 'जातियों में चमार' ये कहावतें हमारे प्रति सवर्णों की दलित विरोधी मानसिकता को उजागर करती है। यह एक दिन में तैयार नहीं हुई। ये जख्म इतने गहरे हैं कि हम दर्द से तड़पने के बजाय सहन करने के अभ्यस्त हो गये हैं।"[69] इसके अतिरिक्त 'गधेराज चमार', 'चमार की औलाद', 'क्या चमार–पंचायत लगा रखी है', ऐसे मुहावरों का प्रचलन दलितों के लिए किया जाता है। इस तरह का बर्ताव दलितों के साथ जातीय दंश या जातीय अपमान के अंतर्गत ही आता है। अर्थात् लेखक जानता है कि दलितों में चमार जाति को द्विज समाज ने घृणा व हिकारत की दृष्टि से देखा है, आए दिन उनका शोषण किया जाता है।

लेखक अपने ताऊ के साथ बीते दिनों की याद करते हैं। ताऊ अँधे थे, परंतु काम के पक्के थे। उन दिनों श्यौराज गन्ने की बुआई गन्ने की खुदाई, फिर गन्ना छीलने, ढोने, कोल्हू चलाने, भट्टी में खाई–पाती झोंकने आदि विभिन्न प्रकार के काम किया करते थे। अत्यधिक मेहनत के इन कार्यों से मिलता क्या था ? 'कभी सेर आधा सेर अन्न, कभी दो वक्त की रोटी तो कभी एक–आध बाल्टी लदोई।' एक दिन कोल्हू पर काम करते समय अँधे ताऊ के कपड़े जल जाते हैं। इसका करुण चित्रण इस

आत्मकथा की उपलब्धि है। इस प्रकरण के अंत में श्यौराज ने 'मेरे पूर्वज' नामक अपनी एक कविता लिखी है। जिसकी पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं –

"मेरे पूर्वजों !
मैं तुम्हारे
स्वीकार का
नकार हूँ।
तुम्हारे
अतीत का भविष्य हूँ।
तुम्हारे
बन्द हुए रास्तों'
खो गई मंजिलों का
दिशासूचक हूँ।"[70]

प्रकरण नौ के केंद्र में दिल्ली शहर है। लेखक यहाँ काम की तलाश में आता है। अथवा यूं कहें कि उनके मौसाजी देवीदास उन्हें दिल्ली ले जाते हैं। उनके जितने रिश्तेदार इस आत्मकथा में आए हैं, उन सब में देवीदास जी बेहद समझदार, संवेदनशील और श्यौराज के प्रति भीतर से आत्मीयता रखने वाले अपवादात्मक व्यक्ति हैं। यह भी सही है कि वे भी व्यवस्था की मार से परेशान हैं। दिन रात मेहनत करते हुए किसी तरह घर की गाड़ी चलाते रहते हैं। श्यौराज काम पर जाए, अपने लिए जरुर कमाए, इसलिये वे उसे अपने यहाँ लाते हैं और यहीं से इनके जीवन में एक दूसरा मोड़ आ जाता है। श्यौराज के शब्दों में दिल्ली जैसी बड़ी दुनिया में उनके ये छोटे कदम थे। वे लिखते हैं कि – 'हम दलितों को विरासत में सिवाय हाथ–पाँव के जमीन–जायदाद कुछ भी नहीं है।' अर्थात् हाथ–पाँव के सिवा बुद्धि तथा प्रतिभा भी उन्हें विरासत में मिली है। इसी बुद्धि और विरासत के बलबूते पर वे इस प्रतिकूल स्थिति से बाहर निकल सके हैं। आरंभ में इन्हें फर्श की रगड़ाई करने वाली मशीन पर काम करने के लिए कहा जाता है। वे पूरी ईमानदारी से यह काम करते हैं परंतु बिना किसी वजह के जब उनका अपमान किया जाता है तो वे यह काम छोड़ देते हैं। बचपन से वे मजदूरी कर रहे हैं, परंतु स्वाभिमान बेच कर नहीं। उनके अनुसार, जिन्हें बचपन से ही खुद की रोटी का

इंतजाम करना पड़ता हो, वे पढ़ने के लिए नहीं कमाने के लिए पैदा होते हैं। इस सूत्र वाक्य को वे अपनी जिद्द और परिश्रम के आधार को झूठा साबित कर देते हैं इसके बाद वे दिल्ली की एक कॉलोनी में घर–घर अखबार डालने का काम करते हैं। इस काम में दिक्कतें पैदा हो जाने के बाद कॉलानियों में नींबू बेचने का काम करने लगते हैं। दोपहर तक नींबू बेचना और फिर स्कूल जाने की इच्छा होती है, प्रयास किया जाता है। परंतु वे नियमित स्कूल नहीं जा पाते। नींबू बेचते समय के विभिन्न अनुभव उन्होंने यहाँ दिए हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि – "उन दिनों स्कूल में पढ़ने की तीव्र इच्छा थी। मेरे जैसे लावारिसों के लिए स्कूल नहीं होते। जिन्हें खुद रोटी का इन्तजाम करना हो, वे पढ़ने के लिए नहीं कमाने के लिए पैदा हुए होते हैं।"[71]

संभवतः उ.प्र. में ऐसी स्थिति होगी। महाराष्ट्र में स्वतंत्रता पूर्व काल से लेकर आज तक एक शिक्षा संस्था पूरी निष्ठा के साथ कार्यरत हैं, जहाँ केवल पढ़ाई नहीं होती अपितु जरुरत मंद बच्चों को काम देकर, काम के एवज में उनके निवास तथा रोटी की व्यवस्था निःशुल्क की जाती है। सातारा में स्थापित 'रयत शिक्षा संस्था' ने लाखों अनाथों, गरीबों, श्रमिकों के बच्चों को शिक्षित किया है। उन्हें सम्मान भरी जिंदगी दी है। फिर 12 करोड़ बच्चे स्कूलों से बाहर क्यों हैं ? क्या 1965–72 में ऐसा था ?

इनकी ईमानदारी से, परिश्रम से प्रभावित होकर दिल्ली का एक पंजाब परिवार इन्हें दत्तक पुत्र लेकर इनकी पूरी पढ़ाई करने का प्रस्ताव इनकी माँ के सम्मुख रखता है परंतु माँ इंकार कर देती है।

दिल्ली से वह बालक फिर नदरौली लौटता है। पढ़ाई फिर घर पर रह कर भी की जाती है। इस बार बहन के गाँव मिर्जापुर जाते समय रात में बस के अंदर उन्हें बहुत बुरा अनुभव होता है। अपनी बुद्धिमत्ता के कारण ही वे इस संकट से बाहर निकल आते हैं। 1970–1971 में फिर दिल्ली लौटना पड़ता है, काम की तलाश में। एक होटल में काम मिल जाता है। वहाँ के शोषण के तरीकों को वह स्पष्ट करते हैं। गाँव लौटकर कसेर (डिबाई) रेलवे क्रासिंग पर अपने अँधे ताऊ के साथ वह रहने लगता है। दोनों दिन भर मेहनत–मजदूरी करते हैं। वहाँ की यादें विलक्षण हैं। शर्मा, हलवाई, रहमान साहब प्रभावित करने वाले पात्र हैं। एक बार तो वह बैंड–बाजे के गिरोह में बाजा बजाने

का काम भी करता है। यहाँ फुटपाथ पर ही रहते थे, वहीं सोते थे। एक दिन इस फुटपाथ से भी वे विदाई लेते हैं।

पैतृक गाँव में एक दिन एक स्कूल भवन के निर्माण में वे मजदूरी कर रहे थे। वहाँ वे अपनी एक कविता सुनाते हैं। इस एक कविता के कारण उनके जीवन में तीसरा मोड़ आता है। यहीं से इनकी पढ़ाई की व्यवस्था हो जाती है। यह संयोग ही था कि, ऐसा संयोग जो कहीं पर भी घटित हो सकता है। हुआ ऐसा कि उनकी कविता प्रेमपाल सिंह यादव नामक शिक्षक ने सुनी। प्रेमपाल जी पर आर्य समाजी संस्कार थे। वे जात–पाँत नहीं मानते थे। उनके पास काफी खेती थी। उन्हें एक ईमानदार मजदूर की जरूरत थी। वे श्यौराज को आश्वासन देते हैं कि उसकी पढ़ाई का इंतजाम करेंगे। बशर्ते वह उनके खेत में, घर पर काम करें और उन्हीं के स्कूल में पढ़ाई करें। इस प्रकार बालक श्यौराज पढ़ाई के लिए मास्टर जी के यहाँ बेगारी करना भी स्वीकार कर लेते हैं।

जैसा कि हम जानते है कि शिक्षा पाने के लिए लेखक बचपन से ही जूझता रहा है। उनके परिवार में कोई भी सदस्य पढ़ा–लिखा नहीं था। माँ कोशिश करती कि बालक श्यौराज पढ़े, लेकिन उसे भी मार खानी पड़ती। उस बालक को कहीं भी कोई सहारा नहीं था। लेकिन वह दृढ़ निश्चय रखता है कि उसको पढ़ाई करनी है, अपने आपको बदलना है, समाज को बदलना है। जब उनका परिवार उनके स्कूल जाने के फैसले से राजी नहीं होता तो तब लेखक घोषणा करता है कि – "मैं पढंगो, एक फेरा कोशिश जरुर करंगो। अगर दसवीं पास नाँय करि पाओ, तो हार मान लिंगो, पर बिना कोशिश करे तो नाँय मानंगो। कोई मेरो संग्गु देउ या मत देउ। मैं एक–एक अक्षर के बदले अपने खून की एक–एक बूँद दे दुंगो पर पढ़नो नाँय छोडंगो। जो तुम सब मेरे खिलाफ हो तो मैं आज से चमरियाने में ही आनो छोडि दिंगो। सोइ जाए करंगो मास्टर जी के घेर में। भाड़ में जाइ बिरादरी और चूल्हे में जाइ घर–परिवार। मैं पढंगो, अपने बलबूते पे।"[72]

डॉ. रमेश चन्द मीणा श्यौराज सिंह 'बेचैन' की पढ़ने की ललक देख कर उनके जीवन को पौराणिक पात्र एकलव्य के जीवन के समक्ष रखते हैं और उन्हें एकलव्य की

संज्ञा देते हुए लिखते हैं कि – "इस बालक में पढ़ने की दीवानगी, ललक और लगन बड़ी बेजोड़ रही है। एकलव्य से समानता पाठक को अतिश्योक्ति लग सकती है। गुरु द्रोण के पास जब एकलव्य जाकर कहता है 'मुझे शिष्य बना लेवे गुरु देव।' इसके जवाब में गुरु कहते हैं – 'मैं किसी क्षत्रिय राजकुमार बच्चे के अलावा किसी को भी शिक्षा नहीं देता।' वह एकलव्य ही तो था जो बिना गुरु भी अपनी शिक्षा पूर्ण करता है, चाहे जितनी बाधाएँ आई हों, पर अन्ततः वह बिना गुरु के भी धनुर्धर होकर बता देता है। बालक श्यौराज के सामने जितनी बाधाएँ, रुकावटें और अवरोध आते हैं, उनको पार कर शिक्षित होना एक चमत्कार ही कहा जा सकता है। पर मैं चमत्कार कह कर समस्या का सरलीकरण नहीं करना चाहता।"[73]

आज हजारों पाठक सलाम करते हैं इस बालक के जज्बे को। कठोर से कठोर हृदय भावुक हो उठते हैं। जब इतना जज्बा हो तो रास्ता दिखने वाला कोई न कोई मिल ही जाता है। बालक श्यौराज को अध्यापक मिले प्रेमपाल सिंह यादव। रास्ता बहुत ही कठिन। लेकिन बालक पढ़ाई के लिए कुछ भी करने को तैयार है। स्वयं लेखक के शब्दों में – "शिक्षा मेरे लिए उस कबूतर के चुग्गे की तरह थी, जिसे पाने के लालच में मैं हर बार किसी–न–किसी शोषण के जाल में फँस जाता था।"[74] पढ़ने की चाह के कारण वे अपने शिक्षक का हर तरह का शोषण सह लेते थे। मास्टर जी उससे पढ़ाई कम और श्रम अधिक कराते थे। यहाँ लेखक ने मास्टर प्रेमपाल जी के विषय में बताया है कि भले ही वे आर्य समाजी होकर, हमेशा आदर्शवादी बातें करते हों, किंतु व्यक्तिगत जीवन में अत्यंत धूर्त, कंजूस और शोषक भी थे। वे श्यौराज से भरपूर काम करवाते हैं, रोज स्कूल जाने भी नहीं देते। उनकी शिष्यवृत्ति भी अपनी जेब में डाल लेते हैं।

एक लंबी अवधि के बाद श्यौराज छठी कक्षा में प्रवेश लेते हैं। सप्ताह में दो–तीन दिन ही वे स्कूल जा पाते हैं। बाकी दिनों मास्साब की खेती पर काम करते रहते हैं। एक दिन स्कूल में उनकी कविता को पहला पुरस्कार दिया जाता है। इनकी कविता को सुनकर अनेक शिक्षक–अभिभावक उन्हें रूपये देते हैं। 40 रूपये उस दिन इकट्ठे हो जाते हैं। परंतु आश्चर्य यह है कि यह मजदूर श्यौराज 40 रूपये भी अपने स्कूल को दान में दे देता है। उनके मास्साब प्रेमपाल सिंह यादव का विवाह आशा से हो जाता है। मास्साब की विधवा भाभी अनौखिया बऊ घर पर हैं। एक बार श्यौराज बड़े परिश्रम से

40 किलो गेहूँ इकठ्ठा कर बऊ के यहाँ रख देता है। पर वक्त जरूरत पर बऊ उसे लौटाती नहीं।

प्रकरण बारह में श्यौराज अपने मौसेरे भाई नत्थुलाल का परिचय कराते हैं। हालाँकि इसके पूर्व के प्रकरण में भी नत्थुलाल का उल्लेख है। परंतु यहाँ संदर्भ अलग हैं। ये नत्थुलाल भी भयंकर प्रतिकूल स्थितियों में एम.बी.बी.एस. की पढ़ाई कर रहे हैं। इस प्रकरण का शीर्षक है – 'भाई साब : एक प्रेरक पाठ'। ये नत्थुलाल सलाह के तौर पर इनकी सहायता करते हैं। इन्हीं के कारण श्यौराज का परिचय वाम विचारधारा से हो जाता है। 1976–77 में श्यौराज नवीं कक्षा में प्रवेश लेते हैं। यहीं वे स्पष्ट करते हैं कि स्कूल में दलित छात्रों की छात्रवृत्ति का तमाशा कैसे चलता था। प्रेमपाल सिंह यादव वर्ष में एक बार इनसे छात्रवृत्ति का फार्म भरवा लेते और सभी शिक्षक प्रधानाचार्य सबके सब मिलकर दलित छात्रों की छात्रवृत्ति खा जाते। वे लिखते हैं कि इन दिनों उन्हें एक बार भी छात्रवृत्ति की राशि नहीं मिली। प्रेमपाल सिंह दुनिया को बतला तो यह रहे थे कि देखिए मैं एक प्रतिभाशाली दलित की पढ़ाई करवा रहा हूँ, तो दूसरी ओर उससे दिन भर मजदूरी का काम करवा रहे थे और ऊपर से अभिभावक बन उसकी शिष्यवृत्ति भी डकार रहे थे। एक ओर ये ऐसे अनुभव हैं तो दूसरी ओर इस घर की प्रमुख बऊ का एक अलग–मानवीयता का भी अनुभव है। मास्साब के विवाह के समय का यह प्रसंग है। बऊ ने श्यौराज को पत्तलें बिछाने के लिए कहा। एक चमार के हाथों पत्तलें बिछाई जा रही हैं, इसे देख कर कुछ सवर्ण संतप्त हुए। तब बऊ इन सवर्णों को कहती है – "तू खाइ तो खा। नाँई तो अपने घर जा। ज्यादा पण्डिताई दिखानी होइ तो अपने घर दिखइये सौराज मेरो बेटो जैसो है। मैं नाँइ मानती तुम्हारी छूतछात।"[75]

पूरी आत्मकथा में यही एक प्रसंग अपवाद के रूप में है जहाँ एक अशिक्षित स्त्री सवर्णों को चुनौती देती खड़ी है। वैसे मास्साब भी कभी–भी उसके दलितत्व को लेकर कोई टिप्पणी नहीं करते। कई बार श्यौराज केवल संकोच के कारण तकलीफें सहते हैं। उदाहरण के तौर पर मास्साब की बारात में जाना और रात भर बर्फीली ठंड में बाहर बैठना।

दसवीं की कक्षा में आने के बाद वे पड़ोस के एक गाँव में रहने के लिए जाते हैं। स्कूल नजदीक पड़ता था, इसलिए। दिन भर मजदूरी और रात में पढ़ाई। यहाँ इनके बुआ की एक पड़ोसन थी सुंदरिया। वह श्यौराज को बहुत चाहती थी। इस सुंदरिया के पति महीने–महीने घर से दूर रहते थे, इस कारण सुंदरिया परेशान रहती थी। श्यौराज से उम्र में काफी बड़ी थी परंतु शारीरिक भूख के कारण वह श्यौराज को अधिक निकट कर रही थी। श्यौराज को स्त्री–सुख का पहला अनुभव इसी स्त्री से मिलता है, किंतु यह अनुभव भी केवल स्पर्श–आलिंगन तक ही सीमित था।

अंततः कठोर परिश्रम करने के कारण आखिर गंगी का यह नाती श्यौराज सन् 1978 में दसवीं में उत्तीर्ण हो जाता है।

दलित आलोचक ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहना है कि – 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' एक ऐसे बालक 'श्यौराज' की व्यथा–कथा है, जो आर्थिक रूप से जर्जर विपन्नता, जातीय दमन चक्र से भरे वातावरण में जीने और आगे बढ़ने के लिए संघर्ष कर रहा है। बेचैन ने बहुत बारीकी और विस्तार से अपने बचपन के अनुभवों को शब्दबद्ध किया है। यानी एक बार फिर से उन पीड़ादायक उत्पीड़न भरे अनुभवों को जीने की कोशिश की है।"[76]

इस प्रकार कह सकते हैं कि लेखक ने छह वर्ष की उम्र से 18 वर्ष तक अर्थात् 12 वर्षों के बीच उन्होंने जो यातना भोगी है, जो विभिन्न काम किये हैं, जिन सैंकड़ों लोगों के संपर्क में आए हैं, वह एक दलित बचपन की महागाथा है। वह सब विलक्षण है और यातनामय है।

जानकारी यह भी है कि यह आत्मकथा एक दलित व्यक्ति की ही नहीं, इस देश के उन तमाम बाल श्रमिकों की आत्मकथा है जो रोटी के लिए हाड़–तोड़ मेहनत कर रहे हैं, अपने भीतर अनेक सपनों को सँजोते हुए अथवा भीतर के सभी अरमानों को जलाते हुए। यह आत्मकथा एक ऐसे बंधुआ मजदूर की आत्मकथा है जो पूरी जद्दोजहद के साथ मजदूरी भी करता है और अपने सपनों को पूर्ण करने के लिए मुक्तिकामी प्रयत्न भी करता है। यह आत्मकथा एक ऐसे बाल मजदूर की है जो 5 से 6 साल की उम्र से 12 साल तक अपने बचपन को जलाते हुए अपनी मंजिल की ओर जाने का प्रयत्न

करता है और उसमें सफल भी होता है। यह एक पड़ाव है, आगे का सफर अभी आना बाकी है।

अंततः कह सकते हैं कि बचपन में ही लेखक के सिर से पिता का साया उठ जाना और विधवा माँ के पास आजीविका के कोई साधन न होना, सौतेले बाप का शत्रुवत व्यवहार और लेखक के स्कूल जाने पर पूरी जाति–बिरादरी सहित समाज के अन्य वर्गों का भी कोपभाजन बनना, पढ़ाई छोड़कर पेट की भूख मिटाने के लिए लेखक का बाल मजदूरी करना, जूते गांठना, बर्तन मांजना, नींबू बेचना, मरे–मवेशियों को उठाना और उनकी खाल उतारना, राजमिस्त्री के साथ मजदूरी करना, हल चलाना आदि तमाम श्रम साध्य कामों को अपने कंधों पर उठाए बालक श्यौराज मार खाकर भी पढ़ ही लेता है। वह दसवीं पास हो जाता है। इस लंबी आत्मकथा की कहानी यहीं तक है कि बाल–मजदूर के रूप में काम करते समय उन्हें जो भी अनुभव आते हैं, उसे पूरी तटस्थता के साथ इस आत्मकथा में रखने का प्रयास किया है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि देश को आजाद हुए इतने वर्षों बाद भी जीवन की तमाम सुख–सुविधा और नागरिक सहूलियतों व अधिकारों से वंचित दलित जीवन की त्रासदी उनके व्यक्तिगत वजूद से लेकर घर–परिवार, बस्ती और पूरी सामाजिक–व्यवस्था तक फैली हुई है। अतः यह आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' बाल शोषण तथा दलित जीवन की मर्मान्तक पीड़ा का दस्तावेज भी है।

संदर्भ सूची

1. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *उत्तर सदी के हिंदी कथा–साहित्य में दलित विमर्श*, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, प्र. सं. 2014, पृ. 250
2. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– वंचितों के वृत्तांत, *जनसत्ता* (दैनिक समाचार–पत्र), रविवारीय परिशिष्ट, 25 नवंबर, 2001
3. 'मीनू', डॉ. रजत रानी, लेख– आत्मकथा की परम्परा और दलित आत्मकथाएँ, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' और डॉ. देवेंद्र चौबे (सम्पा.), *चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य*, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, सं. 2010, पृ. 168
4. गुप्ता, रमणिका, लेख– शर्म की परतें खुलती हैं आत्मकथाओं में, *हंस* (कथा मसिक पत्रिका), सितंबर, 2005, पृ. 50
5. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *उत्तर सदी के हिंदी कथा–साहित्य में दलित विमर्श*, पृ. 250
6. माताप्रसाद, *दलित साहित्य में प्रमुख विधाएँ*, आकाश पब्लिशर्स, गाजियाबाद, प्र. सं. 2009, पृ. 29
7. ठाकुर, हरिनारायण, लेख– दलित आत्मकथाएं : संवेदना और संघर्ष, *आजकल* (कथा मासिक पत्रिका), अप्रैल 2014, पृ. 30
8. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– वंचितों के वृत्तांत, *जनसत्ता* रविवारीय परिशिष्ट, (दैनिक समाचार–पत्र) 25 नवंबर, 2001
9. वही, *जनसत्ता* रविवारीय परिशिष्ट, (दैनिक समाचार–पत्र) 25 नवंबर, 2001
10. चौहान, सूरजपाल, *तिरस्कृत* (आत्मकथा), अनुभव प्रकाशन, गाजियाबाद, द्वि. सं. 2005, पृ. 9–10
11. डॉ. धर्मवीर, *बालक श्यौराज महा शिलाखंडों का संग्राम*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2014, पृ. 5
12. नैमिशराय, मोहनदास, *हिन्दी दलित साहित्य*, साहित्य अकादमी, दिल्ली, प्र. सं. 2011, पृ. 177
13. दलित साहित्य में सामाजिक न्याय के सवाल (डॉ. तुलसी राम से मुन्नी भारती की बातचीत), *'बहुजन वैचारिकी'*, प्रवेशांक, जनवरी, 2016, पृ. 216

14. माताप्रसाद, *दलित साहित्य में प्रमुख विधाएँ*, पृ. 29
15. बड़गूजर, डॉ. राजेन्द्र, *हिन्दी दलित आत्मकथाओं में बचपन*, गौतम बुक सेंटर, दिल्ली, प्र. सं. 2013, पृ. 29
16. कौशल, डॉ. ललिता, *हिन्दी की दलित आत्मकथाएँ एक मूल्यांकन*, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, प्र. सं. 2010, पृ. 7
17. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– वंचितों के वृत्तांत, *जनसत्ता* (दैनिक समाचार–पत्र), रविवारीय परिशिष्ट, 25 नवंबर, 2001
18. कौशल, डॉ. ललिता, लेख– समकालीन हिन्दी दलित आत्मकथाओं में संवेदना और संघर्ष, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' (सम्पा.), *सामाजिक न्याय और दलित साहित्य*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2014, पृ. 252
19. पासवान, राजेश, लेख– दलित आत्मकथाओं की जरूरत, *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), अगस्त 2004, पृ. 106
20. वही, पृ. 106
21. वही, पृ. 106
22. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *मेरा बचपन मेरे कंधों पर*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वि. सं. 2013, पृ. 5–6
23. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *मेरा बचपन मेरे कंधों पर*, पृ. 422
24. वही, पृ. 11–12
25. वही, पृ. 21
26. वही, पृ. 24
27. वही, पृ. 21
28. वही, पृ. 28
29. वही, पृ. 29
30. वही, पृ. 30
31. वही, पृ. 30
32. वही, पृ. 30–31
33. वही, पृ. 31
34. वही, पृ. 34

35. वही, पृ. 36–37
36. वही, पृ. 39
37. वही, पृ. 40–41
38. वही, पृ. 41
39. वही, पृ. 44
40. वही, पृ. 31
41. बड़गूजर, डॉ. राजेन्द्र, लेख– विपन्न होने की इन्तेहाँ है : 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', *बहुरि नहिं आवना* (त्रैमासिक पत्रिका), जनवरी–मार्च, 2010, पृ. 26
42. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *मेरा बचपन मेरे कंधों पर*, पृ. 54
43. वही, पृ. 55
44. वही, पृ. 55–56
45. वही, पृ. 56
46. वही, पृ. 56
47. वही, पृ. 56
48. वही, पृ. 56
49. वही, पृ. 60
50. तिवारी, बजरंग बिहारी, लेख– विमर्श नहीं, दलित जीवन–कथा, नितिन गायकवाड (सम्पा), *दलित बचपन : वेदना का विस्फोट*, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2013, पृ. 249
51. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *मेरा बचपन मेरे कंधों पर*, पृ. 62–63
52. डंगवाल, वीरेन, लेख– श्यौराज : कुछ किताब के बाहर – कुछ भीतर, *सम्यक भारत* (प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' पर केंद्रित विशेषांक), नवंबर, 2012, पृ. 43
53. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *मेरा बचपन मेरे कंधों पर*, पृ. 64
54. वही, पृ. 79
55. वही, पृ. 79
56. वही, पृ. 85
57. वही, पृ. 90
58. वही, पृ. 101

59. वही, पृ. 104
60. वही, पृ. 132
61. वही, पृ. 163
62. वही, पृ. 175
63. वही, पृ. 175
64. वही, पृ. 176
65. पचौरी, प्रो. सुधीश, लेख– आप बीती जग बीती, *सम्यक भारत* (प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' पर केंद्रित विशेषांक), वही, पृ. 16
66. चौधरी, उमा शंकर, लेख– वजूद की तलाश, नितिन गायकवाड (सम्पा.), *दलित बचपन : वेदना का विस्फोट*, वही, पृ. 246
67. डॉ. धर्मवीर, *बालक श्यौराज महा शिलाखंडों का संग्राम*, पृ. 97
68. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *मेरा बचपन मेरे कंधों पर*, पृ. 178
69. वही, पृ. 178
70. वही, पृ. 196–197
71. वही, पृ. 205
72. वही, पृ. 301
73. मीणा, डॉ. रमेश चन्द, लेख– एक और एकलव्य, *अनभै साँचा* (दलित विमर्श पर केन्द्रित विशेषांक), अक्टूबर–दिसंबर, 2008, पृ. 182–183
74. वही, पृ. 330
75. वही, पृ. 354
76. वही, पृ. 428

पाँचवां अध्याय

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानियों में अभिव्यक्त दलित चेतना

5.1 सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व धार्मिक उत्पीड़न और दलित चेतना

5.2 शैक्षणिक संस्थानों में छुआछूत–जातिगत भेदभाव और दलित चेतना

5.3 अंतर्जातीय प्रेम विवाह का मकड़जाल और दलित चेतना

5.4 सत्ता व राजनीति में ब्राह्मणवाद की कूटनीति और दलित चेतना

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानियों में अभिव्यक्त दलित चेतना

दलित साहित्य दलित समाज की अधिकार चेतना का साहित्य है। दलित साहित्य में दलित चेतना की पहचान दो स्तरों पर की जा सकती है – बोध के स्तर पर और प्रतिक्रिया (प्रतिरोध) के स्तर पर। बोध अर्थात् रचनाकार द्वारा शोषण के तंत्र की पहचान करना। इसका पता लेखकीय वक्तव्य, विभिन्न प्रसंगों की योजना, पात्रों के बीच संवाद, व्यवस्था की क्रूरता की पहचान, आत्मसातीकरण की प्रक्रिया आदि पर ध्यान देने से चलता है। प्रतिक्रिया या प्रतिरोधात्मक दृश्यों में भी दलित चेतना की अभिव्यक्ति दो तरह से होती है – पहला यथार्थ चित्रण द्वारा और दूसरा संभावनाओं द्वारा। लेकिन डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानियों में अभिव्यक्त दलित चेतना पर विचार करने से पूर्व यह समझना आवश्यक है कि आखिर दलित चेतना किसे कहा जाए ?

चेतना का संबंध अस्मिता व पहचान से जुड़ा होता है। अतः चेतना ही वह मूल तत्त्व है जो मनुष्य को पशुओं से पृथक करती है। जैसे 'मैं कौन हूँ' और 'मेरी पहचान क्या है' अर्थात् इसी अस्मिता से जुड़े सवाल पर दलित लेखकों की रचनाशीलता को ऊर्जा मिलती है।

साहित्य के संदर्भ में दलित चेतना क्या है, इसके बारे में दलित आत्मकथाकर ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं कि – "दलित की व्यथा, दुःख, पीड़ा, शोषण का विवरण देना या बखान करना ही दलित चेतना नहीं है, या दलित पीड़ा का भावुक और अश्रु–विगलित वर्णन, जो मौलिक चेतना से विहीन हो, चेतना का सीधा सम्बन्ध दृष्टि से होता है जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमिका की छवि के तिलस्म को तोड़ती है। वह है दलित चेतना। दलित मतलब मानवीय अधिकारों से वंचित, सामाजिक तौर पर जिसे नकारा गया हो। उसकी चेतना यानी दलित चेतना।"[1]

मराठी दलित साहित्यकार शरणकुमार लिंबाले की धारणा है – "दलित साहित्य में दलित चेतना संघर्ष से नाता रखने वाली क्रांतिकारी मानसिकता है। मनुष्य को केंद्र मानकर जातिव्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने वाली यह प्रतीति है। इस चेतना की प्रेरणा अंबेडकरी विचार है। दलित चेतना गुलाम को गुलामी से अवगत करा देती है। दलित चेतना दलित साहित्य का महत्त्वपूर्ण जननबीज है।"[2]

'युद्धरत आम आदमी' मासिक पत्रिका की संपादक रमणिका गुप्ता मानती हैं कि – "दलित चेतना की सबसे पहली शर्त है, उसका विरोध का स्वर, पीड़ा की छटपटाहट, आक्रोश का तेवर और उसके साथ ही कहीं उगता हुआ परिवर्तन के लिए एक संकल्प।"[3]

अर्थात् दलित चेतना का अर्थ केवल दलितों के अधिकारों का संघर्ष नहीं है बल्कि ये मनुष्यों को मानवीय बनाने की मुहिम है, वंचितों को अधिकार दिलाने की जंग भी है।

दलित कहानी में सबसे जरुरी तत्त्व है दलित चेतना, जिसे हम दलित चेतना मान रहे हैं वह हजारों साल के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक शोषण व प्रताड़ना से मुक्त होने की चेतना है जोकि अम्बेडकरवादी जीवन–संघर्ष की देन है। इसलिए दलित कहानियां दलित समाज में चेतना जगाने का सशक्त माध्यम मानी जाती हैं।

यही दलित चेतना दलित साहित्य की अन्तः ऊर्जा में नदी के तेज बहाव की तरह समाविष्ट है जो उसे पारंपरिक साहित्य से अलग करती है। दलित चेतना पर विचार करने के साथ–साथ हमें सामाजिक व्यवस्था पर भी ध्यान देना आवश्यक है। क्योंकि इस चेतना की जड़ में भारतीय सामाजिक संरचना है जो न सिर्फ जाति पर आधारित है बल्कि इसे धार्मिक वैद्यता भी प्रदान करती है। जातिवादी व्यवस्था सामाजिक भेदभाव के सिद्धांत पर आधारित है। यह हमारे सामाजिक संबंधों को ही नहीं, बल्कि धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक पक्षों को भी प्रभावित करती है। यह गुलामी की संपूर्ण व्यवस्था है, हिन्दू समाज–व्यवस्था में प्रारंभ से ही धर्म प्रधान और अर्थ गौण रहा है। व्यवहारिक स्तर पर हिन्दुत्व की जो अवधारणा आम आदमी तक पहुँचती है, वह बहुत हद तक जातीय–आचार–व्यवहार और संस्कार से परिसीमित हुई रहती है। स्वतंत्रता के सत्तर साल बीत जाने के बाद भी दलित वर्ग को मूलभूत सुविधाओं से वंचित रखने का प्रयास जारी है।

समाज में फैली यह भेदभाव वाली व्यवस्था, सामाजिक–अन्याय और जातिगत–भेदभाव को जब दलित वर्ग ने महसूस किया तो उसमें भी विद्रोह की भावना

का जन्म होना स्वाभाविक था। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार व प्रयास के द्वारा बहुत–सी ऐसी बातें जानने व सुनने को मिली जिससे यह वर्ग पहले अंजान था। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार–प्रसार का परिणाम यह हुआ कि समाज के इस दलित वर्ग को अपनी ऐतिहासिक, सामाजिक पहचान जानने के साथ–साथ राजनैतिक तंत्र की साजिश का पता चलने लगा। इसके ज्वलंत उदाहरण थे – डॉ. बी. आर. अम्बेडकर। बाबा साहब चूंकि विदेश से आधुनिक और लोकतांत्रिक शिक्षा ग्रहण करके आए थे, अतः उन्होंने दलितों की दीन–हीन दशा को देखा तब उन्होंने दलितों को उनकी स्थिति से अवगत कराया तथा उनमें चेतना का संचार किया कि जिस शोषण व अन्याय के वे युगों से शिकार हो रहे हैं, उस व्यवस्था का अब बदलने का समय आ गया है। अन्य दलितों की तरह ही बाबा साहब ने भी समाज में पग–पग पर वह अपमान तथा शोषण की पीड़ा व त्रासदी को झेला था, जिसे दलित वर्ग सदियों से बिना किसी अपराध के सहता आया है तथा उन्होंने निर्णय किया कि इस समाज से अन्याय व असमानता को समाप्त करना है और इसी को उन्होंने जीवनपर्यंत अपना ध्येय बना लिया। इसके लिए उन्होंने दलितों की शिक्षा पर विशेष बल दिया। इसके साथ ही दलितों को संगठित करने पर भी उन्होंने विशेष बल दिया।

अतः कह सकते हैं कि दलित चेतना के मूल में अम्बेडकरवादी दर्शन है जो दलित साहित्यकारों के मन में आत्मसम्मान का भाव जागृत करता है। इसी अम्बेडकरी दर्शन के सहारे लेखक समाज और व्यवस्था को नए कोण से देखता है। सही मान ली गई बातों पर सवाल उठाता है, यही प्रश्नाकुलता दलित चेतना की एक प्रमुख विशेषता है। इसके अतिरिक्त दलित चेतना के प्रमुख बिंदु निम्नलिखित हैं –

1. मुक्ति और स्वतंत्रता के सवालों पर डॉ. अम्बेडकर के दर्शन को स्वीकार करना।
2. बुद्ध का अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, वैज्ञानिक दृष्टिबोध, पाखंड–कर्मकांड का विरोध।
3. वर्ण–व्यवस्था का विरोध, जातिभेद–विरोध, साम्प्रदायिकता–विरोध।
4. अलगाववाद का नहीं, भाईचारे का समर्थन।
5. स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय की पक्षधरता।
6. सामाजिक बदलाव के लिए प्रतिबद्धता।

7. आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद का विरोध।
8. सामंतवाद, ब्राह्मणवाद का विरोध।
9. अधिनायकवाद का विरोध।
10. महाकाव्य की रामचन्द्र शुक्लीय परिभाषा से असहमति।
11. पारंपरिक सौन्दर्यशास्त्र का विरोध।
12. वर्णविहीन, वर्गविहीन समाज की पक्षधरता।
13. भाषावाद, लिंगवाद का विरोध।"[4]

दलित चेतना के अनेक बिंदुओं में से कुछ प्रमुख बिंदुओं को निम्नलिखित रूप में डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने अपनी कहानियों में अभिव्यक्त किया है –

- सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व धार्मिक उत्पीड़न और दलित चेतना।
- शैक्षणिक संस्थानों में छुआछूत–जातिगत भेदभाव और दलित चेतना।
- अंतर्जातीय प्रेम विवाह का मकड़जाल और दलित चेतना।
- सत्ता व राजनीति में ब्राह्मणवाद की कूटनीति और दलित चेतना।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने उपर्युक्त शीर्षकों के आधार पर दलितों के जीवन के विविध रूपों एवं संघर्षों को आधार बनाकर हिन्दी दलित कहानी का सृजन कर दलित कहानी विधा को समृद्ध करने का अनूठा प्रयास किया है। वे कहानी में सामाजिक समस्या उभारते हैं और लोकतांत्रिक ट्रीटमैंट करते हैं।

दलित रचनाकार श्यौराज सिंह 'बेचैन' का मानना है कि – "मुक्ति से तात्पर्य है वर्णवादी व्यवस्था से मुक्ति अर्थात् जिस व्यवस्था ने उन्हें मनुष्य नहीं बल्कि पशु से भी बदतर समझा है। वह इस अमानवीय व्यवस्था से मुक्ति चाहते हैं। उनका सारा आक्रोश, आग, लावा इस मनुवादी व्यवस्था के प्रति है। उनका आक्रोश कहीं भी बदले की भावना का रूप नहीं ग्रहण करता है।"[5]

इस प्रकार उनका कहानी–संसार विविधता लिए होने के बावजूद मूलतः वे एक ही मुद्दे पर केंद्रित दिखलाई पड़ते हैं कि दलित समाज को पूर्णतः दलन, शोषण,

उत्पीड़न, अस्पृश्यता आदि से मुक्ति अर्थात् मुक्ति का सवाल ही उनके लेखन का केंद्र बिंदु है तथा मुक्ति दलितों में चेतना जगाकर एकजुट होकर ही मिल सकती है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' बाबा साहब अम्बेडकर से प्रभावित हैं, वे हिन्दी के ऐसे पहले शोधार्थी रहे हैं जिन्होंने **"हिन्दी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अम्बेडकर का प्रभाव"** नामक शीर्षक से पीएच.डी. का शोध किया था और साथ ही डॉ. अम्बेडकर के मराठी पत्र **'मूकनायक'** और **'बहिष्कृत भारत'** आदि के हिन्दी अनुवाद कर उनकी वैचारिकी के प्रसारण में रचनात्मक योगदान दिया। पीएच.डी. व डीलिट् के अलावा भी इस दिशा में कई नए गंभीर और अभूतपूर्व शोधकार्य किए, यूजीसी के मेजर प्रोजेक्ट के एडवांस स्टडी के बतौर अध्येता के रूप में दलित साहित्य का इतिहास भी वर्ष 2006 में लिखा। इसी रास्ते पर चलते हुए वे ज्ञान की दुनिया की ओर अपना कदम बढ़ा रहे हैं क्योंकि वे जानते हैं कि सदियों से चली आ रही गुलामी व शोषण की व्यवस्था को समाप्त करने के लिए 'शिक्षा' ही महत्त्वपूर्ण आधार है। गुलामी की जंजीरों को तोड़ने का इससे उपयुक्त माध्यम और कोई हो भी नहीं सकता है।

5.1 सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व धार्मिक उत्पीड़न और दलित चेतना

संपूर्ण भारत की सामाजिक–व्यवस्था में 'जाति अथवा वर्ण' एक महत्त्वपूर्ण निर्धारक घटक है जो जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित करता है अर्थात् जाति भारतीय समाज में एक ऐतिहासिक विडंबना है जो सामाजिक वर्चस्व कायम करने के उद्देश्य से रची गयी है, इसे धार्मिक दार्शनिकता में लपेटकर समाज के ऊपर थोपा गया है। इन्हें सही व उचित ठहराने के लिए तथाकथित सवर्ण वर्ग अनेक टोटके रच रहा है। जैसे जब तक यह नहीं पता होता कि आप दलित हैं तो सब कुछ ठीक रहता है, जाति मालूम होते ही सब कुछ बदल जाता है।

भारतीय साहित्य में दलितों का जीवन सदैव उपेक्षित रहा है, जिसके बरक्स इस वर्णवादी व्यवस्था ने हजारों वर्षों के इतिहास में गैर–बराबरी अर्थात् असमानता या फिर ब्राह्मणवादी वर्चस्व को स्थापित करके जाति आधारित शोषण की नींव को पुख्ता कर

दिया है। जिसके कारण दलित विपन्नता, दरिद्रता, अस्पृश्यता तथा सामाजिक उत्पीड़न के शिकार होते रहे हैं।

निःसंदेह आज भी दलितों के साथ स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता पर आधारित लोकतांत्रिक व्यवहार नहीं हो रहा है अपितु सभी ओर जातिगत आधार पर वही सौतेला व भेदभाव पूर्ण व्यवहार हो रहा है। गाँव–देहात से लेकर महानगरों में रहने वाले दलितों के साथ, सरकारी सेवाओं में उनके तथाकथित सवर्ण प्राध्यापकों के द्वारा दलितों को निरंतर प्रताड़ित व शोषित किया जाता रहा है। हर दिन पत्र–पत्रिकाओं में दलितों की हत्याएं, महिलाओं से छेड़छाड़ व बलात्कार की खबरें आम हैं। इस प्रकार के भेदभाव, उत्पीड़न, अन्याय, अत्याचार और शोषण का सिलसिला निरंतर जारी है और उन्हें रोकना भी अनिवार्य है।

इसलिए डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की चिंता दरअसल भारतीय समाज में हाशिए पर डाल दी गई वे दलित जातियां हैं जिनके साथ तथाकथित उच्चवर्णीय समाज जातिगत उत्पीड़न व शोषण करता है। वे अपने लेखन के माध्यम से ऐसी समाज–व्यवस्था से दलितों को मुक्ति दिलाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए उनकी कहानियों में अभिव्यक्त दलित पात्र दलित समाज को जागरूक करते प्रतीत होते हैं अर्थात् दलित चेतना जगाते हैं।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'ओल्डएज होम'** नामक कहानी का ताना–बाना तेजगुलाम नामक पात्र के माता–पिता के वृद्धाश्रम में रहने और आश्रम में फैली जाति–व्यवस्था के प्रश्न के साथ ही बुनता चलता है। हमारे समाज में अनपढ़ दलित वर्ग जब पढ़–लिख लेता है तो उसके व्यवहार व सोच में कुछ परिवर्तन अवश्य आते हैं यह परिवर्तन कहीं सकारात्मक तो कहीं नकारात्मक रूप ले लेते हैं। यदि नकारात्मक रूप की चर्चा करें तो वह हमें इस कहानी के तेजगुलाम नामक पात्र में दिखलाई पड़ता है, चूँकि तेजगुलाम एक ऐसा पात्र है जो दलित होने के साथ–साथ प्रोफेसर के पद पर आसीन है फिर भी अपनी जाति छिपाता रहता है और आधुनिक समय के हिसाब से अपने को व्यवस्था के साथ समायोजित करना चाहता है, वैसे तो समय के हिसाब से अपने को बदलना अच्छी बात है लेकिन जिन माँ–बाप ने अपने खून–पसीने की कमाई

से, अपने बेटे को पाला पोसा हो और वही बेटा अपने माता–पिता को वृद्धावस्था में 'ओल्डएज होम' में छोड़ दे तो ये कहाँ का इंसाफ है ?

वृद्ध जीवन की समस्याएं पूरी दुनिया में लगभग एक जैसी हैं। वृद्धों की उपेक्षा एक सामान्य और बड़ी समस्या बनी हुई है। शहरी जीवन में यह संकट और भी चिंताजनक बना हुआ है। दलित समाज भी इस समस्या से अछूता नहीं है। दलित वृद्ध जब अपनों से प्रताड़ित होकर वृद्धाश्रम पहुँचता है तो जीवन की अंतिम बेला में भी जाति–दंश उसका पीछा नहीं छोड़ते हैं। प्रस्तुत कहानी में वृद्धाश्रम में फैली जाति–व्यवस्था का लेखक ने बखूबी चित्रण किया है। जैसे – "अब यहाँ एस.सी.एस.टी. कर्मचारी भी भेदभाव करने लगे हैं। बिस्तर बदलना, बाथरूम साफ करना, कपड़े धोना कोई नहीं चाहता। यहाँ तक कि अब हमें सभी के बाद में खाने को बुलाया जाता है। सबसे पहले ब्राह्मण–बूढ़े और सबके बाद हम चमार। चाय–पानी तो खुद उठा कर ले जाओ।"[6]

अर्थात् दलित वृद्ध जब अपनों से प्रताड़ित होकर वृद्धाश्रम पहुँचता है तो जीवन की अंतिम बेला में भी उन्हें सम्मान मिलना मुश्किल हो जाता है। सामाजिक–रूप से जहाँ सभी को समभाव से रहना व जीना चाहिए, वहाँ भी उन्हें शारीरिक व मानसिक उत्पीड़न सहना पड़ता है, उन्हें वृद्धावस्था में भी अपने सभी कार्य स्वयं करने पड़ते हैं।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'हंस' कथा मासिक पत्रिका के अंक जनवरी, 2015 में प्रकाशित हुई **'हाथ तो उग ही आते हैं'** नामक कहानी में तथाकथित सवर्ण जाति की सूतो चौधरिन के दिमाग की नस–नस में जातिवादी व्यवस्था विद्यमान है, जिसके बरक्स जब वह अपने घर में काम करने के लिए नौकरानी की तलाश करती है तो वह खोद–खोद कर उनसे उनकी जाति पूछ लिया करती है। उसकी अपेक्षा है कि उसके घर में जो काम करे वह अछूत न हो।

प्रस्तुत कहानी में जिस नौकरानी का चित्रण हुआ है वह रुक्खो है। जब चौधरिन रुक्खो से मिलती है तब वह अपने पति से चिंतित होकर कहती है कि – "जी मुझे तो यो बी भंगिन–चमारिन सी लगे है।"[7]

फिर उसका पति जात–पांत को न मानते हुए उसे समझाता है कि – "भंगिन है या चमारी, है तो देश की नारी ही। झाड़ू–पोछा के लिए क्या तुझे बाभनी, ठकुरानी, बनैनी या कायस्थनी मिलेगी ? ये बातें भूल और अपने फायदे की सोच।"[8] फिर इस तरह चौधरिन रुक्खो को काम पर रख लेती है।

प्रस्तुत कहानी की उपर्युक्त पंक्तियाँ महानगरों में पढ़े–लिखे सभ्य व प्रगतिशील कहलाने वाले संपन्न वर्ग के लोगों की संकीर्ण मानसिकता को उजागर करती है कि आज भी उनकी सोच में जातिगत भेदभाव की भावना तथा दलितों के प्रति घृणा का जहर व्याप्त है।

रुक्खो के पति ने दंगों में अपनी जान गंवा दी है और उसका एक पुत्र है जिसको उस नौकरानी के एक मुसलमान चाचा संभाल लेते हैं। इससे प्रतीत होता है कि इंसानियत का भाव। अर्थात् मुस्लिम चाचा अस्पृश्यता नहीं बरतते। एक दिन रुक्खो के चाचा को ईद मनाने के लिए गाँव जाना पड़ता है फिर रुक्खो को समस्या आती है कि वह अपने बेटे को किस के पास छोड़े तब वह अपने बेटे को मालकिन के घर पर ही काम पर ले आती है। इस बात पर सूतो चौधरिन बहुत गुस्सा करती है – "तू अपने इस पिल्ले को जरा भूल कर काम में ध्यान दे। मुफ्त तो कर नहीं रही है।"[9] इसी बीच सूतो चौधरिन के बेटे की मोटर साइकिल के पहिए से नौकरानी के बाहर खेल रहे बच्चे के हाथ कुचल जाते हैं। कथाकार ने यहाँ बड़ा ही मार्मिक और कारुणिक दृश्य प्रस्तुत किया है। यह सब देखते हुए वह मालकिन बड़ी चतुराई से झूठ बोलकर और थोड़े–बहुत पैसे इलाज के लिए देकर उससे पीछा छुड़ा लेती है।

प्रस्तुत कहानी में सरकारी अस्पतालों की स्थिति और व्यवस्था पर भी विचार किया गया है जहाँ रुक्खो को अपने बेटे के इलाज के लिए दर–दर की ठोकरें खानी पड़ती हैं और कहानी के अंत में डॉक्टरों के कहे गये वाक्य से 'बेटा हाथ तो उग ही आते हैं' से उसे निराशा ही हाथ लगती है।

प्रस्तुत कहानी के विषय में राजीव आनंद का कहना है कि – "'हाथ तो उग ही आते है' कहानी में श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने बहुत ही बेचैन किया। वैसे कहानी में कुछ तथ्यपरक त्रुटि थी। बच्चे के हाथ मोटरबाइक के चक्के चढ़ जाने से टूटकर झूल गये

थे। एक दिन बाद डॉक्टर ने बच्चे के हाथ काटने का फरमान ऐसे सुना दिया जैसे उसके हाथों में गोली लगी हो जिसका जहर शरीर में फैल गया हो। खामखाँ कहानी को दुखांत बना देना, कहानी को बेवजह कमजोर कर देता है। कहानी का दूसरे तरह का अंत सूतो जैसी असंवेदनशील महिला के कुकृत्य को ज्यादा उजागर कर सकता था, पर बच्चे के हाथ काटे जाने की बात से कहानी का केंद्र सूतो के कुकृत्य से हटकर दूसरी जगह केंद्रित हो गया, परिणामस्वरूप कहानी कमजोर पड़ गई।"[10]

जबकि एक शोधार्थी होने के नाते मुझे यह कहानी कमजोर प्रतीत नहीं होती। अर्थात् तथाकथित सवर्ण वर्ग को चोट लगे तो सभी उसके साथ आत्मीय व्यवहार रखते हुए, उसके दर्द में शामिल हो सकते हैं और गैर–दलित द्वारा अगर दलित को चोट लगे तो उसका दर्द कुछ भी नहीं। अतः यह कहानी समाज का दोहरा बर्ताव भी दिखाती है। चोट लगने पर दर्द तो सभी को होता है, बहने वाला रक्त भी लाल होता है फिर क्यों दलितों के साथ भेदभाव किया जाता है। लेखक ने इस कहानी के माध्यम से समाज में फैले जातिगत भेदभाव को प्रस्तुत करने का भी सफल प्रयास किया है। अतः इस कहानी में चित्रित गैर–दलितों की दलितों के प्रति क्रूरता भी इसी समाज का सच है।

इसके विपरीत डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'कार्ड संख्या 2118'** नामक कहानी, कहानी न होकर संस्मरण प्रतीत होती है। जिसमें कहानीकार ने कहानी के मूल पात्र अशोक की हृदयस्पर्शी हकीकत पेश की है। प्रस्तुत कहानी में आधा पेट खाकर सोने वाला व्यक्ति अशोक जब देखता है कि उसे उसके पुश्तैनी–धंधे में भरपेट रोटी भी नहीं मिल रही है, तब वह आगे बढ़ने की चाह में कोई दूसरा काम अपनाता है, पर गरीबी जोंक की तरह अशोक का पीछा नहीं छोड़ती है। कहानीकार लिखता है कि – "अशोक की छोड़ी हुई अमानत में मेरे पास क्या–क्या है ? पहली चीज उसकी एक छवि है। उसमें वह एक अति सामान्य–सा युवा है। उसका हुलिया उसकी पूरी गरीबी बयान करता है। संवेदनशील चेहरे पर चिंता की रेखाएं, आंखों में आशा–निराशा, निश्चय–अनिश्चय का द्वंद्व, सरकारी मदद से अधबने घर में चार निरक्षर बेटियां और दो बेटे। सब के सब नाबालिग उम्र में ही कहीं काम पर लगे हुए। अशोक इनके लिए कुछ खास कमा नहीं पा रहा था। उसके पास था क्या सिवाय स्कूटर मैकेनिकी के। यह काम भी उसने मुर्दा मवेशी उठाने का पुश्तैनी पेशा छोड़ कर सीखा था। इसके लिए भी

उसके पास न पूरे औजार थे, न स्थान। वह इसी की अदना–सी आय के दम पर सरकार से पट्टे की कुछ जमीन, इन्दिरा आवास योजना में घर और सरकारी हैंडपंप हासिल करने के लिए जूझ रहा था।"[11]

लेखक स्वयं उपर्युक्त दुखों और कष्टों से पीड़ित रहा है। जैसा कि मैंने उनकी आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' को पढ़कर जाना है। यही कारण है कि वे अशोक के दुखों का सजीव चित्रण करने में सक्षम हैं।

दिनेश बैस का कहना है कि – "क्या श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानी 'कार्ड संख्या 2118' दलित आंदोलन से भी मोहभंग की कथा है ? हिंदी में विज्ञान और मानव व्यवहार संबंधी कथा साहित्य के क्षेत्र में लगभग सन्नाटा ही है। 'एक मशीन की हत्या' इस सन्नाटे को कुछ तोड़ती हुई–सी प्रतीत होती है। कहानी अच्छी है।"[12]

कहानी का अंत बड़ा मार्मिक है। शायद सवर्णों द्वारा अशोक की हत्या की जाती तो अंत इतना मार्मिक न होता।

इसी प्रकार बेचैन जी की **'रावण'** नामक कहानी में भारतीय गाँवों में दलितों के साथ स्वतंत्रता, समता और बन्धुत्व के लिए कोई स्थान नहीं है।

डॉ. अम्बेडकर ने भी ठीक ही कहा है कि – "भारतीय गाँव हिन्दू–व्यवस्था के कारखाने हैं। उनमें ब्राह्मणवाद, सामन्तवाद और पूँजीवाद की साक्षात् अवस्थाएँ देखी जा सकती हैं। उनमें स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के लिए कोई स्थान नहीं है।"[13]

प्रस्तुत कहानी में रामलीला कमेटी के मेम्बर जीतराम के आग्रह पर दलित जाति का मूलसिंह गाँव की रामलीला में रावण का पाठ खेलने के लिए दिल्ली से अपने गाँव आता है। तब गाँव में जड़ जमाए जातिगत भेदभाव और ऊँच–नीच की मानवीयता से आतंकित दलित बिरादरी के सभी लोग चिंतित हो उठते हैं – "अपनो मूलसिंह कैसो लगेगो, कैसो दहाड़ेगो स्टेज पै, पिंडली कांप जाएगी राम और वा की सैना की। चाहे वह जमींदान्नु की सैना हो या वियापारिनु केनु दल की। रावण को रौव–दौव सबतें ऊपर रहेगौ। वा को कैसो असर पड़ेगौ ? का चमार–भंगिनु के अलावा ठाकुर, बामन, यादव, बनिये और तेली (मुसलमान) कबूल कर पाएँगे मूलसिंह को पाठ।"[14]

इसी चिंता से पीड़ित मूलसिंह के पिता छोरीलाल अपने बेटे को गाँव में रामलीला में भाग लेने से मना करते हैं – "देख लल्ला गाम के आदमिन की आदतें तू मोते जादा नाइ जांतु है। हमारी सात पीढ़ियाँ जाई गाम में जनमी–मरी हैं। मैं तेरो शौक नाइ रोकि रओ पर मोइ गाम की हवा अच्छी नाइ लगि रई, दिल्ली की लीला की बात और है, यहाँ राति कूँ लीला खेलत हैं और सवेरे सब के सब फलां को बेटा कैसो हनुमान बनो, फलां जाति के ने कैसे डालौग कहे, की चर्चा होति है। निन्दा और बड़ाई जाति के हिसाब से बांटी जाती है .... यहाँ तोई रावण जैसे बड़े पाठ कूं कौन अदा कन्न देगो ?"[15]

फिर भी इतना कुछ सुनने के पश्चात् डर और भय से आशंकित मूलसिंह रामलीला में रावण की भूमिका के लिए सौ बार विचार करने के बाद तैयार हो ही जाता है। जैसे ही रावण की भूमिका में मूलसिंह स्टेज पर जाता है वैसे ही राम–रावण के सेना के सभी पात्रों में वर्चस्व–जाति और ब्राह्मणवाद का बीज अंकुरित हो जाता है और स्टेज पर ही सभी दर्शकों के सामने राम–रावण युद्ध लीला की जगह हिन्दू–व्यवस्था की जड़ता का क्रूर तांडव शुरू हो जाता है। पर्दे के पीछे मूलसिंह अधमरा पाया जाता है।

अतः इस घटना के पश्चात् मूलसिंह का पूरा परिवार गाँव से पलायन करने के लिए बाध्य हो जाता है, यहाँ दलितों का गाँव से पलायन भी एक प्रकार की दलित चेतना है, क्योंकि वे यहाँ रहकर शोषण सहन नहीं कर सकते।

डॉ. राम चन्द्र का 'रावण' कहानी को लेकर विचार है कि – "श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'रावण' कहानी भारतीय गाँव के यथार्थ और हिन्दू–व्यवस्था में मौजूद ब्राह्मणवादी–जातिवादी चेहरे को बेनकाब करती है। वर्चस्व और शोषण के कारण तथाकथित शूद्र वर्णों के दिलोदिमाग में बैठा दी गई ब्राह्मणवादी–जातिवादी सोच को भी यह कहानी उजागर करती है। उस गाँव के तथाकथित चारों वर्णों की जातियों की बँटी हुई मानसिकता का चित्रण 'रावण' कहानी में मिलता है। अछूतों या चमारों के प्रति गैर–दलितों के मन में क्या भाव है, उनमें कितना बदलाव आ सका है ? मूल सिंह का पूरा परिवार गाँव से पलायन करने के लिए क्यों बाध्य होता है ? 'रावण' कहानी इस

तरह के मार्मिक और पीड़ादायी पहलुओं को चित्रित करती है। ऐसे हालात के मूल कारणों की भी यह कहानी शिनाख्त करती है।"[16]

"इस कहानी की कुछ विशेषताएँ हैं जो अन्य दलित कहानियों से भिन्न हैं। पहला, रावण जैसे मिथकीय पात्र का कहानी में सटीक, सार्थक, सामयिक एवं प्रामाणिक उपयोग। दूसरा, आर्य समाजियों का छद्म। तीसरा, गाँधी और पूना–पैक्ट और चौथा, समकालीन दलित राजनीति का भान और इससे उम्मीदें।"[17]

इस तरह दलित कहानियों में बदलते हुए इतिहासबोध और संस्कृति का विकास–क्रम देखा जा सकता है। अतः उपर्युक्त कहानी से स्पष्ट होता है कि 'गाँव दलितों के लिए यातना के शिविर हैं', दलित उत्पीड़न कभी धर्म के कारण होता था तो अब सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनीति और प्रशासन का गठजोड़ भी इसका कारण बन गए हैं। अतः यह कहानी भारतीय गाँवों के अलोकतांत्रिक विचारों और पंचायती राज व्यवस्था की भी पोल खोलती है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की उपर्युक्त कहानियों में भारतीय समाज में फैले जातिवाद, छुआछूत, ऊँच–नीच तथा अस्पृश्यता का बखूबी चित्रण हुआ है अर्थात् जहाँ दलितों के साथ स्वतंत्रता, बंधुता और समतावादी व्यवहार नहीं किया जाता। जबकि स्वतंत्रता, समता और बंधुता की मूल भावना दलित साहित्य की मूल गर्भ चेतना है और मूलतः यह मनुष्य की मुक्ति की बात करती है। इसलिए उनकी कहानियों में शिक्षा से जुड़े प्रश्न भी उभरते रहे हैं जिनके बरक्स वे दलितों में चेतना जगाते हैं।

शिक्षा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा दलित अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो सकते हैं तथा अपने भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लिए बेहतर भविष्य का निर्माण कर सकते हैं, उनमें दलित चेतना जगा सकते हैं। किंतु विडंबना यह है कि ये अधिकार भी उनसे छीने जा रहे हैं।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'हंस' कथा मासिक पत्रिका के अंक फरवरी 1996 में छपी आत्मकथात्मक कहानी **'अस्थियों के अक्षर'** भी अभावग्रस्त दलित समाज का स्वरुप बयान करने के साथ–साथ सौराज की ज्ञान व शिक्षा के प्रति रुचि को बखूबी उभारती है। प्रस्तुत कहानी में श्यौराज के सौतेले पिता भिखारी को जब स्कूल के

मास्टर से यह पता चलता है कि उसका सगा बेटा रूपसिंह, पढ़ाई में कमजोर है जबकि सौतेला पुत्र श्यौराज पढ़ाई में होशियार है तो वह ईर्ष्या से भर उठता है। वह घर आकर अपने सौतेले पुत्र श्यौराज सिंह की तख्ती को तोड़कर और किताबें फाड़कर जला देता है। इस घटना के बारे में श्यौराज सिंह 'बेचैन' लिखते हैं कि – "छोड़ो, आज से कोई पढ़ने–बढ़ने की जरूरत नाही। ला छोटे किताबें ला इन दोनों की, डल्ला तू मोइ पट्टी दे। और तीनों भाइयों ने मिलकर एक योजना को कार्यरूप दिया। सिलौटी को उठाकर पट्टियां चौखट पर रखकर एक–एककर तोड़ी गईं और थैले से किताबें निकालकर जब फाड़ना चाहा तो 'मां' ने लपककर झटकें से किताबें छीन लीं। तब भिखारी ने उछलकर 'मां' की छाती पर एक लात जमा दी और वह चौखाने चित्त गिर पड़ी। मिट्टी के तेल की डिब्बी चूल्हे के ऊपर दीवार में रखी थी। भिखारी ने उसे उड़ेलकर उसे माचिस की तीली दिखा दी। किताबें जल उठीं, बाद में पट्टियों ने भी आग पकड़ ली।"[18]

इस काम को अंजाम देकर भले ही उन्होंने संतोष की सांस ली हो, ऐसा करके भले ही उसने सोचा हो कि चलो हमने सौतेले श्यौराज के विद्यार्जन का मार्ग हमेशा के लिए बंद कर दिया। लेकिन सच तो यह था कि किताब जलाकर उन्होंने मेरी मेधा और जिज्ञासा की देह पर अंगारे भले ही फेंके हों, लेकिन दग्ध आत्मा मरी नहीं। सुरक्षित ही रही।

प्रस्तुत कहानी में भिखारी का अड़ोस–पड़ोस से कोई विरोध नहीं हुआ। होता भी कैसे ? मार–पीट और गाली–गलौच करना तो भिखारी का रोज का धंधा था। किंतु अम्मा चीख–चीख कर कह रही थी – "जो काले पेट को आदमी है, जा को बेटा फेल है रओ तो मेरे न पढ़ जाय जा मारे दारी जार के ने किताबें जराई हैं, पर मैं आत्मा मसोस के कै रही हूं भिकरियां बन्दे याद रखिये, ये सौराज जरुर पड़ेगौ और तेरे रूपा तू कितनोऊं जल मर, ये नाह पड़ पायेगो।"[19]

भिखारी के ऐसा करने के बावजूद बालक श्यौराज का शिक्षा के प्रति लगाव और ज्ञान की प्यास बढ़ जाती है और अंत में वह इस कहानी में किताबें खरीदने में असमर्थ होते हुए चोरी भी करता है। एक दिन वह चाचा डालचन्द की जेब से एक रूपया निकाल कर पुस्तकों की दुकान पर चला जाता है पर चाचा छोटेलाल के आ जाने से

कहीं चोरी न पकड़ी जाए, वह रूपये को नाली में फेंक देता है पर माँ उसके रूपया चुराने की एवज में बुरी तरह पीटी जाती है। घर जाता है तो देखता है कि – "आम गलियारे में पड़ी मां कराह रही थी। उसकी कंवर पर भिखारी लाल ने पहला वार 'फरहे' (वह लकड़ी जिस पर चमड़ा काटा जाता था) से किया था। उसके बाद डालचंद ने मां के शरीर पर लाठियां बरसाई थीं। सिर बचाकर सारा शरीर डल्ला ने तोड़ दिया था। मां चीखते–कराहते बेहोश हो गई।"[20]

अतः इस कहानी की नारी सौराज की माँ घर में एक रूपया चोरी होने की सजा पाती है। सजा से पूर्व उससे एक रूपया चोरी करने के बारे में पड़ताल भी नहीं की जाती है। शक–सुबा के आधार पर उसको मारा–पीटा जाता है। उसका पति भिखारी और देवर डल्ला पुरुष प्रधानता के अहं में उसको प्रताड़ना देना अपना अधिकार समझता है जबकि उसका कोई अपराध नहीं है। उसने रूपया चोरी नहीं किया है। इस घटना में मुख्य कारण यह भी है कि सौराज सौतेला बेटा है और उसकी 'माँ' भिखारी की दूसरी पत्नी।

दूसरी तरफ श्यौराज में पढ़ने की ललक भूख अर्थात् रोटी से भी बढ़कर है। जब श्यौराज सौतेले बाप से पिटी माँ की मार पर देशी मरहम लगाता है तो – "मैंने पींठ पर हल्दी पोतते हुए देखा कि 'मां' की देह पर छपे हैं अक्षर और मां पूरी की पूरी किताब हो गई है।"[21] अर्थात् श्यौराज का पुस्तक से प्रेम इतना गहरा है कि माँ की पीठ पर पड़ी मार की कल्पना भी वह अक्षर से करता है।

डॉ. रजत रानी 'मीनू' लिखती हैं कि – "इस आत्मकथात्मक कहानी का शिल्प, घटनाक्रम बड़ा ही मार्मिक है। कहानी अभावग्रस्त दलित समाज का चित्र हमारे सामने रखती है, जिसमें सौराज की माँ की स्थिति अत्यन्त सोचनीय है।"[22]

अर्थात् यह कहानी मूलतः श्यौराज की शिक्षा व ज्ञान की ललक को दर्शाने के साथ–साथ पितृसत्तात्मक व सामंती व्यवस्था में स्त्री के शोषण को भी बखूबी उभारती है। श्यौराज सिंह 'बेचैन' बातचीत के दौरान बताते हैं कि 'अस्थियों के अक्षर' नाम से मैंने अपनी आत्मकथा का एक अंश 'हंस' को भेजा था। संपादक ने संस्मरण हटाकर कहानी नाम देकर इसे छापा।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'कहानी हंसा की'** सामाजिक एवं आर्थिक उत्पीड़न के आंतरिक पक्षों का उद्‌घाटन करती हैं, जिसमें शिक्षा के प्रति लगन, सजगता व चेतना के भी दर्शन होते हैं।

प्रस्तुत कहानी में हंसा (हंसराम) इस कहानी का नायक व मुख्य पात्र है जो अपनी पूरी जीवन की व्यथा–कथा को पूर्वदीप्ति शैली द्वारा पाठक वर्ग के समक्ष प्रस्तुत करता है। हंसा में भी बालपन से ही शिक्षा के प्रति विशेष लगाव दिखाई पड़ता है लेकिन उसकी इतनी–सी साध को तथाकथित सवर्ण वर्ग पूरी नहीं होने देता है अर्थात् स्वयं की स्वार्थ–सिद्धि के लिए, दलितों को शिक्षा से वंचित रखने हेतु अनेक छल–प्रपंच रचे जाते हैं और वे दलितों को दबाने के लिए कहीं भी नहीं चूकते – "मुझे स्कूल जाने से रोकते हुए खुशकी (व्यंग्य) की थी कि 'मैं तुझे नानकचंद के मदरसे में पढ़ाऊँगा'।"[23] मैं मन मार कर रह गया।

हंसराम के दूर के मुँह बोले मामा अंग्रेज सेना से रिटायर्ड होकर आए थे और वे हिन्दी, अंग्रेजी अच्छे–से पढ़ना, लिखना व बोलना जानते थे, तब फिर हम सभी बस्ती के लोगों ने मिलकर उन्हें बुलाया और छिप–छिप कर पढ़ना शुरू किया तो यह बात भी तथाकथित सवर्णों को रास नहीं आई और उन्होंने इसका विरोध किया अर्थात् हमारी पढ़ाई रुकवा दी – "हम रात को छिप–छिप कर पढ़ने लगे फिर भी जमींदार को सूंध लग ही गई कि चमारों में पढ़ाई चल रही है। तो मामा पर रात को चोरी कराने का झूठा इल्जाम लगाकर गाँव से जाने को मजबूर कर दिया और हमारी पढ़ाई रुक गई।"[24]

इतना सब घटित होने पर भी वह (हंसा) हार नहीं मानता और मन में दृढ़ निश्चय करता है कि मैं नहीं पढ़ पाया तो क्या हुआ किंतु अपने बेटे को अवश्य पढ़ाऊँगा – "पर मैंने मन मारबन तय किया कि अपने बच्चों को पढ़ाऊँगा।"[25]

प्रस्तुत कहानी में हंसा जाटों का बेगारी–प्रथा के तहत किए जाने वाले शोषण से बचने के लिए अपना पुश्तैनी गाँव तक छोड़ देता है, क्योंकि गाँव में तथाकथित सवर्णों का बोलबाला था 'गाँव में रहना है तो जाट की सहना है।'

गाँव से पलायन भी एक प्रकार की दलित चेतना है, क्योंकि गाँव में रहकर वह अकेला तो सवर्णों की मानसिकता को नहीं बदल सकता था इसलिए वह दांतल गाँव से

विस्थापन करता हुआ मेरठ शहर के नगला गाँव में आ गया। जहाँ सहज ही बातचीत के दौरान उससे (हंसा) से पूछा जाता है कि – "अगर आप को पढ़ना ही सब कुछ लगता था तो आप ईसाई क्यों नहीं बन गए ? जाति भेद से भी बच जाते और पढ़–लिख भी जाते।"[26]

जिसका उत्तर वह पूरी सजगता एवं सहजता के साथ देकर शिक्षा, धर्म, जातिवादी व्यवस्था के प्रति चेतना व संवेदनशीलता का परिचय देता है – "नहीं बेटा भगवान ने जिस जात में जन्म दिया है वह किसी से छोटी बड़ी नहीं है इज्जत बेइज्जती की बात जात की बुनियाद पर करना गलत है किसी के धर्म में चले जाने से जात बदलती नहीं शादी विवाह जात में ही होते हैं। मैं उन्हें भी जानता हूँ जो हमारी जात के लोगनु में कबीर पंथी बने ईसाई बने सिक्ख बने बौद्ध बने पर किसी को कुछ नहीं जात जहां थी वहीं रही।"[27]

यहाँ यह कहानी दलितों के इतिहास को अपने में समाहित करती हुई लगती है कि जिसमें दलित कभी ईसाई, कभी सिख तो कभी बौद्ध बनता हुआ धर्म परिवर्तन करता रहा किंतु उसे कहीं भी स्वतंत्रता, भाईचारा और समतावादी वातावरण नहीं मिला अर्थात् हंसा ने यह स्पष्ट कर दिया कि जाति या धर्म बदलने से भारतीय समाज से ऊँच–नीच, छुआछूत तथा अस्पृश्यता आदि समाप्त होने वाले नहीं हैं बल्कि कहानीकार अंत में इस कहानी में सीख देते है कि – "पढ़ो मेहनत करो सब कुछ मिलेगा मेहनत से और कुछ भी नहीं मिलेगा वगैरह मेहनत किए।"[28]

अतः 'कहानी हंसा की' एक दलित आर्मीवेश कर्मचारी की कहानी होने के साथ–साथ हंसराज के पुत्र डॉ. धर्मवीर की भी कहानी है, जिनकी शिक्षा का प्रश्न इस कहानी में मूलतः उठाया गया है।

दलित कथाकार श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'शीतल के सपने'** नामक कहानी की मुख्य पात्र शीतल चमार जाति की एक ऐसी लड़की है, जो पढ़ना चाहती है। मगर उसके पिता की मौत हो चुकी है और माँ निरक्षर और अल्पविकसित मस्तिष्क की है। उसके परिवार में आर्थिक उपार्जन का कोई निश्चित साधन नहीं है, उसके एक चचेरे चाचा जो दिल्ली में मास्टर हैं, कुछ दिनों के लिए वे उसे अपने पास ले आते हैं। मगर

वे भी ज्यादा दिन उसे अपने पास नहीं रख पाते। बच्ची शीतल पढ़ाई के प्रति रूचि रखती है और कुछ अक्षर सीखती है। वापस गाँव पहुँचकर वह अपने छोटे भाई–बहनों को पालने के लिए स्कूल न जाकर बूढी दादी के साथ मजदूरी करने जाती है। ऐसी स्थिति में उसकी पढ़ाई छूट जाती है।

प्रस्तुत कहानी में शीतल की पढ़ाई व शिक्षा का सपना, सपना ही रह जाता है, लेकिन शिक्षा के प्रति उसका लगाव उसकी दलित चेतना ध्यानाकर्षक इस मायने में भी है कि हमारे समकालीन परिदृश्य में 'बेटी पढ़ाओ, बेटी बचाओ' के नारों की अनुगूँज फैल रही है।

प्रस्तुत कहानी में शीतल के घर की आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण उसके घर की छत भी ढह गई है, जिसकी मरम्मत हेतु सरकार से कुछ आर्थिक सहायता या मुआवजा उन्हें प्राप्त होना था, लेकिन भारतीय समाज में तथाकथित सवर्णवादियों में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण जहाँ बीस हजार की रकम उन्हें प्राप्त होनी थी, वहाँ केवल पाँच हजार रूपया ही उन्हें प्राप्त होता है। बाकी पाँच हजार रूपया वह अफसर रिश्वत के रूप में ले लेता है जिसने यह मदद मंजूर करायी और बाकी के दस हजार रुपए गाँव का प्रधान कल्लू लोधी रख लेता है, अर्थात् इस कहानी में वह अफसर और कल्लू लोधी मिलकर शीतल के परिवार का सामाजिक व आर्थिक शोषण करते हैं। किंतु जब शीतल की दादी व उसका चाचा अशोक पुराना कोट पहनकर प्रधान कल्लू लोधी के पास जाकर अपने मुआवजे की रकम से पाँच हजार रुपए की विनम्रता से मांग करते हैं तो उनमें दलित चेतना दिखलाई पड़ती है – "चौधरी साहब पाँच हजार और दिलाए देउ तो घर की छत पड़ जाए। नांय तो बिना प्लास्तर की भीतें (दीवारें) पहले मेह में ही गिर जानी हैं।"[29]

तब गाँव का प्रधान कल्लू लोधी जाति–पांति, छुआछूत व अस्पृश्यता के भेदभाव के कारण उन्हें खरी–खोटी सुनाता है – "का चाहत है चमरिया ? अरी अब तो तेरी माया को राज है। अब हमारे आगे काहे हाथ फैलाति है ? अब तो तेरो बेटा कोट पहने हमारे सामने ठाडौ है। अब कोई नंगे उघारे थोड़े ही हो तुम ?"[30]

प्रधान द्वारा कहे गए ये वचन एक ओर तो भारतीय समाज में व्याप्त जात–पांत, अस्पृश्यता–छुआछूत और भ्रष्टाचार आदि को अभिव्यक्त करते हैं तो दूसरी ओर सत्ता व राजनीति में व्याप्त छल–कपट, प्रपंच और जालसाजी आदि की विडंबना की ओर भी इंगित करते हैं अर्थात् तथाकथित सवर्ण वर्ग का प्रधान उत्तरप्रदेश में बसपा की सरकार आने पर, चमारों पर खूब व्यंग्य कसता है और चितिंत भी हो उठता है कि अब तो दलितों का राज–पाट है। अब दलितों पर हमारा शोषणचक्र चलने वाला नहीं है।

लेखक ने इस कहानी के माध्यम से समाज से यहाँ प्रश्न किया है कि ऐसी स्थिति में शीतल ने पढ़ाई के जो स्वप्न देखे थे उनका क्या होगा अर्थात् उस जैसी बच्चियों को शिक्षा कैसे मिलेगी ?

बेचैन जी यहाँ उपर्युक्त दोनों कहानियों के माध्यम से शिक्षा को अनिवार्य साधन बताते हैं, शिक्षित होकर ही दलितों में दलित चेतना उत्पन्न होगी, वे अपने हक के लिए लड़ सकेंगे और अपना व अपने समाज का शोषण होने से रोक सकेंगे।

इसके अतिरिक्त डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की रविवारीय जनसत्ता में छपी संस्मरणात्मक ढंग से लिखी कहानी **'सिस्टर'** एक ओर तो समाज में मौजूद जाति के प्रश्न को उठाती है तथा दूसरी ओर जातिगत भेदभाव से परेशान होकर अब दलित धर्म परिवर्तन करने लगे हैं, इस पर भी अपना ध्यान केंद्रित करते हुए, स्वाभिमान की चेतना जगाती है। प्रस्तुत कहानी लेखक के स्वयं के जीवन से संबंधित होने के कारण आत्मकथात्मक कहानी प्रतीत होती है।

प्रस्तुत कहानी का कथासार लेखक और उनके मित्र बीके गोस्वामी के बीच हो रही जाति व अस्पृश्यता को लेकर चर्चा से आरंभ होता है, अर्थात् जिस छुआछूत को भारतीय संविधान ने समाप्त कर दिया है, वह अब भी यहाँ इस कहानी में दिखलाई पड़ती है। 'जाति' भारतीय समाज की सबसे बड़ी बुराई और दलितों की सारी समस्याओं और दुर्दशा की जड़ है। जाति का दंश उन्हें कदम–कदम पर झेलना पड़ता है। मंदिरों में कैसे दलितों के साथ छुआछूत बरती जाती है, उन्हें मंदिरों में प्रवेश तक नहीं करने दिया जाता। प्रस्तुत कहानी में जब गोस्वामी लेखक से प्रश्न करता है कि 'तुम मंदिर में क्यों नहीं जा सकते ?' तब लेखक बताता है कि – "यार मैं जब छोटा था एक दिन

मंदिर में जा बैठा था। गांव के एक दबंग ने पुजारी से कहकर मेरी पिटाई करा दी थी, पिटाई मैं सह जाता पर उसने मेरी जाति को गाली दी थी। अमुक जाति का अछूत तू मंदिर में कैसे घुसा ? सो कान पकड़ कर तौबा कर ली और आज तक किसी मंदिर की ओर मुंह तक नहीं किया, भगवान मिलेगा तो बाहर ही मिल जाएगा।"[31] यहाँ स्वाभिमान चेतना दिखलाई पड़ती है जोकि दलित समाज में बहुत तेजी से विकसित हो रही है। वे किसी भी प्रकार का शोषण या जिल्लत सहन करने के लिए तैयार नहीं हैं, इसका दलितों द्वारा प्रतिकार यहाँ दिखाई पड़ता है तथा भविष्य को लेकर नई सोच भी यहाँ विकसित होती है। लेखक यहाँ अन्य धर्मों की भी चर्चा करता है कि जितनी छुआछूत हिन्दू धर्म में दिखाई पड़ती है, उतनी ईसाई, बौद्ध, सिक्ख व इस्लाम आदि धर्मों में नहीं दिखलाई पड़ती। इसलिए दलित वर्तमान में धर्म परिवर्तन में लगे हैं।

डॉ. देवीशंकर नवीन श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानियों पर विस्तृत आलोचना लिख चुके हैं। उनका मानना है कि – "श्यौराज की कहानियों की एक खास विशेषता उनके पात्रों की अदम्य जिजीविषा है, जो उसे गहन निराशा के क्षण में भी टूटने नहीं देती। तमाम विपरीत परिस्थितियों में भी उनके पात्र अपने अटूट विश्वास के साथ न केवल खड़े रहते हैं, बल्कि हर समय अपने प्रतिपक्ष को असहाय और झुकने के लिए मजबूर बना देते हैं।"[32]

अतः कह सकते हैं कि जातिगत भेदभाव भारतीय समाज में एक ऐसा कड़वा सच है कि कोई भी तर्कशील व्यक्ति भारतीय समाज में इस सर्वव्यापी जाति–भेद की सच्चाई से इंकार नहीं कर सकता और इसमें भी कोई दो राय नहीं है कि जातिवादी व्यवस्था के कारण ही सबसे अधिक उत्पीड़न दलितों का हुआ है। निःसंदेह बेचैन जी की कहानियों में एक ओर दलितों के शोषण हेतु तथाकथित सवर्ण वर्ग द्वारा रचा गया शोषण–दमन का चक्रव्यूह तथा वे किस तरह दलितों को सदा के लिए दास बनाकर रखना चाहते हैं। अर्थात् केवल आर्थिक ही नहीं, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक मनोवैज्ञानिक रूप से भी उन पर अपना वर्चस्व दिखाया गया है तो दूसरी ओर दलित नायक अन्याय, शोषण, अपमान व उत्पीड़न के खिलाफ विरोध भी जताते प्रतीत होते हैं अर्थात् शोषण का डटकर सामना करते हैं।

5.2 शैक्षणिक संस्थानों में छुआछूत–जातिगत भेदभाव और दलित चेतना

चेतना व प्रगति का आधार 'शिक्षा' भी है। विशेष रूप से दलितों के लिए शिक्षा का क्या महत्त्व है इसे सहज ही समझा जा सकता है। शिक्षा व्यक्ति को अपने अधिकारों के प्रति सचेत करती है और जीवन संघर्ष में उसे मजबूती प्रदान करती है। बाबा साहब ने यदि उच्च शिक्षा ग्रहण नहीं की होती तो वह दलितों की इतनी लंबी व कठिन लड़ाई नहीं लड़ सकते थे और न उनके अधिकारों को संवैधानिक संरक्षण प्रदान करा सकते थे। बाबा साहब शिक्षा के महत्त्व को समझते थे इसलिए वे चाहते थे कि दलित लोग उनकी तरह उच्च शिक्षा प्राप्त करें। लेकिन ब्राह्मणवादी वर्ग ने दलितों की उच्च शिक्षा के मार्ग में अड़चने पैदा कर उनको हतोत्साहित करने के निरंतर प्रयास किये हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि दलितों के साथ सामाजिक भेदभाव व उत्पीड़न का यह घिनौना रूप अब सिर्फ गाँवों या अपने आस–पास के समाज में ही नहीं, बल्कि शैक्षणिक संस्थानों अर्थात् स्कूलों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों तक में अपने पैर पसार चुका है।

समाज के सबसे पवित्र और उत्कृष्ट प्रतीक स्कूल–कॉलेज, विश्वविद्यालय और उसके पवित्र नियंता शिक्षक दलितों के प्रति कितने संवेदनशील और पवित्र हैं, इसे आज भी देखा जा सकता है। प्राथमिक शिक्षा से लेकर शोध कार्यों तक उनके साथ या अन्य दलित लोगों के साथ इन सवर्ण गुरुओं का क्या व्यवहार होता है ? इसे एक दलित छात्र या छात्रा ही जानता है। इस पीड़ा को डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने भी बखूबी समझा है, और उसे अपनी कहानियों में भी अभिव्यक्त किया है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'नॉन रिफंडेबल'** नामक कहानी जातिगत और पूँजीवादी शोषण की एक मिली–जुली मिसाल को पेश करने के साथ–साथ शैक्षणिक जगत की व्यापारिकता और नृशंसता को पेश करती है कि किस तरह सरकारी स्कूलों से ज्यादा प्राइवेट स्कूलों को महत्त्व दिया जा रहा है। किस तरह शिक्षा का व्यवसायीकरण किया जा रहा है, सरकारी स्कूलों की स्थिति जर्जर की जा रही है, इसलिए हर तबके का समाज अपने बच्चों को निजी स्कूलों में पढ़ाना चाहता है।

सरकारी स्कूलों की खस्ता हालत को देखकर प्रस्तुत कहानी के दलित चंदन–सुक्खो की तीव्र इच्छा थी कि उनका एकलौता बेटा 'नेशनल शहीद सपना स्कूल' में प्रवेश पा जाए और पढ़–लिखकर देश का अच्छा नागरिक बने। ऐसे नए स्कूल भविष्य की आकर्षक योजना दिखाकर दलितों व गैर–दलितों को झांसा देते हैं, स्कूल में दाखिले के लिए।

"शिक्षा ही समाज सुधार का पहला सूत्र है। हम ऐलान करते हैं कि छूत–छात और ऊँच–नीच का भेद–भाव भुलाकर सभी धर्मों और सभी जातियों के बेटी–बेटों को ऐसी शिक्षा देंगे जो रोजगारोन्मुख और गुणवत्तापूर्ण होगी, जिसे पाकर अमरीका, चीन, कनाडा और ब्रिटेन आदि देशों की कम्पनियाँ खुद यहाँ आकर हमारे छात्रों का चयन करेंगी। हम बदले हुए वक्त के मुताबिक आवश्यकता पूर्ति की शिक्षा देंगे। यह निवेश–विनिवेश का युग है। शिक्षा में जो जितना निवेश करेगा वह उतना ही रिटर्न प्राप्त करेगा। क्रय–विक्रय कला ही सब कलाओं की कला है।"[33]

इसी आकर्षक योजना से प्रेरित होकर चंदन मन बना लेता है कि उसका बेटा इस स्कूल में दाखिला पा जाए। जबकि यह स्कूल पूंजीवादियों के जातिगत शोषण का गढ़ है उपर्युक्त उदाहरण सिर्फ दिखावा–भर है। यह तो दाखिला भी डोनेशन अर्थात् पैसों के बल पर करता है – "क्या चल रहा है तुम्हारे दिमाग में ? किस सोच में पड़ गए हो ? सीट्स लिमिटेड हैं, फैसला करो, अगर तुम तैयार नहीं हो तो दस पैरेंट्स लाइन में खड़े हैं। नोटों के थैले भरे हुए।"[34]

वह अपने बच्चे को इस स्कूल में पढ़ाने के मोह में अपनी सारी जमा पूँजी लगा देता है, लेकिन दाखिला मिलने के पश्चात् चंदन के बेटे के साथ जातिगत भेदभाव होता है और एक दिन स्कूल में यूनिफार्म सिलवाने में देरी के कारण सूरज को स्कूल के ही पी.टी. सर ने सीढ़ियों से धक्का दे दिया। यहाँ लेखक समाज से प्रश्न करता है कि ऐसा अमानवीय पूर्ण व्यवहार जातिगत विद्वेष नहीं, तो और क्या है ?

चंदन बीमार बेटे के इलाज के खर्च की रकम जुगाड़ करने में स्कूल से वह दाखिले के समय की गई डोनेशन की रकम की मांग करता है तो स्कूल का प्रशासन उसे पैसे देने से मना कर देता है और उसे बताता है कि डोनेशन 'नॉन रिफंडेबल' होता

है, वह उनसे खूब विनती व बहस करता है, लेकिन अंततः नाकामयाब लौटता है। इस प्रकार मिली बार–बार की असफलताओं और बच्चों को खो देने के डर से चंदन को हृदयाघात हो जाता है और वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार इस कहानी में अच्छी शिक्षा की एक साधारण सी इच्छा व आकांक्षा एक वंचित तबके के परिवार के लिए त्रासदी साबित हो जाती है।

हजारों वर्षों से चला आ रहा सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व शैक्षिक उत्पीड़न के कारण दलित समुदाय को संवैधानिक व्यवस्था के तहत सरकार द्वारा जिस आरक्षण से कुछ सुविधा देने की बात की गयी थी वह आज तक नहीं मिल पाई है। वर्णगत व्यवस्था में ऊपर बैठे सत्तासीन लोग आरक्षण को पूरा करना तो दूर इसे समाज में किये गये एहसान के बतौर पेश करते हैं और योग्यता–अयोग्यता का प्रश्न उठाकर समाज में इन्हें हीन साबित करने की कोशिश करते हैं। यही वजह है कि आज तक आरक्षित सीटें भरी नहीं जाती। जैसे अखबारों की सुर्खियों में पढ़ने को मिलता है कि 'दलितों का आरक्षण खा रहे हैं जनरल केटेगरी के लोग' , जैसे – मई 1981 में वन विभाग में वनरक्षक के पद पर नियुक्ति मिली थी शर्मा जी को, फिर मई 2001 में हुई थी शिकायत, जाँच पूरी होने में लगे 12 साल, इस प्रकार 'मीणा बनकर 32 साल नौकरी कर गये शर्मा जी।' यही यथार्थ अब कहानियों में भी सामने आने लगा है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन', **'होनहार बच्चे'** नामक कहानी के माध्यम से शिक्षण संस्थानों व विश्वविद्यालय में तथाकथित ब्राह्मणवादियों द्वारा दलितों के साथ हो रहे उत्पीड़न व शोषण को उजागर करते हैं। मूलतः इस कहानी में तथाकथित सवर्ण वर्ग के उस चरित्र को सामने लाया गया है, जहाँ वह एस. सी. का सर्टिफिकेट बनवाकर भी ब्राह्मण बना रहता है और आरक्षित पदों पर खुद बैठ जाता है। चूँकि अधिकांश जगहों पर विभागाध्यक्ष और एक्सपर्ट ब्राह्मण ही होते हैं। जब अध्यापक के इंटरव्यू में एस. सी. प्रतिनिधि सवाल उठाता है कि एस. सी. के पद पर एस. सी. को ही लिया जाना चाहिए तो एक्सपर्ट तिवारी अपना तर्क देते हैं कि – "नहीं यह कोई शर्त नहीं है, कौन कितना लिखता–पढ़ता है। यह तो साक्षात्कार समिति की स्वायत्ता को जैसा लगता है वैसा करती है। उसका अधिकार सर्वोपरि है। सुरक्षित है। सब्जैक्ट एक्सपर्ट तुम हो या मैं ?

जो होनहार हैं, वे चुने जा रहे हैं। हम एस. सी. नान एस. सी. के चक्कर में नहीं पड़ते।"[35]

अतः इस कहानी में आरक्षण का कैसे गलत इस्तेमाल हो रहा है इसका सफल चित्रण हुआ है। प्रो. सदानंद तिवारी अपनी सजातीय ब्राह्मण पुनीता को आरक्षित सीट पर नियुक्त करके पुनीत कार्य करते हैं।

प्रस्तुत कहानी में तथाकथित सवर्ण वर्ग की पुनीता नामक पात्र के माध्यम से गैर–दलितों में भी जो दलितों के प्रति चेतना जाग्रत हो रही है, उसके चित्रण के साथ–साथ कैसे तथाकथित सवर्ण समाज ही उसे दबा देता है, उसका भी सफल चित्रण हुआ है। साथ ही पुनीता जब विश्वविद्यालय में लेक्चरर पद पर आरक्षित वर्ग की सीट पर, अनारक्षित होते हुए भी फेक कास्ट सर्टिफिकेट बनवाकर ज्वाइनिंग करती है तब वह अपनी योग्यता पर प्रश्न–चिन्ह लगाने लगती है। वह अखबारों में छपी विभिन्न खबरों को पढ़कर सजग है लेकिन फिर भी अपने परिवार के मोह में आकर एक ऐसे पद पर ज्वाइनिंग कर लेती है जिसकी वह हकदार नहीं है, लेकिन उसे पछतावा जरुर होता है और उसका मन पीड़ा से ग्रसित होता है।

तब पुनीता के पिता व ससुर अपनी ब्राह्मणवादी सोच के साथ उसे समझाते हुए कहते हैं कि – "यह वक्त की मजबूरी है तुम कल जाओ नौकरी करो इन अखबारों की खबरों से कुछ नहीं होता, इन्क्वारियाँ शुरू होती हैं, दब जाती हैं। केस चलते हैं। चलते–चलते थक जाते हैं। कभी कोई फैसले की मंजिल नहीं पाते हैं। 25–30 साल कोई नौकरी कर जाए फिर क्या बचता है ? ये चंद पकड़े गए हजारों पूरी नौकरियाँ कर गए और करते रहेंगे। हाथी चलते–चरते जाते हैं और कुत्ते भौंकते रहते हैं। तुम समझो हम जाति को नहीं पद को बेटी देते हैं। पद को सब प्रणाम करते हैं। अपना काम करो, बेटा बंद करो अखबार वांचना और तुम होनहार बच्चे हो होनहार रहोगी।"[36]

अतः ब्राह्मणी समाज के जातिशास्त्र में योग्य–अयोग्य या मैरिट का प्रश्न बेमानी है, क्योंकि उसमें एक अयोग्य ब्राह्मण को योग्य बनाने की यह लंबी परंपरा रही है जो प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में आज भी मौजूद है, यह शिक्षण संस्थानों में व्याप्त ब्राह्मणवाद की कूटनीति के तहत ही संभव होता है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'शोधप्रबंध'** नामक कहानी उच्च शिक्षण संस्थाओं में तथाकथित सवर्ण प्राध्यापकों द्वारा दलित छात्राओं का किस प्रकार व किस हद तक शोषण किया जाता है, यह दर्शाती है। इस कहानी की नायिका रीना का शोषण कथित सवर्ण प्रो. प्रताप सिंह उसे शोध करवाने व उच्च भविष्य का सपना दिखाकर अपने जाल में फंसाकर करता है।

दलित रचनाकार श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानी 'शोधप्रबंध' को हिन्दी की कालजयी रचना माना गया है। साहित्य अकादमी के कालजयी संकलन में यह प्रकाशित हुई। इसका चयन साहित्यकार स्वर्गीय कमलेश्वर ने किया था। उन्होंने इस पर अपनी राय जाहिर करते हुए लिखा है कि – "हिंदी की कालजयी कहानी का चयन करना बहुत कठिन कार्य है। लेकिन श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानी 'शोधप्रबंध' को मैं कालजयी कहानी मानता हूँ। क्योंकि शिल्प, कथा, भाषा, कल्पना, कला और सामाजिक सरोकारों की दृष्टि से यह कहानी उत्तम है।"[37]

यह कहानी विश्वविद्यालय शिक्षा व्यवस्था में शोधार्थियों और शोध निर्देशकों के संबंधों के अंतद्वंदों पर आधारित है। कथा मासिक हंस में छपने पर इस पर लंबी बहस हुई।

प्रस्तुत कहानी शैक्षणिक जगत के तमाम षड्यंत्रों का पर्दाफाश करती हुई, एक शिक्षक व शोध–निर्देशक जिसे गुरु भी कहा जाता है जिसका दर्जा माँ–बाप से भी ऊँचा समझा जाता है, उम्मीद की जाती है कि वह अपनी शिष्याओं व शोधार्थियों को बेटी की तरह समझेगा, वह गुरु कैसे अपनी शिष्याओं, खासकर दलित समाज की शोधार्थियों को किस प्रकार अपने कामुकता के शिकार में फंसाता है, इसका जीवंत नमूना यह कहानी प्रस्तुत करती है।

एक सवर्ण प्रो. कैसे दलित रीना को अपनी हवस का शिकार बनाता है वह उसका शारीरिक, मानसिक शोषण करता है और रीना के गर्भवती हो जाने पर उसे अपनाने से इंकार कर देता है। वह सिर्फ रीना ही नहीं, बल्कि उस जैसी कितनी लड़कियों को कामुकता का शिकार बनाता रहा है। रीना भी इस कहानी में अपने साहसीपन व निडरता का परिचय देती हुए अपनी मित्र अर्चना व दलित छात्र संघ के

सदस्यों मनवीर आदि के साथ मिलकर दलित स्त्री चेतना का परिचय देती है – "मेरा निश्चय यह है कि अब मैं संघर्ष करुँगी, 'महिला आयोग' और 'एस.सी.एस.टी. कमीशन' से लेकर स्त्री संगठनों तक में जाऊँगी पर गर्भपात नहीं कराऊँगी। संघर्ष में आत्महत्या करनी पड़ी तो प्रो. को जिम्मेदार साबित करके मरुँगी। कोई तो पत्रकार होगा दलित पक्ष सुनने वाला। सभी अखबारों को प्रोफेसर के प्रेम पत्र सौंप दूँगी।"[38]

इस तरह रीना अपना क्रोध प्रकट करते हुए प्रोफेसर से प्रतिरोध का दृढ़ निश्चय करती है। कहानी के अंत में दृष्टव्य है वह उस बच्चे को जन्म देती है और प्रोफेसर से कहती है – 'यह लो अपना शोध प्रबंध' और पूरे जोर से उसके गाल पर थप्पड़ जड़ देती है।

यहाँ रीना द्वारा अपने गुरु की गोद में अपनी थीसिस की जगह वह बच्चा रखकर उसे मजबूर कर देना, महज एक घटना नहीं, बल्कि ऐसा करने वालों के लिए एक चेतावनी है और दलित स्त्रियों की चेतना का प्रतीक भी है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का अपनी ही कहानी 'शोध–प्रबंध' के विषय में कहना है कि – "किस तरह शिक्षा से वंचित करने के लिए प्राध्यापक यौन शोषण करने से भी नहीं झिझकते हैं – आखिर प्रो. हमारे व्यक्तित्व निर्माण के लिए ही तो सब कुछ कहते हैं। परंतु यह योजनाबद्ध तरीके से फुसला रहा था। आखिरी अध्यायों में मीन–मेख निकालकर उसने मेरे एम.फिल. शोध–प्रबंध का सबमिशन रोक दिया था। तब मैंने घबराकर उनके चैंबर में जाकर उनसे मिलकर अर्ज किया था कि 'सर मेरे कैरियर का सवाल है। मैं एम.फिल. हो गई तो कोई छोटी–मोटी नौकरी पा जाऊँगी। वैसे भी आजकल एस.सी. टीचर्स नहीं मिल रही हैं चयन समितियों को'।"[39]

डॉ. देवीशंकर नवीन का इस कहानी के विषय में कहना है कि – "यह कहानी खासकर उच्च–शिक्षा के पके घाव के मवाद को बेरहमी से बाहर निकालती है, उसकी बदबू से शिक्षा–जगत के सफेद चेहरों का कलंकित नेपथ्य उजागर करती है।"[40]

प्रस्तुत कहानी में सवर्ण प्राध्यापक अपने निर्देशन में शोध कार्य कर रही दलित छात्रा का दैहिक शोषण कर उसे गर्भवती बना देता है, जो बाद में एक पुत्र को जन्म देकर कुंवारी माँ बनने को अभिशप्त होती है। यहाँ अध्यापकों की नैतिकता और

वैचारिकता का जैसा घिनौना रूप प्रस्तुत हुआ है, वह गुरु–संप्रदाय का कलंकित चेहरा प्रस्तुत करता है।

अतः बेचैन जी की कहानियों में अभिव्यक्त आंतरिक चेतना में निराशावाद व भाग्यवाद नहीं दिखलाई पड़ता, बल्कि वर्णवादी व्यवस्था अर्थात् छुआछूत जातिगत भेदभाव के प्रति उनका कठोर रुख है जिसे विध्वंस करके वे समाज में स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे की भावना स्थापित करना चाहते हैं, जोकि दलित चेतना के सरोकारों में शामिल है।

5.3 अंतर्जातीय प्रेम विवाह का मकड़जाल और दलित चेतना

वर्णव्यवस्था के आधार पर होने वाला शोषण इतिहास से चलकर अभी भी भारतीय समाज में कोढ़ की भांति विद्यमान है। संविधान द्वारा अस्पृश्यता समाप्त कर दी गई है लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि आज भी गाँवों–शहरों में, सरकारी दफ्तरों और गैर–सरकारी ऑफिसों में, सरकारी शिक्षण संस्थाओं में और निजी शिक्षण संस्थानों आदि में अस्पृश्यता व छुआछूत व्यवहारिक रूप में मौजूद है। खान–पान की अस्पृश्यता केवल कथित सवर्ण ही नहीं करते, बल्कि दलितों में भी जाति–भेद हैं। दलितों में भी एक दूसरे के प्रति अछूतपन व्यवहार में हैं। भंगी, चूहड़े, डोम आदि चमार पासी के यहाँ बराबरी में बैठकर खाना नहीं खा पाते हैं, इसके लिए सिर्फ दलितों को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता बल्कि सनातन धर्म ने सदियों से ऐसे कोढ़ को व्यवहार में ला दिया है कि जाति–जाति व वर्ण–वर्ण के भेद को मिटा पाना आसान नहीं हो पा रहा है। इसका कारण है – दलितों की विभिन्न जातियां सीढ़ी के रूप में मौजूद हैं, एक जाति के ऊपर दूसरी जाति। इस सीढ़ीनुमा दलित जातिवादी व्यवस्था को कैसे तोड़कर सभी को बराबरी के स्तर पर लाया जाए, यह एक ज्वलंत प्रश्न है।

कतिपय दलित विचारकों का मानना है कि अंतर्जातीय विवाह वर्णवादी व्यवस्था को नष्ट करने में पूर्णतः सक्षम है। स्वयं डॉ. अम्बेडकर का मानना है कि अगर देह से जाति के कोढ़ को दूर करना है तो अंतर्जातीय प्रेम विवाह उसका एक अनोखा नुस्खा है। उन्होंने स्वयं इस दिशा में पहल कर के सविता कबीर के साथ अंतर्जातीय विवाह किया था। उन्होंने लिखा भी है कि – "अंतर्जातीय खान–पान की व्यवस्था जाति–भावना

या जाति–बोध को समाप्त करने में सफल नहीं हो पाई है। मुझे पूरा विश्वास है कि इसका वास्तविक उपचार अंतर्जातीय विवाह ही है। केवल खून के मिलने से ही रिश्ते की भावना पैदा होगी और जब तक सजातीयता की भावना को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया जाता, तब तक जाति–व्यवस्था द्वारा उत्पन्न की गई पृथकता की भावना, अर्थात् पराएपन की भावना समाप्त नहीं होगी। हिन्दुओं में अंतर्जातीय विवाह सामाजिक जीवन में निश्चित रूप से महान शक्ति का एक कारक सिद्ध होगा।"[41]

अर्थात् वर्ण–जाति, अस्पृश्यता या छुआछूत या भेदभाव जैसे मौलिक प्रश्नों को समाप्त करना है तो अंतर्जातीय विवाह के मसले को विचार–विमर्श के केंद्र में रखना चाहिए क्योंकि यह वर्तमान सामाजिक विषमतापूर्ण व्यवस्था को तोड़ने में सहायक होगा और एक स्वस्थ समतापरक समाज संरचना का विकास होगा।

वैसे तो अंतर्जातीय विवाह बहुत हद तक सामाजिक दूरी को कम कर सकता है लेकिन सामाजिक व्यवस्था अभी भी उन्हें मान्यता नहीं दे रही है चूँकि अंतर्जातीय विवाह को व्यवहारिक धरातल पर देखने का प्रयास कम लोगों ने किया है। आधुनिक युग में भी मनुवादियों द्वारा अंतर्जातीय विवाह पद्धति की सर्वत्र आलोचना की जाती है क्योंकि इसके द्वारा ब्राह्मणवादी मनुवादी व्यवस्था की जड़ता टूटती है। मनु के नियमानुसार ब्राह्मण वर्ण तो अपने वर्ण के नीचे किसी भी वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकता है जबकि वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र आदि पुरुष ब्राह्मण स्त्री से विवाह नहीं कर सकता और यदि विवाह करता भी है तो उसके लिए सजा का प्रावधान है। यह व्यवस्था ही दलित स्त्री की नारकीय जीवन का कारक है। तथाकथित उच्च वर्णों की दृष्टि में दलित स्त्री भोग्या है। आधुनिक युग में मनु के इस नियम की सर्वत्र कटु आलोचना हुई है, लेकिन बदलाव की प्रक्रिया बहुत मंद है क्योंकि सवर्ण मानसिकता से ग्रस्त लेखक मनु दर्शन से मुक्त नहीं होना चाहते हैं। इसलिए दलित विमर्श एवं विमर्शकार मनु दर्शन, मनुस्मृति का विरोध करता है।

सामयिक परिदृश्य में अंतर्जातीय विवाह भी हुए हैं लेकिन उनके व्यवहारिक धरातल पर संतोषजनक परिणाम नहीं निकल सके हैं। चूँकि जब दो विभिन्न जाति के युगल छिप कर मन्दिर में या कोर्ट में शादी कर लेते हैं तो समाज में स्थान नहीं पाते,

माँ–बाप उन्हें घर से वंचित कर देते हैं, गाँव के लोग उन्हें प्रताड़ित करते हैं। सामजिक पंचायतें उन्हें दण्डित करती हैं और समाज से बहिष्कृत करती हैं और ऐसे भी उदाहरण हैं समाज की पंचायत उन्हें मृत्युदंड भी दे देती है।

इसी प्रकार का एक उदहारण दृष्टव्य है – 'तमिलनाडु में अंतर्जातीय विवाह करने वाले जोड़े को भरे बाजार में जाति–व्यवस्था के पोषकों ने अपना शिकार बना डाला। दलित पृष्ठभूमि से आने वाले शंकर की मौत हो गई और एक पिछड़ी जाति की कौशल्या बुरी तरह घायल हो गई।' भारत में आए दिन इस तरह की घटनाएं खासकर उत्तर भारत में हरियाणा और दिल्ली के आस–पास के ग्रामीण इलाकों में होती रहती हैं, जिन पर सरकार के कड़े कानून भी बौने दिखते हैं। वास्तव में जाति–व्यवस्था भारतीय समाज की ऐसी कड़वी सच्चाई है जो वर्णव्यवस्था के रूप में काफी पुरानी है। मनु की सोच को चुनौती देने का उपक्रम किया जाता रहा है, लेकिन जहाँ प्रेम विवाह की बात आती है, वहाँ मानो समूची व्यवस्था उसी रुढ़िवादी व्यवस्था की समर्थक–सी दिखने लगती है। तुलसी के 'रामचरितमानस' में भी कई जगहों पर वर्णवादी व्यवस्था का समर्थन है, लेकिन चूँकि इससे हिन्दुओं की धार्मिक भावनाएं जुड़ी हुई हैं, इसलिए किसी को इससे आपत्ति नहीं होती और गाँधी की रामराज्य पारिकल्पना में भी उस जाति–व्यवस्था को ही समर्थन मिलता है, यह बात अलग है कि दलितों को वे 'हरिजन' नाम देकर उनके प्रति अपनी संवेदनशीलता भी प्रकट करते हैं। लेकिन सवाल यह है कि अगर सभी एक ही ईश्वर की संतान हैं तो फिर इस तरह का जातिगत–अपमान क्यों ? शिक्षा का हथियार भी इस जड़ता को काटने में अपने आपको भोथरा महसूस करता है। शिक्षित व्यक्ति भी प्रेम–विवाह के संबंध में अपनी बेटी या बेटे का विवाह निम्न जाति में करने से हिचकता है। हालाँकि शहरों की तस्वीरें सिर्फ दिखने में ही इन जड़ताओं से मुक्त लगती है, लेकिन वास्तविक स्थिति कुछ और ही है। ग्रामीण इलाकों में तो स्थिति और भी गंभीर है। एक शिक्षित अगर चाहे भी तो जातिगत बंधनों से बाहर नहीं जा सकता। सामाजिक दबाव उसे ऐसा करने से रोकते हैं। हजारों साल पुरानी इस व्यवस्था को तोड़ने में और कितने साल लगेंगे। अब इस सवाल पर हमें ही सोचना होगा।

यह आज के समाज की ऐसी सच्चाई है जिसे बदलने के लिए एक सामाजिक क्रांति की आवश्यकता है। ऐसी समाज–व्यवस्था से लड़ने के लिए या लोगों के मन–मस्तिष्क को बदलने के लिए क्या साहित्य सहायक हो सकता है, यह भी एक प्रश्न–चिन्ह है ?

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अंतर्जातीय विवाह का समर्थन इस आधार पर करते हैं कि सवर्णों की स्त्रियाँ भी दलित पुरुषों के साथ ब्याही जाएं और विवाह का आधार परस्पर प्रेम भाव हो न कि लोभ। उनकी **'सन्देश'** व **'क्या करे लड़की'** अंतर्जातीय विवाहों से संपन्न समस्याओं पर केंद्रित कहानियां हैं।

हिन्दूवादी मान्यता के अनुसार तथाकथित सवर्ण वर्ग प्रेम विवाह के सदा खिलाफ रहा है और प्रेम विवाह भी ऐसा जिसमें एक गैर–दलित लड़की एक दलित लड़के से विवाह करे इसके तो कतई विरोध में है। वे अपने बच्चों का रिश्ता, अपनी ही जाति में, अपने बच्चों से बिना सलाह किए, अपनी बच्चों की पसंद–नापसंद का ध्यान न रखते हुए करते हैं और वे यह भी नहीं चाहते कि दलितों गैर–दलितों के बीच रोटी–बेटी का रिश्ता बनें। यह तथाकथित सवर्ण वर्ग की संकीर्ण मानसिकता का भी परिचायक है।

बेचैन जी की 'सन्देश' नामक कहानी की पात्र तथाकथित सवर्ण जाति की विनीता मुख्य पात्र, भीमसिंह नामक दलित पात्र से प्रेम–विवाह करके अपनी दलित स्त्री चेतना को पुष्ट करती है, जबकि विनीता का परिवार इस विवाह के खिलाफ होता है और बाद में वह भी आगे चलकर अपने परिजनों के साथ मिलकर अपने इस विवाह को तोड़ने का प्रयत्न करती है और साथ ही जब वह अपने पति से कहती है कि – "तुम अपनी जाति में आना–जाना छोड़ दो। वे इन्सान नहीं हैं। वे गटर के कीड़े हैं। वे सब स्लमडाग हैं, शिडयूल्डकास्ट मतलब स्लमडांग्स।"[42] तब विनीता की नस–नस में फैली हुई जातिवादी व्यवस्था की सच्चाई खुलकर आती है।

प्रस्तुत कहानी में विनीता ने भीमसिंह से विवाह मानवता और बंधुत्व से प्रेरित होकर नहीं किया, बल्कि उनके पद व प्रतिष्ठा से प्रभावित होकर किया है, ताकि वह आरक्षण का लाभ ले सके जबकि वह आरक्षण की हकदार नहीं हैं। नियमों के अनुसार भी अगर कोई महिला अनुसूचित जाति या जनजाति के किसी पुरुष से विवाह कर लेती

है, तो उसकी जाति वही रहती है, जो उसके पिता की जाति थी। उसे आरक्षण का लाभ नहीं मिलता, लेकिन उसके बच्चों को यह लाभ मिल सकता है।

प्रस्तुत कहानी में स्त्री, पुरुष के आगे झुकती भी नहीं है। जब विनीता दलित समाज की बुराई करती है अर्थात् जिस समाज से उसका पति संबंध रखता है, वह अपनी पत्नी पर हाथ उठा देता है तो यहाँ पर स्त्री चेतना जागरूक दिखलाई पड़ती है, वह भी अपने पति पर हाथ उठा देती है।

'क्या करे लड़की' नामक कहानी के माध्यम से लेखक समाज से प्रश्न करता है कि जब किसी गैर–दलित परिवार की लड़की किसी दलित लड़के से प्रेम कर बैठती है तो उसका परिवार व समाज उसका साथ क्यों नहीं देता या तथाकथित सवर्ण वर्ग के दिलोदिमाग में जाति जड़ जमाए बैठी है जिसके बरक्स आए दिन ऐसी हिंसक घटनाएं सामने आ रही हैं जिनसे समाचार पत्र–पत्रिकाओं में तो रूबरू होते ही हैं या फिर ये खबरें हमें आस–पड़ोस में भी सुनने को मिलती हैं।

प्रस्तुत कहानी में कीर्ति नामक पात्र के परिवार वाले जब उसके मनपसंद लड़के सत्यकाम के साथ विवाह के लिए राजी न होकर, किसी और अपनी ही जाति के लड़के से उसकी शादी करने की सोचते हैं, क्योंकि वे इंटरकास्ट मैरिज के खिलाफ हैं। तब कीर्ति अपने घर से भागकर आत्महत्या करने की सोचती है चूँकि वह लड़का जिसे उसके माँ–बाप ने चुना है, वह उसके साथ बदसलूकी करता है – "राजेश ने मुझे पूरी तरह लूट लिया और बाद में शादी करने से ना कर दी, बल्कि कहने लगा कि रास्ता खुल गया। अब हम ताउम्र दोस्त तो बने ही रह सकते हैं। शादी की भी कोई दरकार नहीं।"[43]

ऐसी परिस्थिति को जब वह अपने परिवार वालों के समक्ष रखती है तो उसका परिवार व समाज कोई साथ नहीं देता। तब वह आत्महत्या का रास्ता अपनाती है। आत्महत्या करने से, रोकने से उसे रविराज और श्यामा बचाते हैं और उसे समझाते हैं कि आत्महत्या करना कायरपन है। उसे एक नई राह पर चलने की सलाह देते हैं।

प्रस्तुत कहानी में कथित सवर्ण समाज की कीर्ति के मस्तिष्क में भी जाति जड़ जमाए बैठी है। जब उसे पता चलता है कि रविराज दलित कौम से है तो उसका

रविराज के घर में दम घुटने लगता है – "कीर्ति को लगने लगा कि अब उसका दम घुट जाएगा। खाना खाया, पानी पिया। कमरे में पूरी साफ सफाई, अच्छा बिस्तर, पंखा, कूलर, निम्न मध्य वर्गीय जीवन के हिसाब से सब कुछ ठीक–ठाक था। पर उसने दीवार पर टंगी आदिकवि की काल्पनिक तस्वीर देखी थी और देखते ही उखड़ने लगी थी।"[44]

तब वह रविराज से पल्ला झाड़ने लगती है और अपनी 'पूजा' आंटी के घर जाने की जिद्द करने लगती है। जब रविराज कीर्ति को पूजा आंटी के घर छोड़ आता है तो पूजा आंटी भी उसे अपने घर में जगह नहीं देती, वह पुनः रविराज के साथ लौटने के लिए मजबूर हो जाती है और मन बना लेती है, सत्यकाम के साथ शादी करने के लिए। हालांकि सत्यकाम भी दलित कौम से संबंध रखता है, लेकिन अब कीर्ति के पास कोई अन्य रास्ता नहीं बचता।

प्रस्तुत कहानी में दलित जाति का सत्यकाम कीर्ति से बहुत प्रेम करता है, किंतु उसके मन–ही–मन में भारतीय समाज में इंटरकास्ट मैरिज के बाद होने वाले परिणामों का भय भी बसा हुआ है, जिसके बरक्स वह कीर्ति से लंबे वक्तव्य में कहता है कि – "कीर्ति तुम शायद इंटर कास्ट लव मैरिज के परिणामों से बेखबर और बेअसर हो। मथुरा में जाटों की जाति पंचायत ने अपनी बेटी 'रोशनी' और 'रामकिशन' जाटव को फांसी लगाई। पेड़ पर लटकी हुई दोनों की लाशें देखी थी अखबारों में ? कल बुलन्दशहर के भौपुर गाँव के चंदर चमार और सजनी (जाट) को दिल्ली से राजी कर गाँव लाया गया और खुद लड़की पक्ष ने उन दोनों के जिस्म के टुकड़े कर लोथड़ों में बदल दिए। चण्डीगढ़ में एक जट्ट सिक्ख ने अपनी बेटी के टुकड़े कर दिए। इसलिए कि उसने चूहड़ा जाति के लड़के से प्रेमविवाह किया। फैजाबाद के थरेरू में गाँव वालों ने प्रेमी युवती को उसकी बच्ची सहित घसीटते हुए ले जाकर घाघरा नदी में फेंक दिया। शत्रोघन पासी और रामनाथ भुजकी बेटी को मैरिज के बाद दिल दहला देने वाली सजा दी।"[45]

अतः सत्यकाम अमर उजाला, जनसत्ता ट्रव्यून और सहारा के मुख्य पृष्ठों में छपी हैडलाइन की खबरों की कटिंग्स साथ लेकर आता है और उसे खुद से ज्यादा कीर्ति की चिंता होती है – "देखो अगर तुम चाहती हो कि हमारे जिस्म के टुकड़े–टुकड़े कर

चौराहे पर फेंक दिए जाएँ। पुलिस, कोर्ट–कचहरी हमारी रक्षा न कर सके और किसी हत्यारे को सजा न दे सके। अगर यही हश्र देखना चाहती हो तो मैं राजी हूँ ..... और यदि तुम खुद को महफूज और मुझको जिन्दा देखना चाहती हो तो अपनी जाति–बिरादरी में लौट जाओ।"[46] अतः 'मैं नहीं चाहता कि मेरे साथ–साथ तुम भी बे आई मौत मरो।'

कहानी का अंत भी दुखपूर्ण है, जिसमें संकेत के माध्यम से लेखक ने स्पष्ट किया है कि कथित सवर्ण वर्ग, दलित वर्ग के सत्यकाम की हत्या कर देता है और यह साबित कर देता है कि उनके मन–मस्तिष्क में जाति जड़ जमाए बैठी है। वह उन्हें बराबरी का दर्जा नहीं देना चाहते।

उपर्युक्त दोनों कहानियों के माध्यम से डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' बताना चाहते हैं कि किस प्रकार तथाकथित सवर्ण समाज दलित लड़कों को तो मौत के घाट उतारता ही है साथ ही साथ अपनी प्यारी बेटियों को भी मार डालता है। इसी कारण लेखक ने लिखा भी है कि – "ये न तो गैर–कौम के लड़कों को बख्शते हैं और न अपनी बेटियों को। इन्हें अपनी जाति–व्यवस्था बच्चों के प्राणों से कहीं अधिक प्यारी है।"[47]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'आग और फूस'** नामक कहानी स्त्री–पुरुष के संबंधों को बयान करने के साथ–साथ अंतर्जातीय विवाह के मसले पर भी सोचने को विवश करती है। जैसा कि हम जानते हैं कि बड़े–बड़े विचारकों का मानना है कि यदि समाज से जाति–व्यवस्था को खत्म करना है तो अंतर्जातीय विवाह की पहल करनी होगी, लेकिन यह कहानी इस विचार पर भी प्रश्न–चिन्ह लगाती प्रतीत होती है। चूँकि प्रस्तुत कहानी में गैर–दलित स्त्री सरवती अपने परिवार की इच्छा के विरुद्ध जब दलित लड़के से प्रेम–विवाह करती है तब एक तो उसके विवाह के उपरांत ही उसका पति स्वर्ग–सिधार जाता है तथा वह अपने ससुर दाताराम के साथ रहने को विवश होती है। समाज उन दोनों ससुर और बहू को संदेह व शक की दृष्टि से देखता है और उनका बाहर निकलना दूभर हो जाता है। तब एक दिन दाताराम बड़ी आत्मीयता और सूझ–बूझ के साथ बहू से कहता है कि – "तुम अभी तीस की हो, तुम तो असल में हुई ही अब हो विवाह के लायक, तुम्हें अभी अपने जीवन की लंबी यात्रा तय करनी है।"[48]

इस प्रकार दाताराम बहू को उसके मायके में माता–पिता के पास रहने की सलाह देता है। तब बहू सरवती साफ–साफ कहती है – "नहीं, वे अब मुझे नहीं अपनाएंगे ? क्या आप नहीं जानते मैं जिस उच्च संस्कारी कुलीन ब्राह्मण परिवार में जन्मी हूं वहाँ बेटी ब्याह के बाद बेदखल हो जाती है। धन–संपत्ति पर बेटों का ही एकाधिकार होता है। जिस घर से वह ब्याह कर प्रवेश पाती है उस घर से उसकी अर्थी ही वापस निकाली जाती है और फिर प्रेमविवाह वह भी गैर जाति में करने वाली लड़की वह सात जन्म भी स्वीकार नहीं की जाती। इसी परिधि के भीतर वे जीते हैं, मरते हैं, इसलिए वे मुझे क्यों अपनाएंगे ?"[49]

सार्थ ने इस कहानी के विषय में लिखा है कि – "स्त्री–पुरुष के संबंध कल भी एक पहेली की तरह अबूझ थे, आज भी एक पहेली की तरह अबूझ हैं। इसी अबूझ पहेली का एक चित्र है श्यौराज सिंह बेचैन की कहानी 'आग और फूस'।"[50]

अतः किस तरह से एक बलात्कार प्रताड़िता विधवा सवर्ण स्त्री अपने विजातीय ससुर के साथ पहले और बाद में जीवन जीती है – स्त्री के प्रति हमारी इस सामाजिक अवचेतना को कथा में भलीभांति प्रतिभासित किया गया है।

अतः "भरोसे की बहन" नामक कहानी संग्रह की पहली 'सन्देश' नामक कहानी और छठी कहानी 'क्या करे लड़की' तथा 'हंस' कथा मासिक में प्रकाशित 'आग और फूस' नामक कहानियां अंतर्जातीय प्रेम विवाहों से उत्पन्न समस्याओं पर केंद्रित हैं। उपर्युक्त तीनों ही कहानियों में अंतर्जातीय प्रेम विवाह एक गंभीर प्रश्न के रूप में उभरकर सामने आया है। अतः कहानी की नायिका को अपने माँ–बाप के खिलाफ शादी करने का मूल्य अपनी जान देकर चुकाना पड़ता है।

5.4 सत्ता व राजनीति में ब्राह्मणवाद की कूटनीति और दलित चेतना

ब्राह्मणवाद ब्राह्मण धर्म है, जो कि विषमता पर आधारित है जिसमें समता, स्वतंत्रता, न्याय और भाईचारे के लिए कोई महत्त्व नहीं है अर्थात् ब्राह्मणवाद असमानता पर आधारित जातिवादी व्यवस्था का नाम है। डॉ. बी. आर. अम्बेडकर का ब्राह्मणवाद के विषय में कहना है कि "स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का निषेध। उस अर्थ में यह

सभी वर्गों में व्याप्त है और सिर्फ ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं है।"[51] अर्थात् डॉ. अम्बेडकर के अनुसार ब्राह्मणों सहित सभी में यह मानसिकता क्रियाशील है। ब्राह्मणों के समान ही असंख्य उपजाति में बंटे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रातिशूद्र भी ब्राह्मणवाद नामक मानसिक व्याधि से ग्रस्त है। इस व्याधि ने सभी वर्ण और जाति को बर्बर बना रखा है जो भी स्वतंत्रता, समता और बंधुता के निषेध की प्रवृत्ति को व्यवहार में अपनाते हैं।

भारतीय सत्ता व राजनीति भी जाति–व्यवस्था को मजबूत कर रही है। इसका प्रभाव भी दलितों पर पड़ रहा है। इसलिए जाति–चेतना उसमें भी मजबूत हो रही है। इस जाति चेतना के लिए यदि कोई जिम्मेदार है तो वह ब्राह्मणवाद ही है और यह ब्राह्मणवाद ही जाति–व्यवस्था को पाल–पोस रहा है। दलित तो सिर्फ उसका शिकार हो रहा है। भारत में जो शासक वर्ग है, वह राजसत्ता पर काबिज है, जाति–व्यवस्था उनके लिए लाभ की चीज है, वह उसे नष्ट करके अपना अहित नहीं करना चाहते।

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने भी कहा है कि – 'सत्ता–राजनीति एक ऐसी चाबी है जिससे सभी ताले खुलते हैं।' लेकिन जब ऐसी ही राजनीति में ब्राह्मणवाद की कूटनीति दिखलाई पड़े तो दलितों की समस्याओं को कौन दूर करेगा ? यह एक बड़ा प्रश्न–चिन्ह है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'भरोसे की बहन'** नामक शीर्षक कहानी सत्ता व राजनैतिक विचारधारा से लैस ब्राह्मणवादी कूटनीति को बखूबी दर्शाती है। कहानी का मुख्य पात्र रामभरोसे दलित राजनीति का कार्यकर्त्ता है जो बराबर यह सपना देख रहा था कि कोई दलित मुख्यमंत्री बने और दलित राजनीति के सत्ता में आने से दलित जीवन की समस्याओं का समाधान जरुर होगा। रामभरोसे के परिवार में दो बेटे बेलदारी करते हैं, बेटी की पढ़ाई छूटने के कगार पर है और घर में साबुन, तेल आदि की लगातार किल्लत है, मकान जर्जर हो रहा है, तब भी रामभरोसे को बहन छायावती की राजनीति में पूर्ण आस्था है –

"भीमा की माँ थोड़ा सब्र करिवौ सीखौ। वक्त बदल रहा है। जब अंग्रेजों का साम्राज्य नहीं रहा तो सवर्णों की सत्ता कैसे रहेगी ?..... भैन जी के हाथ में चाबी है। सब क्षेत्रों में हमारी भागीदारी होने वाली है, बड़े–बड़े तीस मारखाँ बहन जी के चरण

स्पर्श करते हैं। अपनी कौम के अफसर और नेता भैन जी के आगे घुटने टेक के जमीन पै बैठ जाबैं हैं। बिल्कुल महारानी के दरबार में प्रजा, चारण भाट और विदूषकों की तरह।"[52]

इसके अतिरिक्त एक अन्य उदाहरण दृष्टव्य है – "बन्द करो अर्जियाँ–फर्जियाँ ऐसा कौन–सा काम है, जिसे हमारी बहन जी सत्ता में रहते नहीं कर सकतीं ? सत्ता की चाबी उनके हाथों में है। हर, बैकलॉग वैंकेसी, का ताला वे खोलेंगी, सरकारी पट्टों की जमीन बांटेंगी, दलित बेटियों की शादी करायेंगी, दलित साहित्य बिकवायेंगी। पुरस्कार दिलाबायेंगी। तुम मास्टर–डॉक्टर बनाने की बात करते हो वे कुलपति, रजिस्ट्रार, प्रोफेसर बना सकती हैं। बहन पर भरोसा रखना सीखो।"[53]

अतः भरोसे ने बात पर जोर देकर कहा। उसे इस बात की खुशी है कि बड़ी–बड़ी जातियों के लोग छायावती के चरण–स्पर्श करते हैं और अब वह दिन दूर नहीं जब सवर्णों की सत्ता चली जाएगी और देश में दलितों को पूर्ण अधिकार मिलेगा।

जबकि दूसरी ओर इस कहानी में रामभरोसे की पत्नी रामकली रामभरोसे के राजनैतिक कार्यकर्त्ता होने की स्थिति पर व्यंग्य कसती रहती है – "साठ साल तें ये ही डिरामा चलि रयौ है। कै अब की न्याय मिलेगौ के अबकी बराबरी मिलेगी, सब पढंगे–सब बढ़ंगे, सब सफेद झूठ। ..... मैं सच कहती हूँ तुम ये पार्टी–वार्टी कौ चक्कर छोड़ो, बे–मतलब टेम खराब करिवौ सीख गये हो नेतागिरी में।"[54]

बड़े ही सपाट वक्तव्य में वह कह जाती है कि – "गरीब की कोई भैन–फेनि नांय होति, अमीर को सौ बहनें राखी बाँधें हैं।"[55]

अतः उपर्युक्त वक्तव्य में रामकली भारत देश की राजनैतिक व्यवस्था और दलितों की राजनीति करने वाले दल की ऐसी की तैसी कर देती है।

लेकिन जब रामभरोसे अपने गाँव व आसपास के गाँवों से इकट्ठी की गई अर्जियाँ पार्टी की रैली में लेकर पहुँचता है तो उसका भी भरोसे की बहन छायावती के प्रति मोह भंग होता है, जब वह कहती है कि – "रखो इन्हें, हम सब जानते हैं, हम बहुजन को उनकी सत्ता सौंपना चाहते हैं और बहुजन हैं कि आरक्षण दो, विविधता लागू करो।

लैक्चरर, प्रोफेसर और वाइस चांसलर बनाओ। पत्रकार, संपादक बनाओ जैसी तुच्छ माँगें करते रहते हैं। जबकि हम उन्हें मुल्क की शासक कौमें बनाना चाहते हैं।"[56]

"किशोर संजीव सुनो ये सभी अर्जियाँ कूड़ेदान में ठीक से डलवा देना। इधर–उधर उड़ कर न जाये। वरन् बहुजन के प्रति हमारी चिन्ता जाहिर हो जायेगी।"[57]

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत कहानी में सत्ता व राजनीति में व्याप्त ब्राह्मणवाद का असली चेहरा भी खुलकर सामने आता है – "इस भंगी, चमार, पासी, कुम्हार रुपी कूड़े–करकट को जितनी जल्दी हो लखनऊ से बाहर फिकवाओ।.....कमीन कौमें सत्ता में क्या आ गयीं। चूहड़े–चमार भी समझते हैं कि वे खुद ही प्रदेश के शासक हो गये हैं। ये नहीं जानते कि हम भी अपनी कुर्सी के राजा हैं। यहाँ हमारी ही चलती है।"[58]

डॉ. रजत रानी 'मीनू' का कथन है कि – "श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानी 'भरोसे की बहन' (कथादेश, जून, 2005) एकमात्र ऐसी कहानी है जिसकी बुनावट पूरी तरह राजनीतिक धरातल पर हुई है। यह कहानी दलित नेता और जनता की भावनात्मक जुड़ाव और उसकी परिणति को दर्शाती है। कहानी का केंद्रीय पात्र भरोसे अपने गाँव का सक्रिय कार्यकर्त्तानुमा नेता है। परंतु वह झंडे लगाना, दरी बिछाना, पोस्टर चिपकाना, नारे लगाना, लोगों को रैली के लिए इकट्ठा करने इत्यादि कार्यों में व्यस्त रहता है। उसकी अपनी न सशक्त पहचान है और न समझ। पत्नी रामकली, बच्चे सभी अभाव में जीते हैं। जिम्मेदारियों के नाम पर आक्रोश ही आक्रोश, ऐंठ ही ऐंठ है। पत्नी के समक्ष समझदारी का प्रदर्शन व उसको कम अक्ल का बताना। लेकिन रामकली का चरित्र एक जिम्मेदार सशक्त व समझदार पत्नी के रूप में उभरता है। वह भावना में बात नहीं करती, बल्कि जिंदगी के अनुभवों से भरी सीधे–सपाट ढंग से बातें करती है।"[59]

प्रस्तुत कहानी का एक उदाहरण उल्लेखनीय है जिसमें वह – "भाड़ में जाये तुम्हारी भैन जी और चूल्हे में जाई उवा को रैला, बालक भूखे मरि रए हैं और तुम्हें नेतागिरी को नशा चढि रओ है। दुए बैठि गये दस पास करि कें अब सीलमपुर की सड़कन पै बेलदारी करत फिरें हैं, और तीसरी बेटी लिकारि दई स्कूल तैं। कहाँ से देऊँ पिराईवेट स्कूल की मोटी फीस ?"[60]

इसके अतिरिक्त डॉ. देवीशंकर नवीन का कहना है कि – "श्यौराज की यह कहानी दलितों के उत्थान हेतु किसी नए चिंतन का निमंत्रण देती है। उनके नायक की अटूट आस्था एक दम सही है कि 'दलित जीवन में संघर्ष करता है, पलायन नहीं।' यह वाक्य केवल नायक की मान्यता नहीं है, खुद कथाकार का विश्वास भी है।"[61]

अतः आखिर सब तालों की चाबी लोकतंत्र में है 'हजारों साल गुलाम रही जात का राज' और 'हमारे वोट और उनको राज' कहने वाला रामभरोसे दरअसल कहानी के विशेष तत्त्व 'सत्तावादी राजनीति' के सच को बड़ी ही तटस्थता और बेबाकी के साथ अभिव्यक्त करता है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की **'कार्ड संख्या 2118'** सत्ता व राजनीति की स्थिति बयान करती है – "दलितों का शोषण रुक नहीं रहा है। बहनजी के आदेशों का पालन सही ढंग से नहीं किया जा रहा है, क्योंकि हमारे डिबाई विधानसभा पर जो पदाधिकारी तैनात किए हैं वे एस.सी. का कोई काम नहीं करते। मैंने पत्र द्वारा बीडीओ से लेकर डीएम तक से शिकायत की हैं पर कुछ नहीं हुआ।"[62]

अर्थात् हमारा सरकारी तंत्र अपने स्वार्थों, अपने सीमित सुखों और भ्रष्टाचार में इतना अंधा हो चुका है कि उसे गरीब का दुःख दिखलाई नहीं पड़ता है। मायावती जी स्वयं एक दलित पुत्री हैं और दलितों के उद्धार का नारा लगाती रहती हैं, पर जब उनकी सरकार थी तब उन्होंने जरूरतमंद निर्धनतम दलितों की ओर आँख उठाकर भी क्यों नहीं देखा ? सरकार के बड़े–बड़े पदों पर आसीन लोग आधा पेट खाने वाले लोगों से रिश्वत माँगने से भी नहीं झिझकते हैं। यह सच्चाई लेखक ने अपनी कहानी के माध्यम से बड़े मार्मिक शब्दों में चित्रित की है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का अपनी कहानियों के विषय में कहना है कि – "मेरी ये कहानियां अधिकांशतया समसामयिक समस्याओं, मुद्दों और सामाजिक सरोकारों से सम्बद्ध है। सामाजिक लोकतन्त्र की भावना और अवसरों की समानता की कामना मेरी सृजनशीलता में निहित रही है। पिछले जन्म और अगले जन्म के बजाय मैं इसी धरती, इसी दुनिया के यथार्थ का चितेरा रहा हूँ। यहाँ मेरे लेखन की सौदेश्यता खुली और स्पष्ट है। इसमें किसी के काल्पनिक या किसी पर आरोपित ब्राह्मणवाद या

गैर–ब्राह्मणवाद की तलाश नहीं की गई है।"[63] अर्थात् उनकी कहानियों में साहित्य की शास्त्रीय धारा के अनुरूप कहानी कला का अभाव है, लेकिन चेतना की सार्थक की अभिव्यक्ति, संवेदनाओं की मार्मिकता और सामाजिक सरोकारों के संघर्षशील तेवर देखने को मिलते हैं। उनकी कहानियों का मूल स्वर दलित जीवन के भोगे हुए यथार्थ के चित्रण द्वारा मनुवादी व्यवस्था के विरुद्ध तीव्र आक्रोश और विरोध दर्ज करना है।

अतः डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की सभी कहानियों की समीक्षा करके हम इस यथार्थ से अवगत होते हैं कि आज का दलित वर्ग कान व आँखे बंद करके सब कुछ सह लेने को तैयार नहीं है। वह हर एक ऐसी विधि या व्यवस्था का विरोध करता है जिसमें उसे शोषित और पीड़ित रखने का कुचक्र रचा जाता है। वह हरेक उस चक्रव्यूह को भेद देता है जिसमें दीन–हीन रखने का प्रयास किया जाता रहा है। वह सवर्ण समाज की हरेक उस साजिश को नाकाम कर देता है, जो उनको पीढ़ी–दर–पीढ़ी गुलाम बनाए रखना चाहती है। जाहिर है कि उनकी कहानियों में संघर्ष और दलित चेतना संपूर्ण तथाकथित सवर्ण परंपरा की रूढ़िगत मान्यताओं के विरुद्ध है।

संदर्भ सूची

1. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र*, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, तीसरी आवृत्ति 2009, पृ. 29
2. लिंबाले, डॉ. शरणकुमार, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, अनु. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, आवृत्ति 2010, पृ. 44
3. गुप्ता, रमणिका (सम्पा.), *दलित : चेतना साहित्य*, नवलेखन प्रकाशन, बिहार, प्र. सं. 1996, पृ. 72
4. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र*, पृ. 31
5. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *उत्तर सदी के हिंदी कथा–साहित्य में दलित–विमर्श*, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, प्र. सं. 2014, पृ. 345
6. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *भरोसे की बहन* (कहानी–संग्रह), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2010, पृ. 29
7. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कहानी– हाथ तो उग ही आते हैं, *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), जनवरी 2014, पृ. 25
8. वही, पृ. 25
9. वही, पृ. 27
10. आनंद, राजीव, अपना मोर्चा– एक तीर से कई निशाने, *हंस*, मार्च 2014, पृ. 8
11. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कहानी– कार्ड संख्या 2118, *हंस*, अक्टूबर, 2012, पृ. 21
12. बैस, दिनेश, अपना मोर्चा– दुर्गति बांधती हैं, *हंस*, जनवरी, 2013, पृ. 8
13. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र*, पृ. 31
14. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *भरोसे की बहन* (कहानी–संग्रह), पृ. 53
15. वही, पृ. 54
16. चन्द्र, डॉ. राम, लेख– हिन्दी दलित कहानी : संवेदना और सरोकार, *पक्षधर* पत्रिका, जनवरी, 2012, पृ. 73
17. वही, पृ. 73

18. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कहानी– अस्थियों के अक्षर', *हंस*, फरवरी, 1996, पृ. 37
19. वही, पृ. 37
20. वही, पृ. 39
21. वही, पृ. 39
22. 'मीनू', डॉ. रजत रानी, लेख– हिन्दी दलित कथा साहित्य में स्त्री, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' (सम्पा.), *सामाजिक न्याय और दलित साहित्य*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2014, पृ. 145
23. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *भरोसे की बहन* (कहानी–संग्रह), पृ. 68
24. वही, पृ. 68
25. वही, पृ. 68
26. वही, पृ. 69
27. वही, पृ. 69
28. वही, पृ. 74
29. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *भरोसे की बहन* (कहानी–संग्रह), पृ. 161
30. वही, पृ. 161
31. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कहानी– सिस्टर, *रविवारीय जनसत्ता* (दैनिक समाचार–पत्र), 01 मई, 2011
32. नवीन, डॉ. देवीशंकर, भरोसे की बहन, संघर्षमय जीवन की कहानियां, दलित–विमर्श की नई दिशाएं, *सम्यक भारत* पत्रिका, विशेषांक – प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' पर केंद्रित, नवम्बर, 2012, पृ. 180
33. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *भरोसे की बहन* (कहानी–संग्रह), पृ. 118
34. वही, पृ. 126
35. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *भरोसे की बहन* (कहानी–संग्रह), पृ. 51
36. वही, पृ. 52
37. 'बेचैन' की कहानी का शुमार कालजयी रचनाओं में, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार पत्र), बरेली, 22 जुलाई, 2008
38. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *भरोसे की बहन* (कहानी–संग्रह), पृ. 108–109

39. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *उत्तर सदी के हिंदी कथा–साहित्य में दलित–विमर्श*, पृ. 349–350
40. *सम्यक भारत* पत्रिका, विशेषांक– प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' पर केंद्रित, नवम्बर, 2012, वही, पृ. 180
41. अम्बेडकर, डॉ. भीमराव, *संपूर्ण वाङ्मय खंड 1*, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय भारत सरकार, दिल्ली, प्र. सं. 1993, पृ. 90
42. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, भरोसे की बहन (कहानी–संग्रह), पृ. 16
43. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, भरोसे की बहन (कहानी–संग्रह), पृ. 81
44. वही, पृ. 87–88
45. वही, पृ. 91
46. वही, पृ. 90
47. वही, पृ. 91
48. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कहानी– आग और फूस, *हंस*, जुलाई 2016, पृ. 20
49. वही, पृ. 20
50. सार्थ, अपना मोर्चा– अबूझ पहेली, *हंस*, सितंबर 2016, पृ. 10
51. अम्बेडकर, डॉ. भीमराव, ब्राहमणवाद और पूंजीवाद सबसे बड़ा शत्रु, एच. एल. दुसाध (सम्पा.), *भूमण्डलीकरण के दौर में ब्राह्मणवाद कितनी बड़ी समस्या*, दुसाध प्रकाशन, देवरिया (उ.प्र.), प्र. सं. 2008, पृ. 46
52. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *भरोसे की बहन* (कहानी–संग्रह), पृ. 138
53. वही, पृ. 146
54. वही, पृ. 137–138
55. वही, पृ. 139
56. वही, पृ. 156
57. वही, पृ. 156
58. वही, पृ. 157
59. 'मीनू', डॉ. रजत रानी, *हिन्दी दलित कथा साहित्य अवधारणाएं और विधाएं*, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, प्र. सं. 2014, पृ. 214–215
60. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *भरोसे की बहन* (कहानी–संग्रह), पृ. 137

61. *सम्यक भारत* पत्रिका, विशेषांक– प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' पर केंद्रित, नवम्बर, 2012, वही, पृ. 179
62. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कहानी– कार्ड संख्या 2118, *हंस*, अक्टूबर, 2012, पृ. 23
63. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *भरोसे की बहन* (कहानी–संग्रह), पृ. 5

छठा अध्याय

दलित प्रश्न और डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का आलोचना–कर्म

6.1 छुआछूत तथा जातिगत भेदभावों से फैलती विषमता और मानवीय मूल्यों का ह्रास

6.2 पितृसत्ता तथा सामंती व्यवस्था में दलित, गैर–दलित स्त्रियों के अधिकार

6.3 भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के दौर में दलित अस्तित्व का प्रश्न

6.1 छुआछूत तथा जातिगत भेदभावों से फैलती विषमता और मानवीय मूल्यों का ह्रास

भारतीय समाज में भेदभाव व विषमता फैलाने वाला जाति व छुआछूत से जुड़ा प्रश्न बहुत ही जटिल है जो पिछले तीन हजार वर्षों के लंबे समय से जटिल से जटिलतर होता जा रहा है। इस प्रश्न ने संपूर्ण भारतीय मानवीय जीवन को लगातार अपनी गिरफ्त में जकड़ रखा है। समाज की आंतरिक धारा में वर्णवादी व्यवस्था के आधार पर जो बंटवारा किया जाता है, उसकी ही देन है छुआछूत और जाति–भेद जोकि असमानता, वर्चस्व और शोषण पर आधारित है। जिसमें मानव, मानव को छूने से डरता है। यहाँ तक कि यदि उसकी परछाई भी पड़ जाए तो अपशकुन हो जाता है। इसी अस्पृश्यता के चलते समाज का एक बड़ा हिस्सा पाशविक जीवन–यापन करने के लिए मजबूर रहा है।

वैसे तो इस देश में ढिंढोरा पीटा जा रहा है कि देश में छुआछूत व अस्पृश्यता मिटाई जाएगी लेकिन आज तक इस देश को छुआछूत व जातिगत भेदभावों से फैली विषमता से निजात नहीं मिला है। इसी वर्णवादी व्यवस्था का भारतीय जनमानस सैकड़ों वर्षों से शिकार रहा है जिससे उसके मानवीय मूल्यों का ह्रास होता है।

दलित आलोचक डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का भी मानना है कि – "भारतीय समाज हजारों जातियों, धर्मों और संप्रदायों में बंटा हुआ है। जातिभेद भी एक प्रकार की सांप्रदायिकता है और सांप्रदायिकता एक तरह से जातिभेद, इन दोनों में अन्योन्याश्रित संबंध है। हिन्दुस्तान में जो तत्त्व जाति–भेद को गहरा करते हैं। कमोबेश वह सांप्रदायिकता को भी बढ़ावा देते हैं। वही लोग हिन्दू–मुस्लिम दंगों में उन्हीं जातियों को विशेषकर मुसलमानों के विरुद्ध इस्तेमाल करते हैं। जाति–भेद एक ऐसी सहज व्यवस्था बन चुका है कि इसे समाप्त करने का काम वह लोग भी सचेतन रूप से नहीं कर पा रहे जो इससे विशेष रूप से पीड़ित पक्ष हैं।"[1]

अतः इसका मुख्य कारण भारतीय समाज में विद्यमान हिन्दूवादी व्यवस्था है, जिसके कारण समस्त देश जातियों में बंटा हुआ है। इसी हिन्दूवादी व्यवस्था ने भारतीय

समाज में अनेकों प्रकार की असमानताओं को जन्म दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि दलितों का नारकीय जीवन बन गया, उन्हें छुआछूत, ऊँच–नीच, अस्पृश्यता रुपी ज्वाला में झुलसना पड़ा। यही हिन्दूवादी व्यवस्था काफी लंबे समय से भारतीय समाज को अपनी कुंडली में जकड़े हुए है और जन्म पर आधारित भेदभाव की पारंपरिक रीति को मिटाकर इस समाज को अधिक समतावादी बनाने के मार्ग में यह व्यवस्था आज भी गंभीर बनी हुई है।

डॉ. अम्बेडकर ने 'मूकनायक' के अपने पहले संपादकीय में हिन्दू समाज की इस विषमता की निंदा की है – "हिन्दू समाज एक मीनार है और एक–एक जाति इस मीनार का एक–एक तल (मंजिल) है। ध्यान देने की बात यह है कि इस मीनार में सीढियां नहीं है, एक तल से दूसरे तल में जाने का कोई मार्ग नहीं है। जो जिस तल में जन्म लेता है वह उसी तल (जाति) में मरता है। नीचे के तल का मनुष्य कितना ही लायक हो उसका ऊपर के तल में प्रवेश संभव नहीं। परंतु ऊपर के तल का मनुष्य चाहे कितना भी नालायक हो उसे नीचे के तल में धकेल देने की हिम्मत किसी में नहीं।"[2]

इसी प्रकार दलित चिंतक जयप्रकाश कर्दम भी वर्ण व जाति–भेद को ही समाज के समस्त क्षेत्रों के विकास में बाधा मानते हैं – "भारतीय सामाजिक संरचना में जाति एक बहुत फैक्टर है। विशेष रूप से हिन्दी समाज–व्यवस्था का यह आधार और प्राण है। जाति का प्रभाव इतना गहरा और व्यापक है कि समाज में व्यक्ति की पहचान उसके गुण, कर्म, योग्यता या व्यवसाय से न होकर उसकी जाति से होती है। जाति–व्यवस्था बंद कोठरियों का एक मकान है। एक व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है आजीवन उसी जाति का सदस्य रहकर सुख या संत्रास भोगता है। जातियाँ उपजातियों में बँटी है, उपजातियाँ कुल और गौत्र में। इस तरह पूरा समाज खण्ड–खण्ड विभाजित है। यूँ तो जाति के आधार पर समाज का विभाजन ही अपने आप में विघटनकारी है, जाति के आधार पर सामाजिक संस्तरण यानी छोटा–बड़ा, ऊँच–नीच तथा स्पृश्य–अस्पृश्य के व्यवहार ने समाज में विद्वेष और वैमनस्यता को जन्म दिया है।"[3]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' भी छुआछूत व जातिवाद के लिए वर्णवादी व्यवस्था को ही दोषी मानते हैं और लिखते भी हैं कि – "मनु द्वारा बनाई गई वर्ण–व्यवस्था और

जाति व्यवस्था आज भी विद्यमान है। इस जाति–प्रथा के कारण ही समाज का एक बहुसंख्य वर्ग सदियों से उच्च जातियों का अत्याचार सहन करता रहा है।"[4]

अर्थात् वर्णवादी व्यवस्था व जाति–भेद पर आधारित इस हिन्दूवादी व्यवस्था ने भारतीय समाज में सामजिक अलगाव, ऊँच–नीच व असमानता ही पैदा की है। इसी छुआछूत व जाति–भेद ने दलित समाज को आगे बढ़ने नहीं दिया है। विशेषकर दलितों के स्वतंत्र मूल्यों व अस्तित्व को नकार कर उन्हें पराधीन बनाया गया और समस्त सभ्य नागरिक अधिकारों से वंचित भी रखा। जैसे : दलित (अस्पृश्य) मुख्य गाँवों से दूरी पर ही बसें, गाँव के कुएँ से पानी न लें, इन्हें स्वच्छ जल भी पीने को नहीं मिलता था, गाँव के मन्दिरों में प्रवेश न करें, शिक्षा प्राप्त न करें तथा धार्मिक ग्रंथों का पाठ न करें। अस्पृश्यों से यह अपेक्षित था कि वे सबसे अधिक गंदे धंधे जैसे कि गंदगी (मानव मल–मूत्र की सफाई शामिल) की सफाई, मृत जानवरों की खाल उतारना इत्यादि निकृष्ट कार्य ही करें। इससे दलितों को स्वास्थ्य की हानि के साथ–साथ इनमें हीन भावना पैदा होने लगी। इस प्रकार वर्णवादी व्यवस्था अस्पृश्यों के लिए अमानवीय व्यवहार की दुनिया की निराली मिसाल थी। इसी कुप्रथा के शिकार डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' कई बार हुए हैं। इसलिए उन्होंने छुआछूत व जातिगत भेदभाव को अपने लेखन व आलोचना का विषय भी बनाया है। वे लिखते हैं कि – "भारतीय समाज में अस्पृश्यता की जड़ें बहुत गहरी हैं। इसी कारण देश की बहुत बड़ी जनसंख्या पशुओं से भी बदतर जीवन व्यतीत करने पर मजबूर रही है। देश को स्वाधीन हुए छह दशक होने जा रहे हैं, लेकिन अनेक भू–भागों में अस्पृश्यता का प्रकोप जारी है।"[5]

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपने एक निबंध 'समतामूलक समाज का सपना' में लिखते हैं कि – "इस माह की 15 तारीख को स्वतंत्रता दिवस की 51वीं वर्षगांठ मनाने के साथ ही, दलितों के स्वतंत्रता मूलक उत्थान–पतन की समीक्षा किए बगैर ही स्वर्ण जयंती समारोह का समापन भी हो गया। इस अवसर पर संसद को किए गए संबोधन में महामहिम राष्ट्रपति डॉ. के. आर. नारायणन ने महिला आरक्षण के संबंध में सांसदों के आचरण और भ्रष्टाचार की समस्याओं पर गंभीर चिंता व्यक्त की और साथ ही लोकतंत्र की मजबूत जड़ों को लेकर संतोष जताया था।"[6]

लेखक इस विषय को लेकर भी चिंतित हैं कि आजादी की स्वर्ण जयंती मनाई जा रही है, लेकिन जब दलितों के मूलभूत प्रश्न व मुद्दे सुलझाने की बात आती है तो सरकार व राजनेता मौन रहते हैं। लेखक यहाँ समाज के समक्ष प्रश्न उठाते हैं – "राजनीतिक प्रगति का हश्र हम देख रहे हैं, परंतु क्या सामाजिक दृष्टि से भी हमने लोकतांत्रिक प्रगति प्राप्त की है ? क्या मनुष्य–मनुष्य के बीच जन्मगत भेद–भाव समाप्त हुआ है ? क्या कायदे–कानून का स्वागत करने और आत्म–अनुशासन में रहने का अभ्यास सुविधा–संपन्न लोग वर्ण भेद को भूलकर कर पा रहे हैं ?"[7]

कुछ शहरी भारतीय समझते हैं कि जाति–भेद और छुआछूत अतीत की बातें हैं अब सब ठीक हो गया है। यहाँ कुछ घटनाओं का उल्लेख करना अनिवार्य है। वर्ष 2016 में उत्तर प्रदेश के जनपद में गुन्नौर तहसील के एक गाँव गंगुर्रा के निवासी दलित चरन सिंह अपनी तेरह साल की बेटी सुधा के साथ जंगल में पशुओं के लिए घास काटने गया था। इसी दौरान चरन सिंह की बेटी को प्यास लगने लगी तो वह पिता को बिना बताए पास ही बने मढ़ी मंदिर पर पानी पीने पहुँच गई। इस पर पुजारी ने न केवल उसे बुरी तरह पीटा, बल्कि उसके पिता के पेट में भाला घोंप कर उसे घायल कर दिया। 26 अप्रैल 2017 को मध्यप्रदेश के मानागांव के दलित सुबह उठते ही अचानक आश्चर्य में डूब गये थे, क्योंकि पेयजल के उनके एकमात्र स्रोत कुएं में सवर्णों ने रात के अंधेरे में केरोसिन तेल डाल दिया था। नतीजतन पानी दलितों के पीने योग्य नहीं रहा। इस हरकत का कारण यह बताया गया कि उसी गांव की एक दलित बेटी की शादी हुई थी। लड़की के पिता ने एक बैंड पार्टी बुक की थी। गांव के सवर्णों तक खबर पहुँची, तो धमकियां आनी शुरू हो गई।

इन तमाम घटनाओं में दलितों का क्या दोष था ? यह चिंतन का विषय है। डॉ. श्यौराज लिखते भी हैं कि – "जिस अस्पृश्यता को संविधान के जरिये खत्म कर दिया गया है, वह अब भी यहाँ दिखती है।"[8] कानूनी तौर पर तो यह कहा जाता है कि आज जाति–व्यवस्था का कोई महत्त्व नहीं है, अगर कहीं भी जातीय उत्पीड़न की घटना सामने आती है तो शोषकों को कड़ी–से कड़ी सजा सुनाई जाएगी लेकिन यह कानून व संविधान भी कथित सवर्णों के सामने भोथरा साबित हो जाता है। चूँकि दबंगो को कानून का कोई डर नहीं है इसलिए हिन्दू समाज की मानसिकता में बहुत गहराई तक

जाति–व्यवस्था का असर है। वह अपनी जातिवादी भावनाओं से मुक्त नहीं हो पाता है। फिर 'क्यों अभी भी छुआछूत व जातिभेद की घटनाएं लगातार सामने आती रही हैं', यह भी दलित आलोचक डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के लिए चिंता का विषय है।

इसी प्रकार डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपने एक निबंध के माध्यम से भारतीय समाज में व्याप्त जाति–भेद की सच्चाई को सामने लाते हैं। उनके अनुसार जाति के कारण ही दलितों का शोषित, वंचित व अपमानित होना पड़ता है। 'जाति : सब मुद्दों से गर्म' नामक निबंध में वे लिखते हैं – "जयपुर के सिवालिया गांव के हरिनारायण बैरवा परिवार के दूल्हा को घोड़ी पर नहीं चढ़ने दिया गया और बारात निकालने के लिए जिला कलक्टर व पुलिस अधीक्षक की मदद लेनी पड़ी। ऐसी एक और घटना प्रकाश में आई है, तमिलनाडु के पेरूंबदूर जिले में एक दलित लड़की की शादी किसी अन्य जाति के लड़के से की गई, तो दलितों का सामूहिक रूप से सामाजिक बहिष्कार ही कर दिया गया।"[9]

अतः भारतीय समाज का परिवेश आज भी किस हद तक सामंती व क्रूर है, इसका अंदाजा इन घटनाओं से लगाया जा सकता है कि कुछ जगहों पर सामंती जातियां कुछ दलित जातियों के दूल्हों की बारात तक घोड़ी पर चढ़ कर नहीं निकलने देती हैं। ये घटनाएं तो सिर्फ उदाहरण मात्र हैं, बल्कि इस प्रकार की घटनाएं तो हमारे समाज में आम हैं। लेखक का भी मानना है कि वह बारात 'बैरवा' जाति (दलित) की बजाय किसी सवर्ण हिन्दू की रही होती, तो क्या उसे रोका जाता ? परंतु हमारे बुद्धिजीवी अपने पूर्वाग्रहों, संस्कारों और एक जाति सापेक्ष दृष्टि के चलते दूसरी जातियों की मुक्ति के बारे में सोचने को ही तैयार नहीं हैं कि दलितों को ये अपमान गरीबी के कारण नहीं, बल्कि जाति–भेद के कारण झेलने पड़ते हैं।

इस तरह की घटनाएं सिर्फ गाँवों में ही नहीं बल्कि स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, छात्रावासों, सरकारी कार्यालयों आदि समाज के सभी क्षेत्रों में देखने को मिलती हैं।

दलित आलोचक श्यौराज सिंह 'बेचैन' का मानना है कि – "दलितों पर अत्याचार के मामले में दलित राजनीति को ही सब कुछ समझने वाले तथाकथित दलित नेताओं

का अधिक दोष है। समाज सुधार, वैचारिक जागरूकता आदि उनके लिए गौण विषय है। मानसिक तैयारी बदलाव की सोच, सामर्थ्य, आर्थिक आधार और सहायक साधनों के अभाव में दलित जन कानूनी प्रावधानों का लाभ नहीं उठा पाते हैं। दलितों को नौकरियां और शिक्षा के अवसर कम करते रहने की मुहिम चला कर वर्तमान सरकार ने भी बदतर हालात पैदा कर दिए हैं। लेकिन जो जिंदा लाश बनाये जा रहे हैं, उनके लिए किसी को चिंता नहीं है।"[10]

जब मायावती सत्ता में आती हैं तो वह दलित की चिंता छोड़ सर्वजन का राग अलापने लगती हैं और जब सपा का समाजवाद आता है तो वह भी एक जाति तक सिमटकर दलितों के खिलाफ खड़ा हो जाता है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि भारतीय समाज में गरीबी से तो व्यक्ति पार पा सकता है, किंतु दलित व अछूत होने के कारण मिलने वाले कष्टों व समस्याओं से उसे आजीवन जूझना पड़ता है। अर्थात् उसे पशुओं से भी बदतर जीवन जीना पड़ता है, जिससे उसके मानवीय मूल्यों का ह्रास होता है। दलित आलोचक डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' जाति–भेद व छुआछूत से मुक्ति के लिए ज्ञान व शिक्षा को अनिवार्य मानते हैं। वे जीवन का मूल मंत्र शिक्षा व ज्ञान की ललक को मानते हैं, जिसके माध्यम से छुआछूत क्या समाज की बड़ी–से–बड़ी विषमता से पार पाया जा सकता है। वे स्वयं अपनी जिंदगी की बड़ी–से बड़ी दिक्कतों को ज्ञान के माध्यम से ही दूर कर सके हैं। उन्होंने भी अपने जीवन में घोर अस्पृश्यता व अनेकों जाति–भेद का सामना किया लेकिन आज वे जिस मुकाम पर हैं, अपनी शिक्षा व पढ़ाई के कारण ही हैं। इसलिए वे अपने रचनात्मक लेखन व आलोचना के माध्यम से पाठक वर्ग में यही संदेश देते हैं कि – 'शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो'। इसी के माध्यम से छुआछूत, जाति–भेद देशव्यापी बुराई को दूर किया जा सकता है और यही तीन नारे दलितों को समान मानवीय अधिकार दिलाने के लिए भी प्रेरित करते हैं।

6.2 पितृसत्ता तथा सामंती व्यवस्था में दलित, गैर–दलित स्त्रियों के अधिकार

प्राचीन काल से वर्तमान समय में भारतीय स्त्री की सामाजिक स्थिति पर दृष्टि डाली जाए तो हमें ज्ञात होगा कि आदिम समाज में स्त्रियों को विशेष अधिकार प्राप्त थे। सभ्यता के प्रारंभिक दौर में जब मातृसत्तात्मक परिवार की व्यवस्था थी तब स्त्री–पुरुष दोनों के अधिकार समान थे। यहाँ तक कि इस आदिम समाज में स्त्री का स्थान पुरुष से ऊँचा ही समझा जाता था।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपने लेख 'डॉ. अम्बेडकर के स्त्री विषयक विचार' में लिखते हैं कि – "मातृ सत्तात्मक समाज व्यवस्था में पुरुष, स्त्रियों पर निर्भर अथवा उनके अधीन थे। प्रजनन विशिष्टता के कारण स्त्री का समय और शक्ति क्षीण होने व प्रगति की प्रक्रिया में बाधा आ जाने के कारण वह उन्नति की स्पर्धा में पिछड़ती गई। कालान्तर में वह पुरुष–सत्ता के अधीन हो गई।"[11]

अर्थात् जैसे–जैसे समय बदला स्त्रियों की सुखद स्थितियों का भी ह्रास होता गया। वैदिक काल से ही स्त्रियों की स्थितियों में परिवर्तन आना शुरू हो गया। महाकाव्य काल में यह ह्रास और भी बढ़ गया। सीता को पहले अग्नि परीक्षा, फिर गर्भावस्था में घर से बाहर तथा अंत में धरती में समाकर अपनी देह लीला समाप्त करनी पड़ी। द्रौपदी को वस्तु मानकर दांव पर लगाया गया और मनुस्मृति काल तक आते–आते तो स्त्री पूरी तरह से पुरुषवादी सत्ता की गुलाम बन गई। पहले पिता की, फिर पति की और अंत में पुत्र की। इसके बाद तो उसकी चेतना तक को बंधन बना लिया गया। उसे जनाने–खाने तक कैद कर दिया गया। इस प्रकार प्राचीन काल से वर्तमान समय तक पितृसत्ता व सामंती व्यवस्था के अधीन भारतीय स्त्री कठपुतली बन कर रह गई।

बीसवीं सदी के लगभग मध्य में सीमोन द बोउवार स्त्री मुक्ति की मुख्य पैरोकार के रूप में उभरी थीं। उन्होंने अपनी पुस्तक *'द सेकण्ड सेक्स'* में लिखा गया है कि

'औरत जन्म से ही औरत नहीं होती बल्कि बना दी जाती है।' अर्थात् परिस्थितियां समय के अनुसार बदलती रहती हैं और स्त्रियों की दशा भी परिवर्तित होती रहती है।

वर्तमान में दुनिया की आधी आबादी कही जाने वाली स्त्री हमारे देश में परंपरागत रूप से हाशिए की जिंदगी जीने को मजबूर रही। आखिर क्या कारण थे ? चूँकि दर्शन और अध्यात्म के स्तर पर तो स्त्री को देवी व पूज्य समझा जाता है किंतु व्यवहारिक धरातल पर उसे हमेशा पुरुषों से हीन समझा जाता है। वैसे तो स्त्री समाज का पूर्ण घटक होती है क्योंकि उसके बिना समाज अधूरा व अपंग हो जाएगा फिर भी समाज में स्त्रियों की ऐसी दशा क्यों ? यह चिंताजनक सवाल है, जिसका मुख्य कारण वह पितृसत्तात्मकता व सामंतवादी व्यवस्था है जिसके कारण भारतीय स्त्री ने समय–समय पर बड़े–बड़े उतार–चढ़ाव झेले हैं, चाहे वह किसी भी जाति व वर्ग से जुड़ी हो। इसलिए दलित व गैर–दलित स्त्रियों के अधिकारों पर विचार करने से पहले पितृसत्ता तथा सामंतवाद है क्या, इसके बारे में जान लेना समीचीन होगा।

पितृसत्ता के संदर्भ में कमला भसीन ने लिखा है कि – "पितृसत्ता का शाब्दिक अर्थ है, पिता या कुलपति (परिवार के सबसे बुजुर्ग पुरुष की सत्ता या शासन) आरंभ में इस शब्द का प्रयोग खास तरह के पुरुष के लिए किया जाता था.....आजकल इस शब्द का इस्तेमाल आम तौर पर पुरुष सत्ता दर्शाने के लिए किया जाता है जो अनेक तरीकों से औरतों को नीचे दर्जे पर रखती हैं।"[12] अर्थात् पितृसत्ता का सामान्य अर्थ पिता की सत्ता या परिवार के ज्येष्ठ मुखिया की सत्ता से है, जो घर में अपने सभी अधीनस्थों में अपना निर्णय थोपने के लिए स्वतंत्र हो, उसी का निर्णय सर्वमान्य होगा।

सामंती व्यवस्था में भी किसी भी क्षेत्र का एक राजा या सामंत होता है और सारी प्रजा उस राजा के ही अधीन होती है। राजा–रजवाड़े में तो स्त्रियों को सिर्फ भोग–विलास की ही वस्तु समझा जाता है इसलिए यहाँ तो स्त्रियों की स्थिति और भी सोचनीय हो जाती है, उसका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। जिस प्रकार पितृसत्ता में घर के मुखिया के अधीन बाकी सदस्यों का जीवन चलता है, उसी प्रकार राजा व सामंत के अधीन प्रजा चलती है।

डॉ. तारा परमार लिखती हैं कि – "भारतीय संविधान ने महिला व पुरुष दोनों को समकक्ष रखकर उनके विकास के लिए सुरक्षा तथा संरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गई पर इन सब के बावजूद महिला की स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन नहीं आया, क्योंकि सामाजिक रवैए में बुनियादी बदलाव नहीं हुए। समाज ने महिला के प्रति अपने दायित्व के निर्वहन में कोताही बरती है।"[13]

भारतीय संविधान में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त हुए फिर क्यों स्त्रियों को पुरुषों के बराबर समाज में दर्जा आज तक प्राप्त नहीं हुआ। जबकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सन् 1950 में भारत का संविधान लागू हुआ, जिसमें भारत के प्रत्येक नागरिक को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष को सामाजिक न्याय, समता एवं प्रतिष्ठा बिना किसी भेदभाव के प्रदान की गई। उनके लिए शिक्षा, व्यवसाय, राजनीति, समाज सेवा आदि सभी क्षेत्र खुले हुए हैं और उन्हें पुरुषों के साथ कंधे–से–कंधा मिलाकर चलने का अवसर दिया गया। भारतीय संविधान में यह भी कहा गया है कि राज्य के किसी भी नागरिक के विरुद्ध धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान आदि के आधार पर विभेद नहीं होगा, पर फिर भी स्त्रियों की स्थिति जस–की–तस बनी हुई है।

वास्तविकता यह है कि आजादी के सत्तर वर्ष बीत जाने के बाद भी भारतीय संविधान द्वारा दिए गए समानता के अधिकार से स्त्रियां वंचित हैं। क्योंकि वर्तमान में भारतीय समाज में पितृसत्तात्मक व सामंती व्यवस्था मौजूद है जिसके बरक्स दलित व गैर–दलित स्त्रियां गुलामी का जीवन जीती हैं। आम भारतीय स्त्री यह भी नहीं जानती कि उनके कल्याण के लिए कौन–कौन से कानून बनाए गए हैं, उन्हें कौन–कौन से अधिकार प्राप्त हैं। इसके साथ ही समाज की परंपराएं, रीति–रिवाज, नैतिक सामाजिक मूल्य उसे हमेशा से पीछे धकेलते रहे हैं जिसके कारण वह न तो अपनी आवाज उठा पाती है और न ही संघर्ष कर पाती है।

आधुनिक युग में पिछले कुछ वर्षों से चल पड़े विमर्शों के कारण स्त्री विमर्श उभर कर आया। जिसके माध्यम से भारतीय स्त्री हाशिए उलांघती नजर आती है, अब स्त्री के मुद्दों व सवालों पर चर्चा होने लगी है, अनेक गैर–दलित स्त्रियां अपनी लेखनी चला रही हैं। लेकिन वे अपने लेखन में अपनी अस्मिता और अस्तित्व के सवालों का जवाब ढूँढती

हुई, पुरुषों के चंगुल से मुक्ति की तलाश करती हुई सिर्फ अपने तक ही सीमित हैं। गैर–दलित लेखिकाएं दलित स्त्रियों के शोषण व अधिकारों की बात अपने लेखन में नहीं उठा रही हैं।

दलित व गैर–दलित स्त्रियों के शोषण, अत्याचारों व अमानवीयता में पिछले कुछ दशकों से निरंतर वृद्धि होती जा रही है। उन्हें निजी स्वार्थ के लिए परेशान किया जाता रहा है तथा उनके अस्तित्व का दुरुपयोग किया जाता है। महिलाओं पर अत्याचार, बलात्कार, लैंगिक–उत्पीड़न विशेषतः सार्वजानिक व कार्य स्थलों पर बढ़ता जा रहा है। समाचार–पत्र व पत्रिकाओं में भी निरंतर दलित स्त्रियों के साथ हो रहे बलात्कार होने की खबरें प्रकाशित हो रही हैं। उन्हें नंगा सड़कों पर घुमाया जा रहा है। दलित लेखिका डॉ. रजत रानी 'मीनू' अपनी कविता में लिखती हैं कि –

"हमारे साथ जब होता है बलात्कार
सामूहिक बलात्कार
तब क्यों हिलता नहीं पत्ता एक भी
और जब तुम्हारे साथ हुआ बलात्कार
तब क्यों हिल गई संसद भी
चीख उठीं महिला सांसद बलात्कार के खिलाफ
क्यों उड़ गई महिला आयोग की चैन की नींद
आज क्यों उठी बलात्कारियों को
साज–ए–मौत की मांग
कल क्यों मौन थीं/थे तुम
क्या मौलाना आजाद मेडिकल कालेज
की छात्रा के साथ हुआ बलात्कार पहला
बलात्कार था ?
नहीं तो तब तुम सब चुप क्यों थे/थीं
जब मेरे साथ हो रहा था बलात्कार/सामूहिक
बलात्कार
कारण मालूम है मुझे

क्योंकि तुम हो अभिजात्य/सवर्ण

और मैं ठहरी दलित।"[14]

उपर्युक्त पंक्तियों में जो दलित स्त्रियों के शोषण का चित्रण हुआ है उसे कथित सवर्ण स्त्रियां अपने लेखन में नहीं उठा पा रही हैं। इसका कारण है 'भिन्न जाति व वर्ग की स्त्रियों की कठिनाइयों एवं संघर्षों में कुछ समानताएं हैं तो बहुत सारे अंतर भी हैं।' जैसे तथाकथित सवर्ण स्त्रियों को तो बहुत सारे अधिकार प्राप्त भी थे, जैसे शिक्षा व मंदिर जाने का अधिकार, लेकिन दलित स्त्रियों को वे अधिकार भी प्राप्त नहीं थे और फिर कथित सवर्ण स्त्रियों द्वारा दलित स्त्रियों को घृणा की दृष्टि से देखा जाना, यह भी बड़ी समस्या है जिससे दलित स्त्रियों की स्थिति चिंताजनक बनी हुई है। यदि भारतीय कथित सवर्ण स्त्रियां दोहरे शोषण की शिकार हैं तो दलित स्त्रियां तिहरे शोषण की शिकार हैं। एक तो जाति का दंश झेल रही हैं, दूसरा स्त्री होने का और तीसरा वर्गगत आर्थिक शोषण।

यहाँ मान्यवर कांशीराम के *'बहुजन संगठक'* के संपादकीय से एक कथन उद्धृत किया जा सकता है – "दलित स्त्रियों की जिन्दगी में आजादी के अनुकूल परिवर्तन इसलिए नहीं आया क्योंकि आज वहाँ एक ओर महिलाएं अपने अस्तित्व के प्रति सजग हैं वहीं दूसरी ओर दलित–शोषित समाज की महिलाएं आज भी अपने अस्तित्व के प्रति बेखबर हैं।"[15]

इसका सबसे बड़ा कारण स्त्रियों का अशिक्षित होना है इसलिए वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं हो पा रही हैं। मान्यवर कांशीराम अपने संपादकीय के माध्यम से स्त्रियों को परामर्श देते हैं कि दलित शोषित समाज की शिक्षित स्त्रियां संगठन के महत्त्व को समझें और अपनी अनपढ़ बहनों को उसकी महत्ता समझा कर उनके दिल व दिमाग में यह बात डालें कि उनका अस्तित्व खतरे में है।

इस प्रकार दलित स्त्रियां शोषण व अत्याचार को सहती हुई स्वयं लेखन–कार्य में आगे आ रही हैं। इसके साथ–साथ दलित साहित्य लेखन में दलित लेखक भी दलित स्त्रियों की समस्याओं व उनके अधिकारों की चर्चा अपनी लेखनी के माध्यम से कर रहे हैं।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' उन दलित साहित्यकारों में से हैं जो अपने लेखन के माध्यम से मेहनतकश किसानों, मजदूरों, उत्पीड़ित–उपेक्षित दलित जीवन की समस्याओं को उठाते रहे हैं। इसके साथ ही वे दलित समुदाय की स्त्रियों की समस्याओं से वाकिफ रहे हैं। चूँकि उन्होंने अपनी माँ, बहन माया तथा अपने समुदाय की अन्य स्त्रियों का शोषण व अत्याचार होते हुए देखा है। इसलिए वे भारतीय समाज की स्त्रियों में भी दलित स्त्रियों के प्रति संवेदनशील रहे हैं और उनको सम्मान व समानता दिलाने के लिए निरंतर अपनी लेखनी चलाते रहे हैं।

उनका मानना है कि वर्तमान में दलित स्त्रियों की स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। वे समाज के समक्ष प्रश्न करते हैं कि – "दलित स्त्री का दुश्मन कौन हैं ? गैर–दलित स्त्री सवर्ण के साथ है या दलित के ? दलित स्त्री के सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक अधिकार किसने छीन लिए हैं ? आजाद भारत में दलित स्त्री जैसा कोई गुलाम इस दुनिया में हैं या नहीं ?"[16]

जबकि भारतीय संविधान में पुरुषों के बराबर ही स्त्रियों को अधिकार दिए। फिर क्यों उच्च शिक्षण संस्थानों, भिन्न–भिन्न विभागों के सरकारी कार्यलयों में दलित स्त्री की स्थिति दयनीय व नगण्य है। डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपनी पुस्तक *'स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका'* में दलित स्त्रियों की भागीदारी व हिस्सेदारी के प्रश्न को उठाते हैं "दलित स्त्रियों का उच्च शिक्षा में प्रतिनिधित्व हजार में एक भी नहीं है। पूरे देश के तीन सौ चौंसठ विश्वविद्यालयों में एक भी दलित स्त्री कुलपति नहीं है। प्रोफेसर भी नहीं है। राष्ट्रीय दैनिक समाचार–पत्रों में हजारों महिलाएं कार्य करती हैं संपादकीय विभाग में, तकनीक विभाग में रिपोर्टिंग इत्यादि में। वर्षों से मेरी नजरें उन्हें ढूँढती रही हैं। वे झाड़ू लगाने संपादकों के कप–प्लेट ढोने उनकी रद्दी इकट्ठी करने के आलावा वहाँ वे किसी सम्मानित पद पर नहीं हैं..... परन्तु वह सवर्ण महिलाएं पुरुषों से भी अधिक संख्या में हैं। दलित महिलाएं नहीं हैं।"[17]

यहाँ लेखक दलित स्त्रियों की स्थितियों से बहुत ही चिंतित हैं। चूँकि आज भी स्त्रियों को समाज में बराबरी का अधिकार नहीं मिल पा रहा है। बेचैन जी का मानना है कि – "शिक्षा में, सिनेमा में, मीडिया में समाज और राजनीति में हर जगह दलित स्त्री

का हिस्सा गैर–दलित स्त्री ने खा लिया है किसी दलित पुरुष ने नहीं। सवर्ण महिलाएं वंचित–दलित महिलाओं की क्षतिपूर्ति कर सकती हैं।"[18]

डॉ. बेचैन दलित स्त्रियों की स्थिति सोचनीय बनाने में कथित सवर्ण स्त्रियों की सोच व बर्ताव को भी मानते हैं। चूँकि दलित स्त्रियों को बराबरी देने, आरक्षण में भागीदार बनाने के लिए गैर–दलित स्त्रियां बिल्कुल भी तैयार नहीं हैं। दलित विरोध के मामले में वे अपने सवर्ण पुरुषों से अलग नहीं हैं। लेखक का कहना है कि अगर सवर्ण महिलाएं दलित महिलाओं के लिए कुछ कर सकती हैं तो सबसे पहले वे छुआछूत छोड़कर बहनापा अपनाएं।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' उन लोगों को भी अपनी आलोचना में शामिल करते हैं जो बेटा–बेटी में भेदभाव करते हैं। बेटे को अंग्रेजी माध्यम के स्कूल में पढ़ाते हैं, बेटियों को सरकारी स्कूल में। किसी बेटी का पिता दहेज देने के पक्ष में नहीं है लेकिन वह अपने बेटे की शादी में दहेज लेने का इच्छुक है, आखिर यह दो–तरफा व्यवहार क्यों ? यह सब देश में पुरुष और स्त्री में असमानता को ही दर्शाता है उन्हें समानता का अधिकार नहीं दिया जाता। यही कारण है कि बेटियों की जन्म से पूर्व पेट में ही भ्रूण हत्या कर दी जाती है, यह भी लेखक के लिए चिंता का विषय है।

बाबा साहब ने हिन्दू कोडबिल के माध्यम से स्त्रियों की दशा सुधारने हेतु कई प्रावधान किए। स्त्रियों को संपत्ति में अधिकार, पुरुषों के बहुपत्नी विवाहों को गैर–कानूनी करार देकर तथा विभेद न कर सामाजिक मताधिकार दिलाया। ये कुछ ऐसे कदम थे जिन्हें बाबा साहब ने हिन्दू कोडबिल के माध्यम से पेश किया। डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' उन स्त्रियों के खिलाफ हैं जिन्होंने बाबा साहब द्वारा बनाए गए हिन्दू कोडबिल का तो इस्तेमाल किया लेकिन वे दलित स्त्रियों के साथ नहीं है अर्थात् उन्हें अपना नहीं मानती और न ही अपनी लेखनी में उनकी समस्याओं को उठाती हैं। बल्कि उनसे छुआछूत भी बरतती हैं। डॉ. बेचैन स्त्रियों की समस्याओं पर विचार करते हुए दलित स्त्रियों को शिक्षित व जागरूक बनाने पर बल देते हैं। दलित व गैर–दलित स्त्रियों के अधिकारों के बारे में लिखते हैं कि – "यह देश का दुर्भाग्य है कि गैर–दलित वर्ग की स्त्रियाँ आज भी डॉ. अम्बेडकर के कार्यों का लाभ लेती हैं और उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के

बजाय उनकी दलित जातियों तक से घृणा करती हैं। अब तक सांपत्तिक अधिकार, तलाक की स्वतंत्रता और मताधिकार का लाभ फिल्म, सिनेमा, शिक्षा, कला, मीडिया आदि क्षेत्रों की नौकरियां इन गैर–दलित स्त्रियों ने ही प्राप्त की हैं। इनके विपरीत अस्पृश्य वर्ग की स्त्रियाँ उच्च शैक्षणिक पदों पर शून्य के आसपास हैं। मीडिया, सिनेमा और कला संस्कृति के क्षेत्रों में तो उनका प्रतिनिधित्व सपने में भी नहीं हैं। तब साहित्य में होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। संपत्ति उनके अभिभावकों के पास नहीं है, जो वे उसमें से हिस्सा प्राप्त करें।"[19]

एक तरफ डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपनी आलोचना में उन स्त्रियों को शामिल करते हैं जहाँ स्त्री ही, स्त्री को अपना दुश्मन मानती हो। कथित उच्च वर्णीय स्त्रियाँ पुरुषवादी व सामंती सूत्र में बंधकर, पढ़–लिखकर आज दलित स्त्रियों के साथ छुआछूत बरत रही हैं तो दूसरी तरफ इस श्रेणी में वे पुरुष भी आते हैं जो सदियों से लिंग–भेदी मानसिकता के तहत स्त्रियों को समान अधिकार देने के पक्ष में नहीं हैं और पितृसत्तात्मक मानसिकता के बरक्स महिलाओं का निरंतर शोषण करते हैं। उन पुरुषों के लिए स्त्रियों का मान–सम्मान कुछ भी नहीं, उन्होंने उसे केवल देह की वस्तु ही समझा। प्रसिद्ध कथाकार व हंस के दिवंगत संपादक राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि – "हमारे समाज में नैतिकता के सारे मानदण्ड स्त्री–शरीर से तय होते हैं और उनका निर्वाह केवल स्त्री को ही करना पड़ता है। सेक्स के मामले में स्त्री का जो शोषण होता है उस अनुभव को केवल स्त्री ही जानती है। उम्मीद है दलित स्त्रियाँ उस अनुभव को लिखेगी।"[20]

इसी प्रकार डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपने लेखन के माध्यम से दलित महिलाओं को प्रेरित व जागरूक करते हैं कि – "वंचित दलित स्त्रियों को समझना चाहिए कि किसी के बताने–दिलाने से नहीं, स्वयं के चाहने से और चाहत की दिशा में सांगठनिक शक्ति लगाने से ही अधिकार मिल पाते हैं। गैर–दलित स्त्रियों के दिलाने से दलित स्त्रियों के हक मिलने थे तो वे उन साठ सालों में अवश्य मिल गए होते।"[21]

पितृसत्तात्मक व सामंती व्यवस्था में पुरुषों को सिर्फ औरतों की देह ही प्यारी है, वह मन से उसे स्वीकार नहीं कर पाते। इसलिए पुरुषवादी वर्चस्व के कारण वर्तमान में

महिलाओं के साथ बलात्कार किए जा रहे हैं। डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' 'उन अबलाओं की भी सुध लीजिए' नामक अपने लेख में लिखते हैं कि – "बलात्कार हमेशा कमजोरों का ही होता है। चूँकि औरतें शारीरिक तौर पर पुरुष की तुलना में कमतर हैं, इसलिए वे इसकी शिकार होती हैं। इसी तर्क को और आगे बढ़ाएं तो हम पाते हैं कि पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था में बलात्कार की शिकार ज्यादातर वही होती हैं जो समाज के निचले तबके से आती हैं।"[22]

अर्थात् लेखक भी मानते हैं कि दलित महिलाओं के साथ बलात्कार की घटनाएं आम हो गई हैं। पितृसत्तात्मक व्यस्था के चलते स्त्रियों के मान–सम्मान की किसी को कोई परवाह नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त बेचैन जी अपनी आलोचना में सामंतवादी मानसिकता का पर्दाफाश करते हैं – "सामंती संस्कृति के सिपहसालार सुझाव दे रहे हैं कि लड़कियों का बचपन में विवाह कर दो, ताकि बलात्कार की नौबत न आए। वे लड़कियों के मोबाइल न रखने अथवा जींस न पहनने का भी उपाय बता रहे हैं। सत्ता रूढ़ दल के एक नेता ने तो यहाँ तक कह दिया कि 90 फीसदी लड़कियाँ खुद ही घर से बाहर एक–दो पुरुषों के साथ जाती है और बाहर समूह में फंस जाती है। अंदाजा लगाया जा सकता है कि जिनके कंधों पर इन बालिकाओं के संरक्षण का दायित्व है, उनकी धारणाएं क्या हैं ?"[23]

यहाँ लेखक सामंतवादी क्रूर मानसिकता से परिपूर्ण पुरुषों की सोच से समाज को अवगत कराते हैं। कैसे पितृसत्ता व सामंती व्यवस्था के तहत दलित व गैर–दलित महिलाओं के अधिकारों को कुचला जा रहा है। आखिर क्यों स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह जींस नहीं पहन सकती या मोबाइल नहीं रख सकती उन्हें भी भारतीय संविधान ने पुरुषों की तरह पूर्ण स्वतंत्रता के साथ जीने का मौका दिया, फिर वह क्यों न अपनी मर्जी से अपना जीवन बिताए ? इन्हीं सब सवालों को उठाते हुए डॉ. बेचैन माली जाति की पहली शिक्षिका सावित्री बाई फुले और अछूत जाति की पहली शिक्षिका दुर्गाबाई जी को अपना प्रेरणा–स्रोत मानते हैं। इन दोनों महिलाओं ने ही स्त्रियों को जागरूक व प्रेरित करने के लिए सर्वप्रथम महिला शिक्षा पर बल दिया। उनसे प्रेरित होकर ही

लेखक दलित व गैर–दलित स्त्री के मुद्दों पर भलीभांति विचार–विमर्श करता है और अपनी आलोचना में एक तरफ उन महिलाओं को कठघरे में खड़ा करता है जो स्त्री होकर भी स्त्री के दुखों को नहीं समझ पाती अर्थात् गैर–दलित महिलाओं को दोषी मानते हैं। वे दलित महिलाओं को जागरूक करने में भागीदारी नहीं निभा रही, सिर्फ अपने से ही संतुष्ट हैं और दूसरी ओर उन पुरुषों को भी दोषी मानते हैं जो स्त्रियों के विकास में बाधक हैं जो उन्हें समानता का दर्जा नहीं देते और उन पर रौब जमाते हुए उनके मान–सम्मान की भी परवाह नहीं करते।

6.3 भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के दौर में दलित अस्तित्व का प्रश्न

वर्तमान से तीन दशक पूर्व सन् 1990 के बाद से भारत में आर्थिक सुधारों के लिए भिन्न–भिन्न कार्यक्रम चलाए गए। इन आर्थिक सुधारों के मूलतः तीन अंग माने गए भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण। 1990 से पूर्व भारत की प्राचीन अर्थव्यवस्था उत्पादक पूँजी मूलभूत थी। नए–नए उद्योग लगते थे, उत्पादन होता था और हजारों लोगों को रोजगार भी मिलता था। लेकिन जब से देश में भूमंडलीकरण का उदय हुआ तब इस नई विश्व अर्थव्यवस्था ने उत्पादक पूँजी को हतोत्साहित कर दिया और अनुत्पादक पूँजी उसमें मूलभूत हो गई और बाजारवाद का जन्म हुआ।

भूमंडलीकरण को अंग्रेजी में ग्लोबलाइजेशन भी कहा जाता है। इसका सीधा–सा अर्थ है मुक्त व्यापार। जिसमें विकसित देशों का विकासशील और पिछड़े देशों में वस्तुओं का खुला आयात होता है। अर्थात् इसकी संकल्पना बाजार से जुड़ी है।

वरिष्ठ आलोचक प्रो. सुधीश पचौरी का कथन है कि – "भूमंडलीकरण/ग्लोबलाइजेशन/ इन दिनों एक बड़ा 'क्लिशे' है। एक प्रकार का 'वृहद विचार' है, प्रस्थापना–परिवर्तनकारी प्रक्रिया है। विश्व की हर जिंदा बहस में वह सर्वव्यापी 'जटिल कारक' और 'अनंत परिणाम' की तरह रहता है। हिन्दी में चलने वाली तमाम साहित्यिक–राजनीतिक और आर्थिक बहसों में वह जाने–अनजाने आता–जाता

रहता है। अधिकतर लोग उसकी निंदा करते हैं, उसे षड्यंत्र मानते हैं। स्वयं को घिराव में आया देखते हैं।"[24]

प्रकाश मिश्र लिखते हैं कि – "वैश्वीकरण जिसे भूमंडलीकरण भी कहते हैं, आर्थिक स्तर पर विश्व बाजार और परिणामस्वरूप विश्वग्राम का स्थापक है, जिसका लाभार्थी एक महाशक्तिशाली देश है। राजनीतिक स्तर पर वह दुनिया को क्रमशः एक सिस्टम के भीतर रखने या अनुरूप बनाने का साधन है। संस्कृति के स्तर पर वह दुनिया को एक नियमानुवर्तित बनाने पर आमादा है।"[25]

डॉ. पुष्पपाल सिंह, इस परिदृश्य पर लिखते हैं कि – "भूमंडलीकरण सामान्यतः एक ऐसी अवधारणा होनी चाहिए थी कि पूरे विश्व में एक नई संस्कृति विकसित हो, जो पूरे भूमंडल को एक विश्वग्राम में परिवर्तित करके सारी दुनिया के मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए प्रतिबद्ध होती। किंतु आज वर्तमान रूप में वैश्वीकरण एक ऐसी धारणा है, जिसका मूलाधार बाजार, बाजारवाद और उपभोक्तावाद है।"[26]

अर्थात् भूमंडलीकरण में जो पूँजी का खेल चल रहा है, पूरा समाज अजीब तनाव, बल्कि यंत्रणा की अवस्था में है। जो दुखी हैं, वे तो दुखी ही हैं, जो खुश हैं, वह भी अंतर्मन से खुश नहीं हैं, आज हर आदमी पूँजी के खेल से व्याकुल है।

विश्व के सारे देश आजाद हैं। भौगोलिक उपनिवेशवाद समाप्त हो चुका है, लेकिन उसके स्थान पर नए उपनिवेशवाद ने जगह ले ली है। भूमंडलीकरण के कारण स्पष्ट रूप से उपभोक्तावाद को बढ़ावा मिल रहा है। इसी के चलते भोगवादी प्रवृत्ति (कंज्यूमर कल्चर) तथा अपसंस्कृति का प्रचार–प्रसार भी हुआ। भौतिक सुखों के लिए बदहवास भागता समाज, एक अदृश्य किस्म के तनाव के घेरे में रहता है।

दरअसल, भूमंडलीकरण की पूरी प्रक्रिया मुट्ठी भर पूंजीपतियों के निरंतर विकास और उनके हितों की सुरक्षा सुनिश्चित करती है। 'पूँजी' ही इसका देवता है और मुनाफा ही 'मोक्ष'। इसके लिए पूरी दुनिया बाजार है और दुनिया की सारी प्राकृतिक सम्पदाएं, मनुष्य एवं मनुष्येतर प्राणी महज एक बिकाऊ 'माल'। इसमें किसी भी चीज का उतना ही मूल्य है, जितना उसका बाजार भाव। अतः भूमंडलीकरण की अवधारणा लालच, लालसा की जननी भी मानी जा सकती है।

उदारीकरण का सीधा–सा अर्थ है पूँजी की निर्बाध गतिशीलता। एक सीमा तक अंकुश रहित अर्थव्यवस्था। उदारीकरण के दो पहलू हैं। पहला आंतरिक और दूसरा बाह्य। पूँजी को गतिशील बनाने के लिए जरुरी है कि उसे अनावश्यक नियंत्रणों से मुक्त रखा जाए। बाह्य पहलू की बात करें तो विश्व पूँजी के लिए तमाम विकासशील देशों के लिए दरवाजें खुल गए हैं। उदारीकरण से पूँजी निर्माण में बेशक गति बढ़ी है लेकिन कई तरह की विकृतियां भी पैदा हुई हैं। पूँजी निर्माण के क्षेत्र में आपाधापी मची हुई है। उदारीकरण की आंधी में कमजोर का क्या होगा, इसकी चिंता सत्ताधीश व औद्योगिक घरानों को नहीं है।

जिस प्रकार आजादी से पूर्व या आजादी के बाद भी ब्राह्मणवादी, सामंतवादी व वर्णवादी व्यवस्था के कारण दलितों व अछूतों ने भेदभाव वाली व्यवस्था का सामना किया। उसी प्रकार संपूर्ण विश्व में भूमंडलीकरण, उदारीकरण व निजीकरण के कारण दलितों को अस्मिता व अस्तित्व के संकट का सामना करना पड़ रहा है। दलितों को मूलतः तीन तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। ये तीन समस्याएं हैं – शिक्षा, रोजगार व आरक्षण।

देश के स्वतंत्र होने के बाद भी भारत में कहने को तो लोकतंत्र की स्थापना हुई। लेकिन सही मायने में देखा जाए तो यह आम आदमी से काफी दूर है। चूँकि अवसर की समानता के लिए सभी के पास शिक्षा का होना जरुरी है जबकि यह आम जनता की पहुँच से काफी दूर है। डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' गरीब, वंचित व अछूतों की शिक्षा को लेकर काफी चिंतित दिखाई पड़ते है। उनका मानना है कि दलित अपनी मुक्तिकामी जीवन को शिक्षित होकर ही पा सकता है। शिक्षा में वे दलितों की मुक्ति तलाशते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि दलित समुदाय अशिक्षा के कारण ही आज भी विकास से कोसों दूर है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' **'बदले सामाजिक परिवेश में शिक्षा और शिक्षक'** नामक लेख में लिखते हैं कि – "स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राजनीति में जरुर लोकतंत्र पनपा, परंतु स्वतंत्रता मूलक शिक्षा का स्वरुप विकसित नहीं हो पाया, उस पर सांस्कृतिक रूप से सामंती क्रियाकलाप हावी रहे। दलितों सहित मजदूरों किसानों और तमाम मेहनतकश

अवाम के लिए सामान्य शिक्षा और कुछ खास वर्गों के लिए विशेष शिक्षा इन दोनों में जमीन–आसमान का अंतर दिखाई पड़ने लगा।"[27]

वे आगे **'दलितों का दर्द'** नामक लेख में लिखते हैं कि – "विडंबना यह है कि बसपा के राज में भी शिक्षा का व्यवसायीकरण पूरे शोषण चक्र की तरह चल रहा है। लाखों एकड़ सरकारी जमीनें स्कूल–कॉलेज खोलने के नाम पर कौड़ियों में कब्जा ली गई हैं। इन स्कूलों–संस्थानों का शुल्क इतना ज्यादा है कि दलित और अति पिछड़े वर्ग के बच्चे इनमें दाखिला लेने की कल्पना भी नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, जब निजी स्कूल–कॉलेजों के लिए जमीन दी गई, तो दलितों के लिए उनके प्रतिनिधित्व के अनुसार स्वामित्व दिलाने के कारगार उपाय नहीं हुए।"[28]

इस प्रकार भूमंडलीकरण व निजीकरण के दबदबे के कारण जब देश में प्राइवेट स्कूल व कॉलेज कायम होने लगे तब शिक्षा जगत कारोबार में बदलने लगे। अर्थात् शिक्षा के निजीकरण के जरिये व्यवसायिकता को प्रमुखता मिली जिससे सरकारी स्कूलों व शिक्षा–संस्थानों में शिक्षा का स्तर दिनों गिरता चला गया। वर्तमान में हर माँ–बाप अपने बच्चे को प्राइवेट स्कूल व कॉलेज में पढ़ाने की इच्छा रखता है लेकिन आर्थिक रूप से कमजोर परिवार अपने बच्चे को निजी स्कूलों में नहीं पढ़ा सकता। इस कारण वंचित तबके को अशिक्षित, असभ्य रहने के अलावा कोई विकल्प नजर नहीं आता।

भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति, जनजाति व अन्य पिछड़ा वर्ग के लिए शिक्षा के साथ–साथ रोजगार में आरक्षण की सुविधा दी गई। ताकि आरक्षण का लाभ लेकर वंचित समुदाय के लोग पढ़े और सरकारी सेवा के क्षेत्र में आगे भी बढ़े। लेकिन जब भूमंडलीकरण, उदारीकरण व निजीकरण के कारण सारे सरकारी कार्यालय प्राइवेट कंपनियों में बदलने लगे तो एक ओर दलितों व वंचितों को अशिक्षित होने के कारण रोजगार नहीं मिला और दूसरा उन निजी कंपनियों में आरक्षण की व्यवस्था नहीं की गई थी जिसके कारण दलितों के सामने बेरोजगारी का संकट खड़ा हो गया, जिससे दलितों के पेट और पीठ दोनों पर प्रहार हुआ। जिसका असर यह भी दिखाई देता है कि साहित्यिक संस्थाओं में, मीडिया में, सिनेमा में, राजनीति में व प्रशासनिक सेवाओं में दलितों व वंचितों की भागीदारी नहीं है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने अपने लेखन के माध्यम से दलित समाज की ओर से सामाजिक और राजनैतिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आरक्षण व हिस्सेदारी के प्रश्नों को बखूबी उठाया हैं।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपने **'दलितों में शिक्षा का विस्तार हो'** नामक निबंध में उदारीकरण व निजीकरण के कारण होने वाले दलितों के अस्तित्व के संकट से भारतीय समाज को रूबरू कराते हैं – "उदारीकरण, निजीकरण और फलस्वरूप सरकारी नौकरियों में कटौतियां हो रही हैं दलितों को सामाजिक क्षेत्रों में भागीदारी नहीं मिल रही है। जो नयी नौकरियां ईजाद हो रही हैं, वे तकनीकी संरचना, सूचना प्रौद्योगिकी आदि क्षेत्रों में भी हो रही हैं। इन क्षेत्रों में दलितों को प्रशिक्षित नहीं किया जा रहा है। ग्रामीण भारत दलितों के लिए निरंतर मुसीबतों का केंद्र बनता जा रहा है। यदि यह सिलसिला चलता रहा तो आगामी पांच वर्षों में दलित वर्ग पूरी तरह तबाह हो जाएगा। वैसे भी आरक्षित पद बहुत ही सीमित और बेरोजगारों की संख्या बहुत अधिक है।"[29]

इसी प्रकार डॉ. तेज सिंह भी कहना है कि – "नई आर्थिक नीति ने राज्य की भूमिका को सीमित कर दिया है, जिससे उसका उनमें हस्तक्षेप कम हो गया है। अनुसूचित जातियों के लिए चलाये जा रहे विशेष कार्यक्रमों में कटौती हो गई है और निजी क्षेत्रों को प्रोत्साहन देने के कारण आरक्षण की सुविधाएं कम होती जा रही हैं। 1991 ई. में अनुसूचित जाति के कर्मचारियों की संख्या 6.28 लाख थी, 1992–93 ई. में घटकर 6.04 लाख रह गयी। तीसरे–चौथे दर्जे के अनुसूचित जाति के कर्मचारियों की भर्ती में 10 प्रतिशत की गिरावट आयी। एक रिपोर्ट के अनुसार जहाँ सन 1990 ई. में तीसरे–चौथे दर्जे के अनुसूचित जाति के कर्मचारियों की संख्या 4.33 लाख थी, वहीं वर्ष 1992 ई. में घटकर 3.69 लाख रह गयी। निजीकरण ने दलितों की नौकरियों को और सीमित कर दिया है।"[30]

दलित आलोचक डॉ. जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं कि – "उदारीकरण से उत्पन्न आर्थिक संकट और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के रूप में विकराल होते जा रहे हिन्दू फासीवाद की चुनौतियों के बीच दलित अपने अस्तित्त्व को कैसे बचायें, कैसे अपनी

अस्मिता के साथ जिएँ और आगे बढ़ें, आज की तारीख में दलित आंदोलन के समक्ष यह सबसे बड़ा प्रश्न है।"[31]

अर्थात् उदारीकरण के नाम पर होने वाला निजीकरण के कारण दलितों को बराबर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। दलितों को रोटी की समस्या का सामना दिन प्रतिदिन करना पड़ रहा है। अर्थात् जब से भारत में भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई, गरीबी बेतहाशा बढ़ी है।

इस प्रकार डॉ. श्यौराज सिंह बेचौन को मालूम है कि समाज में व्याप्त वर्चस्ववादी मानसिकता के कारण दलितों का प्रतिनिधित्व डेढ़–दो फीसदी नहीं बढ़ पा रहा है। उनकी शिक्षा का रास्ता खोलने के लिए सामंतवादी समाज कतई तैयार नहीं है। अभी भी चिंताजनक सवाल यह है कि वर्णवादी लोग जन्मना प्रतिभा को ही सब कुछ मान कर ही क्यों चलते हैं? इसलिए वे भूमंडलीकरण, निजीकरण व उदारीकरण के दौर में दलित अस्तित्व के संकट को भांप कर निरंतर अपनी लेखनी चला रहे हैं और वंचितों को जागरूक व प्रेरित करने का कार्य करते हैं।

संदर्भ सूची

1. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *अम्बेडकर गांधी और दलित पत्रकारिता*, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, प्र. सं. 2010, पृ. 298
2. अम्बेडकर, डॉ. बी. आर., *मूकनायक*, अनु. डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन', गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ. 24
3. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश, *इक्कसवीं सदी में दलित आंदोलन*, पंकज पुस्तक मन्दिर, दिल्ली, प्र. सं. 2013, पृ. 134
4. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *उत्तर सदी के हिंदी कथा–साहित्य में दलित विमर्श*, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, प्र. सं. 2014, पृ. 157
5. वही, पृ. 164
6. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच*, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, प्र. सं. 2007, पृ. 36
7. वही, पृ. 36
8. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– सियासत व समाज के अंधेरे, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 09 फरवरी, 2017, पृ. 10
9. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच*, पृ. 23
10. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *मीडिया : उत्तर आधुनिक अस्पृश्यता के दौर में*, साहित्य–संस्थान, गाजियाबाद, प्र. सं. 2010, पृ. 122–123
11. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका*, साहित्य–संस्थान, गाजियाबाद, प्र. सं. 2009, पृ. 63
12. प्रियम, अरुण कुमार, लेख– पितृसत्ता की सार्वभौमिकता, *युद्धरत आम आदमी* (कथामासिक पत्रिका), जुलाई–सितंबर, 2013, पृ. 8
13. परमार, डॉ. तारा, लेख– दलित महिलाएँ एवं उनका सशक्तिकरण, *वाङ्मय* पत्रिका, जनवरी–मार्च, 2006, पृ. 103
14. 'मीनू', डॉ. रजत रानी, कविता– क्यों नहीं हिलता पत्ता एक भी, *कादम्बिनी* (मासिक पत्रिका), अगस्त, 2004, पृ. 74
15. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका*, पृ. 14

16. वही, पृ. 1
17. वही, पृ. 1
18. वही, पृ. 6
19. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– विजातीय नजदीकी, *दैनिक हिन्दुस्तान*, 03 जून, 2005, संपादकीय पृष्ठ
20. तिहरा अभिशाप अर्थात् दलित अस्मिता विमर्श में स्त्री, *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), जुलाई, 2000, पृ. 89
21. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच, पृ. 164
22. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– उन अबलाओं की भी सुध लीजिए, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 10 जनवरी, 2013, संपादकीय पृष्ठ
23. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– भय से बड़ी कोई हिंसा नहीं होती, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 01 नवंबर, 2012, संपादकीय पृष्ठ
24. पचौरी, सुधीश, *भूमंडलीकरण और उत्तर–सांस्कृतिक विमर्श*, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2003, पृ. 7
25. विवेक, ज्ञानप्रकाश, लेख– भूमंडलीकरण, उदारीकरण और हिंदी गजल, *इन्द्रप्रस्थ भारती पत्रिका*, जनवरी–मार्च, 2016, पृ. 44
26. वही, पृ. 44
27. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच*, पृ. 26
28. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– दलितों का दर्द, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 19 फरवरी, 2011
29. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच*, पृ. 211
30. प्रसाद, माता, लेख– उदारीकरण/निजीकरण अर्थात् दलितों की गुलामी का घोषणा–पत्र, *दलित साहित्य वार्षिकी*, 2002
31. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश, *इक्कसवीं सदी में दलित आंदोलन*, पृ. 147

उपसंहार

उपसंहार

दलित जीवन को संपूर्ण मानवीय मूल्यों के पारंपरिक भारतीय समाज के बीच समरसता और सौहार्दपूर्ण माहौल में जीने के लिए जिन साधनों, अधिकारों और कर्त्तव्यों की मांग भारतीय सरकार से समय–समय पर किए जाने के बावजूद भी जो आज तक पूरी न हो सकी, उसे ही **'दलित प्रश्न'** के रूप में जाना जाता है। दलित प्रश्न आज के समाज व साहित्य से जुड़े प्रमुख प्रश्न हैं। इनमें सबसे बड़ा व अनसुलझा सवाल अस्पृश्यता, छुआछूत तथा जाति–भेद का सवाल है। यह प्रश्न वर्णवादी व मनुवादी व्यवस्था के बरक्स ही पनपता है। इसी अस्पृश्यता रुपी सवाल से दलितों के अनेकों प्रश्न व मुद्दे भी उत्पन्न होते हैं। जैसे – दलितों की अस्मिता व आत्मसम्मान का सवाल, शिक्षा से जुड़ा सवाल, आरक्षण व हिस्सेदारी का सवाल, गरीबी से उबरने का सवाल, भूमि का सवाल, वृद्ध, स्त्रियों व बच्चों के सवाल आदि।

आज भी गाँवों में दलितों को सार्वजानिक कुओं से पानी भरने की अनुमति नहीं मिलती है। यहाँ तक कि तथाकथित सवर्णवादियों के समक्ष या उनके साथ चारपाई पर बैठने का साहस भी वे नहीं जुटा सके हैं और न ही उच्चवर्णीय समुदाय दलितों के हाथ से पानी व उनके हाथ से पका खाना स्वीकार करते हैं। अगर वे किसी दलित के भोज में जाते भी हैं तो उनके लिए उच्च वर्ग के व्यक्ति द्वारा भोजन तैयार कराया जाता है, उन्हीं के हाथों परोसा जाता है और साथ–ही साथ उनके खाने की व्यवस्था भी अलग से करनी पड़ती है। यहाँ तक कि राजस्थान में आज भी कई गाँवों में दलित दूल्हा घोड़ी चढ़कर सार्वजानिक मार्ग से नहीं जा सकता है। यदि कोई दलित घोड़ी पर चढ़कर सार्वजनिक मार्ग से जाता है तो वहाँ प्रभुत्वशाली लोग जैसे गुर्जर, जाट व राजपूत आदि लोग लाठी, फरसों, सम्बल व बंदूकों से हमला कर दूल्हे को घोड़ी से उतार देते हैं और बारातियों को पीट–पीट कर गंभीर रूप से घायल कर देते हैं। उनके अलग कुएँ व गाँवों से बाहर बसायी गई बस्ती तथा उनके साथ घटी अन्य घटनाएं इस बात का प्रमाण है कि उन्हें वर्तमान में भी तथाकथित वर्णवादी पोषकों के शोषण का शिकार होना पड़ता है।

जानकारी यह भी है कि हमारा भारतीय संविधान, हमारा कानून हर व्यक्ति की जान–माल की सुरक्षा, वैयक्तिक गरिमा और सम्मान, अभिव्यक्ति तथा व्यवसायिक चुनाव की स्वतंत्रता की गारंटी देता है। इसी संविधान में अस्पृश्यता व छुआछूत रुपी सवाल के उन्मूलन के साथ–साथ इसे दण्डनीय अपराध भी घोषित किया गया है, चाहे किसी भी प्रकृति व स्वरुप में इसका प्रचलन हो वह अपराध की ही श्रेणी में आता है। फिर भी हमारे भारतीय समाज में दलितों के साथ हिंसात्मक व अस्पृश्यता मूलक शोषण व उत्पीड़न विद्यमान है। चिंता का विषय तो यह है कि वर्तमान में भारत को आजाद हुए सत्तर वर्ष बीत गए लेकिन अभी भी यह छुआछूत रुपी जाति–भेद पूरे देश में अपनी बढ़त बनाए हुए है।

छब्बीस अप्रैल, 2017 को मध्यप्रदेश के मानागाँव में हुई घटना उल्लेखनीय है। इस गाँव में दलितों की बस्ती में जब दलित बेटी की शादी में दलितों द्वारा बैंड–बाजा आदि बजा कर आनन्द व उल्लास मनाया जाता है तब तथाकथित सवर्णों को यह बात हजम नहीं होती, नतीजतन उन्होंने दलितों के विरुद्ध एक काण्ड रचा, उनके कुएँ में केरोसिन डाल दिया ताकि वे पीने के पानी के अधिकार से भी वंचित रह जाए और सवर्णों के सामने रिरियाए। इसी प्रकार पाँच मई, 2017 को उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के शब्बीरपुर नामक गाँव में महाराजा प्रताप जयंती के अवसर पर डीजे बजाने को लेकर राजपूत और दलित समाज में संघर्ष हुआ। इस घटना की वजह से कई दलित परिवारों को कथित सवर्णों की बर्बर हिंसा का सामना करना पड़ा।

अभी हाल ही में अट्ठाईस मई, 2017 के राष्ट्रीय अमर उजाला नामक समाचार–पत्र में डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपने एक लेख **'गाँव अब भी यातनागृह क्यों है ?'** के माध्यम से समाज के समक्ष प्रश्न खड़ा करते हैं कि क्यों गाँवों में अभी भी दलितों का शोषण किया जाता है ? ऐसे प्रश्न लेखक अपने लेखन के माध्यम से बराबर उठाते रहे हैं क्योंकि वे दलित समाज के प्रति जागरूक होने के साथ–साथ दलितों को उनके अधिकारों को दिलाने के लिए प्रयत्नशील भी हैं। उनका विचार है कि यह मात्र अकेली ऐसी घटना नहीं है बल्कि हर दिन समाचार–पत्र पत्रिकाओं में दलितों के साथ होने वाली ऐसी पता नहीं कितनी घटनाएं छपती हैं, जिनका अंत पता नहीं कब होगा।

ऐसी घटनाएं सिर्फ गाँवों में ही नहीं, बल्कि शहरों के शिक्षण संस्थानों, सरकारी कार्यालयों, छात्रावासों तथा समाज के प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान हैं।

सच तो यह है कि यदि भारतीय समाज में ऐसी घटनाएं व्याप्त हैं तो यह भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था का घोर अपमान है और आज तक इस समस्या व प्रश्न को सुलझाने में सरकार भी नाकाम रही है जबकि दलितों ने यह अपेक्षा की थी कि आजादी के बाद समतामूलक समाज का विकास होगा, जहाँ पर मनुष्य–मनुष्य के बीच फर्क नहीं होगा, ऊँच–नीच का भेदभाव मिट जाएगा। ऐसी आशा दलितों के मन में थी, लेकिन उनके स्वप्न भंग हो गए। दलितों के लिए यह भारतीय सामाजिक व्यवस्था की बेड़ियां ही साबित हुई।

इसका सबसे बड़ा कारण भारतीय समाज में जाति–भेद का ऐसा घोल विद्यमान है, जिसे कथित सवर्ण समुदाय छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं, बल्कि हर कीमत पर अपनी जातीय श्रेष्ठता को बनाए रखना चाहते हैं। अतः कह सकते हैं कि विश्व में भारत नामक देश जाति–भेद, छुआछूत व अस्पृश्यता के कारण विकास नहीं कर पा रहा है। जबकि कुछ शहरी भारतीय समझते हैं कि जातिवाद व छुआछूत अब अतीत की बातें हैं, अब सब ठीक हो गया है, जबकि ऐसा बिल्कुल भी नहीं है, समस्या कम होने के बजाय गंभीर रूप लेती जा रही है। आखिर सवाल यही उठता है कि क्या सरकार भी इन घटनाओं के समाधान के लिए कोई उचित कदम उठायेगी, आखिर कब हमारे देश में स्वतंत्रता, समानता व बंधुत्व का वातावरण बनेगा ?

सदियों से दलितों को शोषण, उत्पीड़न और अवमानना के चक्र में पिसने को मजबूर किया गया जो आज भी जारी है फिर शोषण व उत्पीड़न के इस तंत्र से मुक्ति पाने के लिए दलितों द्वारा समय–समय पर अपना प्रतिरोध भी दर्ज किया गया लेकिन इस संघर्ष को भारतीय समाज की व्यवस्था के लौह कदमों द्वारा रौंद दिया गया।

जैसे – 'एकलव्य के अंगूठे का काटा जाना', 'शंबूक का वध' आदि इसी के उदाहरण हैं। आदिकालीन साहित्य में गौतम बुद्ध, नाथों व सिद्धों द्वारा, भक्तिकालीन साहित्य में संत कवियों – कबीर, रैदास, संत दादू, घासीराम आदि की वाणियों में शोषण

के इस तंत्र के विरुद्ध संघर्ष के जो बीज बोए गए, उनका अंकुरण हुआ आधुनिक युग में डॉ. बी. आर. अम्बेडकर द्वारा चलाए गए दलित–मुक्ति आन्दोलन में।

परिणामस्वरूप दलितों में चेतना जागी, शोषण व अवमानना के दूर–दूर तक फैले इस तंत्र को उखाड़ कर, स्वयं के लिए इस भारतीय सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था में सुरक्षित, सम्मानजनक व बराबरी का स्थान तलाशने को उद्यत हुई। इन्हीं सब समस्याओं व प्रश्नों से रूबरू होते हुए गत कुछ वर्षों में हिन्दी दलित साहित्य में भी हलचल दिखाई दी। उसमें कई नाम उभरे हैं, जो अपने लेखन के माध्यम से दलित समाज के प्रति जागरूक होने के साथ–साथ दलितों में चेतना जागृत करते हैं। उनमें से एक नाम डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का है। हिन्दी दलित साहित्य के क्षेत्र में डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का नाम कोई अपरिचित नाम नहीं है। वे अपनी रचना व आलोचना दोनों के माध्यम से दलितों के दुःख–दर्द व अन्य प्रश्नों को समाज के समक्ष उठाते रहे हैं और उनका चित्रण भी बड़े मार्मिक ढंग से करते रहे हैं।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के लेखन की शुरुआत तुकबंदी से होते–होते कविता में परिवर्तित हुई। कहानियों और नाटकों के लिए शुरू में अवसर कम थे, कवि के रूप में ही उन्हें ज्यादा कुछ कहने के अवसर मिले। उनके गाँव के कुछ शिक्षकों ने उनकी काव्य–प्रतिभा को पहचाना था, जिनमें मास्टर कुंवर बहादुर यादव, रघुनाथ शास्त्री थे। **'फूलन की बारहमासी'**, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की प्रथम प्रकाशित लोकगीत रचना है। जिसमें लेखक ने अति पिछड़े समाज की फूलन देवी के साथ हुए शोषण का चित्रण बारह महीनों के आधार पर किया है। प्रस्तुत लोकगीत में फूलन देवी जाति–भेद, सामंतवादी, पितृसत्तात्मक व्यवस्था का शिकार होती है फिर अपने विरुद्ध हुए उत्पीड़न व शोषण के प्रति संघर्ष व विरोध भी दर्ज करती है तथा स्त्री–संघर्ष की मिसाल बनती है। **'क्रौंच हूँ मैं'**, **'नई फसल कुछ अन्य कविताएँ'** तथा **'चमार की चाय'** डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के अन्य कविता–संग्रह हैं तथा इसके अतिरिक्त उनकी स्फुट कविताएं भी समाचार पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। उनकी शुरुआती कविताओं में मेहनतकश किसानों, मजदूरों, स्त्रियों व वंचित समाज की विपन्नता दिखलाई पड़ती है। जैसा कि हम जानते हैं कि जाति का सवाल उनकी कविताओं के केन्द्र में उभर कर आया है, इसलिए उन्होंने अपनी कविताओं में वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्राह्मणवाद, पूँजीवाद व सामंतवादी

मूल्यों के तहत होने वाले जाति–जुल्मों के प्रति भी विद्रोह व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त लेखक ने प्रज्ञा, शील, करुणा, स्वतंत्रता, समता, बंधुता व शिक्षा के प्रति निष्ठा को भी अपनी कविताओं में दर्शाया है।

अतः उनकी कविताएं वर्तमान में अंधेरों से संघर्ष कर रहे लोगों के लिए प्रेरणा–स्रोत तो हैं ही, उनमें आशा का संकेत भी करती हैं कि यदि व्यक्ति मेहनत, ईमानदारी से काम ले तो निश्चय ही एक दिन उसे वांछित सफलता प्राप्त होगी। यह डॉ. 'बेचैन' के जीवन का सच भी है, इस तरह उन्होंने शताधिक कविताएं लिखकर दलित साहित्य के आंदोलन में नई ऊर्जा भरी और सही रचनात्मक दिशा प्रदान की।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' एक कवि के साथ–साथ कथाकार के रूप में भी जाने जाते हैं। उनका कहानी–संग्रह **'भरोसे की बहन'** वाणी प्रकाशन नई दिल्ली से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त उनकी कहानियां भिन्न–भिन्न पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। उनकी कहानियों में अभिव्यक्त दलित चेतना में 'दलित चेतना क्या है' पर विचार करते हुए श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानियों के विषय व समस्याओं पर विचार किया गया है जिसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व धार्मिक उत्पीड़न, शैक्षणिक संस्थानों में छुआछूत–जातिगत भेदभाव, शिक्षा के निजीकरण व व्यवसायीकरण से दलितों को दुर्लभ हुई गुणकारी शिक्षा की समस्या, अंतर्जातीय प्रेम विवाह का मकड़जाल, और सत्ता व राजनीति में ब्राह्मणवाद की कूटनीति और दलित चेतना नामक उपविषयों का विश्लेषण किया है।

इस प्रकार उनकी अधिकांश कहानियां सम–सामयिक समस्याओं, मुद्दों और सामाजिक सरोकारों से संबद्ध हैं। सामाजिक लोकतंत्र की भावना और अवसरों की समानता की कामना बेचैन की सृजनशीलता में निहित रही है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षणिक व स्त्री संदर्भों की जड़ता, वृद्धों व बच्चों की समस्याओं पर भी बेचैन जी की कहानियां चौतरफा प्रहार करती हैं।

कथाकार के रूप में ही डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने **'मेरा बचपन मेरे कंधों पर'** नामक अपनी आत्मकथा लिखी। जिसमें लेखक ने अपने बचपन से लेकर दसवीं पास करने तक की कथा कही है। प्रस्तुत अध्याय में दलित आत्मकथाओं की विशेषता और

आवश्यकता पर विचार करते हुए बालक श्यौराज की शिक्षा, परवरिश, परिवार व शिक्षक के प्रति क्या दृष्टि रही है, छुआछूत की भावना और आर्थिक विपन्नता के कारण शिक्षा, सम्मान, स्वाभिमान व भूख की राह में उन्हें किन–किन मुश्किलों का सामना करना पड़ा, रोटी व शिक्षा के लिए उन्होंने बचपन में स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाने वाले कौन–कौन से बालश्रम किए, इसका मूल्यांकन किया है। इसके साथ–साथ आत्मकथा में अभिव्यक्त ब्राह्मणवादी व सामंती मूल्यों के शिकंजे में स्त्रियों का संघर्ष भी विश्लेषित किया है।

इस प्रकार उनकी आत्मकथा विषम परिस्थितियों में सवर्ण समाज के वर्चस्ववादी, रवैए और अमानवीय परिस्थितियों के बीच अपनी जिजीविषा और महत्त्वाकांक्षा के साथ विभिन्न संघर्षों से अपने वजूद को बनाने की कथा होने के साथ–साथ उनके जीवन के कटु अनुभवों पर आधारित भी है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' बातचीत के दौरान बताते हैं कि उन्होंने एक या दो उपन्यास भी लिखे हैं पर अभी उन्हें छपवाया नहीं हैं। इसलिए उनके लेखन में उपन्यास नहीं दिखाई पड़ते। अगर वे इस विधा पर भी काम करते हैं तो उनका सभी विधाओं पर कार्य पूरा हो जाएगा। बेचैन जी की कविता, कहानी व आत्मकथा आदि के साथ–साथ जारी रही सृजन यात्रा में पत्रकारिता पर महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। लेखक ने पीएच. डी. के लिए दलित पत्रकारिता और डी. लिट् के लिए गैर–दलितों के दलित विषयक कथा साहित्य पर शोध किए। उनकी शोध–पुस्तक **'हिन्दी की दलित पत्रकरिता पर पत्रकार अम्बेडकर का प्रभाव'** गंभीरता से मीडिया में वर्चस्व वर्ग की राजनीति और राजनीति में वर्चस्व के सत्ता संघर्ष का विश्लेषण करती है। इस विषय पर संभवतः यह पहली पुस्तक है। जिसमें इतने विस्तार से और तथ्यों के साथ भारतीय नवजागरण एवं स्वाधीनता आंदोलन के साथ–साथ आजाद भारत में दलितों की स्थिति उनके प्रति परंपरागत हिन्दी पत्रकारिता के रवैये तथा दलित पत्रकारिता की सार्थक भूमिका की गहन पड़ताल की गई है। यह पुस्तक एक ऐसा संदर्भ ग्रंथ है, जिसमें आजादी के पहले और बाद के पचास वर्षों के भारतीय समाज में दलित विमर्श पर समग्रता में प्रकाश डाला गया है। अतः वे हिन्दी में दलित पत्रकारिता के पहले पीएच.डी. हैं। आज उनका नाम लिम्का बुक ऑफ रिकार्ड (1999) में भी दर्ज है। उन्होंने बाबा साहब अम्बेडकर के मराठी पत्रों का अनुवाद पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया। जिनमें **'दलित क्रान्ति का**

साहित्य', **'बहिष्कृत भारत', 'मूकनायक'**, **'मूल खोजो विवाद मिटेगा'**, **'अन्याय कोई परंपरा नहीं'**, **'दलित दखल'**, **'चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य'** और **'सामाजिक न्याय और दलित साहित्य'** आदि उनके संपादित व अनुवादित ग्रंथ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

पत्रकारिता लेखन पर उनकी कई पुस्तकें आई हैं– **'समकालीन हिन्दी पत्रकारिता में दलित उवाच'**, **'मीडिया : उत्तर आधुनिक अस्पृश्यता के दौर में'**, **'मीडिया में दलित'** आदि पुस्तकें, जो दलित मुद्दों को मीडिया में लाने के प्रस्ताव को लेकर लिखी गई है। उनके **'स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका'**, **'गाँधी–अम्बेडकर हरिजन–जनता'**, **'उत्तर सदी के हिंदी कथा–साहित्य में दलित–विमर्श'**, **'उपन्यास साहित्य में दलित समस्या एवं समाधान'** आदि ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं।

इतना ही नहीं डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के लेखन में उनका संपादकीय कार्य भी शामिल रहा है। उन्होंने हिन्दी जगत की कई पत्रिकाओं का संपादन कार्य संभाला। वर्तमान में **'बहुरि नहिं आवना'** नामक पत्रिका के प्रधान संपादक भी हैं। इस पत्रिका की शुरुआत वर्ष 2011 में हुई। इस पत्रिका के लेखक ने दो या तीन संपादकीय लिखे हैं। **'समय सरोकार'** नामक हिन्दी मासिक पत्रिका के दो विशेषांक भी उन्हीं के संपादन में निकले हैं। **'दलित प्रक्रिया'** नामक मासिक पत्रिका का वर्ष 1995–1998 तक कार्यकारी संपादक के रूप में कार्य–भार संभाला। **'वायस ऑफ द वीक'** हिन्दी संस्करण का भी अक्टूबर 1990 से अप्रैल 1995 तक कार्य–भार संभाला। इसके अतिरिक्त **'हंस'** नामक कथा मासिक पत्रिका का पहला दलित विशेषांक अगस्त 2004 निकाला, जिसके अतिथि संपादक की भूमिका डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने निभाई। उन्होंने अपने **'अघोषित पाबंदियों के बीच सत्ता विमर्श और दलित'** नामक अतिथि संपादकीय में दलितों के प्रति हुई राजनैतिक उपेक्षा की ओर ध्यान खींचा और साहित्य समाज केंद्रित मूलभूत मुद्दों को रेखांकित किया। अतिथि संपादक की दृष्टि से इस अंक की बड़ी उपलब्धि यह थी कि 'हंस' में पहली बार स्वामी अछूतानन्द की कविताएं प्रकाशित हुई। इससे स्पष्ट हुआ कि संपादक की दृष्टि सकारात्मक हो तो दलित साहित्य के क्षेत्र में साहित्यिक प्रतिभाओं की कमी नहीं है।

आगे चलकर वे अखबारों के लिए संपादकों के नाम पत्र भी लिखने लगे। वह समय 1977–1987 का दशक था। उसी समय से वे दैनिक अमर उजाला के लिए चन्दौसी से रिपोर्टिंग करने लगे, रविवारीय परिशिष्ट के लिए लिखने लगे। साथ ही वे 30 वर्षों से अखबारों में लिखते रहे हैं, जिनमें अमर उजाला, राष्ट्रीय सहारा, दैनिक जागरण, दैनिक हिन्दुस्तान, जनसत्ता, दैनिक भास्कर, समकालीन नजरिया आदि समाचार–पत्र प्रमुख हैं। महीना या पंद्रह दिनों में तो उनका एक लेख उपर्युक्त अखबारों में छपता ही है जो लाखों पाठकों तक जाता है। इसके अतिरिक्त हिन्दी की हंस, वाक्, युद्धरत आम आदमी, कथादेश, सम्यक भारत, अंबेडकर इन इंडिया, हम दलित आदि पत्रिकाओं में भी बराबर लिखते रहे हैं। उनके लेख मुख्यतः दलित प्रश्न, दलित मुक्ति व साधारण जनों में किसानों, मजदूरों, स्त्रियों आदि की समस्याओं पर केंद्रित होने के साथ–साथ उन्हें प्रेरित व जागरूक भी करते हैं।

इस प्रकार मैंने अपना शोध–प्रबंध का अध्ययन विधावार व्यवस्थित करने का प्रयास किया है। मेरा यह शोध–प्रबंध छह अध्यायों में विभाजित हुआ है–

प्रथम अध्याय में मैंने दलित प्रश्नों पर विचार करते हुए दलित साहित्य लेखन की परंपरा और पृष्ठभूमि का अध्ययन किया है। यद्यपि दलित साहित्य की पृष्ठभूमि तो पहले से विद्यमान थी, लेकिन 'दलित' शब्द और 'दलित साहित्य' शब्द बाद में सामने आए तथा इनका अर्थ व स्वरुप क्या है, फुलेवादी और अम्बेडकरवादी वैचारिकी पर विचार करने के साथ–साथ हिन्दी क्षेत्र के दलित लेखन के मौलिक योगदान को ध्यान में रखते हुए इस अध्याय में मैंने दलित व गैर–दलित आलोचकों की आलोचना से हुए विवाद पर भी पूरी संजीदगी से चर्चा की है। यद्यपि साहित्य के क्षेत्र में 'दलित प्रश्न' बहुत ज्यादा नवीन मुद्दा नहीं है बल्कि यह तो साहित्य में खासकर हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक दिनों से ही विभिन्न महानायकों, विचारकों तथा कवियों द्वारा उठाया जाता रहा है।

दूसरे अध्याय में मैंने डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का लेखन : रचना व आलोचना की निर्मिति में उनके मेहनतकश और उत्पीड़ित–उपेक्षित दलित जीवन के भोगे हुए अनुभवों को दर्शाया है। इसके साथ ही उनके लेखन में दलित अस्मिताओं के महानायकों

के व्यक्तित्व–कृतित्व, विचार और आंदोलन की क्या भूमिका रही है, इस प्रश्न पर भी विचार किया है।

तीसरे अध्याय में मैंने डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के पद्य की ओर दृष्टि दौड़ाई है, उनकी कविताओं में समाहित व्यापक मानवीय संवेदना और सरोकारों पर विचार किया है। चौथे अध्याय में डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की बहुचर्चित व बहुपठित आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में अभिव्यक्त बाल शोषण और दलित जीवन की दास्ताँ में निहित मर्मस्पर्शी प्रसंगों का विश्लेषण किया है। पाँचवे अध्याय में मैंने डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानियों में अभिव्यक्त दलित चेतना में 'दलित चेतना क्या है' पर विचार करते हुए श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानियों के विषय व समस्याओं पर विचार किया है।

छठे अध्याय में मैंने दलित प्रश्न और डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का आलोचना कर्म में निम्नलिखित बिंदुओं को विश्लेषित किया है – छुआछूत तथा जातिगत भेदभावों से फैलती विषमता और मानवीय मूल्यों का ह्रास, शिक्षण संस्थानों तथा प्रशासनिक सेवाओं में आरक्षण व दलितों की पदोन्नति, साहित्य, पत्रकारिता, मीडिया और राजनीति में दलितों की हिस्सेदारी के प्रश्न पर चर्चा की है। पितृसत्ता तथा सामंती व्यवस्था में दलित, गैर–दलित स्त्रियों के अधिकारों पर विचार करने के साथ–साथ भूमंडलीकरण, निजीकरण, उदारीकरण के दौर में दलित अस्तित्व के प्रश्न का विश्लेषण किया गया है।

अंतिम अध्याय सात परिशिष्ट के रूप में है, जिसमें रचनाकार डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का मेरे द्वारा लिया गया साक्षात्कार शामिल है। इस साक्षात्कार के दौरान लेखक के जीवन और साहित्य से जुड़ी कई नई–नई बातों की जानकारी मिली जो कहीं उपलब्ध नहीं थी।

इस शोध–प्रबंध के अंत में उपसंहार है, जिसमें सभी अध्यायों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। संपूर्ण शोध पर अध्ययन व विश्लेषण करते हुए मैं कह सकती हूँ कि डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के लेखन का उद्देश्य लेखन के लिए ही नहीं है, न ही बौद्धिक विनोद है, स्वांतः सुखाय भी नहीं है बल्कि वह राष्ट्रीय मानव जीवन को मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रेरित–प्रोत्साहित कर उसे एक अच्छे भविष्य की ओर उन्मुख करने के लिए है। अतः उन्होंने अपनी रचना, आलोचनाओं व संपादकीय को दलितों, स्त्रियों, बूढों

व बच्चों की समस्याओं पर केंद्रित किया है। उनकी सभी रचनाएं व आलोचनाएं दलितोत्थान व दलित आंदोलन का खाका खींचने के साथ–साथ ब्राह्मणवाद, सामंतवाद व पूँजीवाद पर कड़ा प्रहार करती हैं तथा दलितों से जुड़े जातिगत भेदभाव, धार्मिक पाखण्ड, सत्ता व राजनीति में व्याप्त ब्राह्मणवाद, स्त्रियों के अधिकारों, शिक्षा, रोजगार में आरक्षण व हिस्सेदारी के सवालों को बखूबी उठाती हैं। भारतीय समाज की वर्तमान की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक व्यवस्था की पोल खोलते हुए, उन पर व्यंग्य कसते हुए समाज को इन सभी समस्याओं से अवगत कराती हैं।

इस प्रकार दलित साहित्य में डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का जो यह योगदान है, वह अतुलनीय है। वह इस दृष्टि से भी कि बेचैन का बचपन देखकर कह सकते हैं कि समाज ने उन्हें कितना कम दिया है। उनके बचपन से लेकर अब तक के इन कठोर मेहनतकश और उत्पीड़ित–उपेक्षित दलित जीवन के भोगे हुए अनुभवों ने ही उन्हें लेखन के लिए प्रेरित किया। बड़े–बड़े कष्टों को सह कर लेखक को जो वर्तमान में इस मुकाम की कामयाबी प्राप्त हुई है, वह काबिले तारीफ है। यह उनके तीन दशकों की सतत् सेवा का प्रतिफल है। मान्यवर कांशीराम की सलाह कि 'हर दलित को पे बैक टू दी सोसाइटी का ध्यान रखना चाहिए' के अनुसार ही वे वर्तमान में भी लेखन कार्य कर रहे हैं।

अतः कह सकते हैं कि उनका संपूर्ण लेखन आज शोधकर्ताओं के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। उनकी साहित्यिक यात्रा निरंतर नदी के वेग के समान आगे बढ़ती हुई न केवल दलित साहित्य में बल्कि हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भी नए–नए आयाम स्थापित कर रही है। उनके साहित्य ने समाज में वैचारिक क्रांति ला दी है। चूँकि उनके लेखन में काल्पनिक जगत कम यथार्थ की दुनिया के विविध रूप दिखलाई पड़ते हैं। इसलिए उनका संपूर्ण लेखन विविधता लेने के बावजूद मूलतः वे एक ही मुद्दे पर केंद्रित दिखलाई पड़ते हैं कि दलित समाज को पूर्णतः दलन, शोषण, उत्पीड़न, अस्पृश्यता आदि से मुक्ति अर्थात् मुक्ति का सवाल ही उनके लेखन का केंद्र बिंदु है तथा मुक्ति दलितों में चेतना जगाकर व एकजुट होकर ही मिल सकती है।

परिशिष्ट – साक्षात्कार

परिशिष्ट – प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' का साक्षात्कार

कविता यादव : दलित साहित्य–लेखन से आपका संपर्क कब और कैसे हुआ खासकर गेयता से ?

श्यौराज सिंह 'बेचैन' : सचेतन रूप से साहित्य को समझना और फिर स्वयं साहित्य सृजन करना इसकी कोई निश्चित तिथि तो मैं स्मृतियों की ओर मुढ़ कर के तय नहीं कर सकता, परंतु जिस घर में मेरा जन्म हुआ था, वहाँ मेरे बब्बा (पिता के चाचा), ताया (पिता के बड़े भाई) और मेरी माँ गाते बहुत थे। हालांकि इनके गीत कोई उच्च कोटि का साहित्य नहीं थे। जैसे – लोकगीत, परंपरागत गीत, विवाहों के गीत, बेटी की विदा के गीत, देवी–देवताओं के आह्वान के गीत, मजबूरी में रोजी–रोटी की तलाश में घर छोड़ कर चले जाने वाले पति या पुत्र को बुलाने वाली पुकार आदि के गीत हुआ करते थे। जबकि आजाद देश की सरकारों ने मेरे इन लोक कवियों को पूरी तरह विद्याविहीन ही रखा था।

मुझे वे गीत बहुत अच्छे लगते थे और प्रभावित भी करते थे। दुखद यह हुआ कि मेरे होश संभालते ही जब मेरी उम्र पाँच वर्ष की हुई तब मेरे पिताजी श्री राधेश्याम की असमय मृत्यु हो गई, मेरे बचपन का रास्ता दुखों की ओर मुड़ गया, जिस बच्चे के परिवार–जन उसे हाथों पर उछाल–उछाल कर खिलाते–हंसाते रहे हों, अचानक वक्त ने उसे जमीन पर पटक दिया। तभी से दुख के गीत मेरे बचपन के साथी बन गए। सौतेले पिता के यहाँ मिला अक्षर ज्ञान मेरे अभ्यास व अभिरूचि से बढ़ने लगा, मेरी उम्र के साथ–साथ। गाँव में जब रात–रात भर देवी–देवताओं के आह्वान के गीत ताऊ गाते थे, तब मैं उनकी बगल में बैठा उन्हें दोहराता–तेहराता था। धीरे–धीरे मैं भी गाने लगा और जाने कब अपनी खुद की तुकबंदी जोड़ने लगा। हालांकि तब न तो कोई गीत संकलित करने की समझ थी, न यह कि यह मेरी रचना है, इसे मुझे संभाल कर भी रखना है इत्यादि।

कविता : क्या इसे आपकी देशकाल परिस्थिति की देन कहें ?

श्यौराज सिंह : चाहे तो कह सकती हैं। देशकाल परिस्थिति की भूमिका को मैं नकार नहीं सकता। यह साहित्य की मनोभूमि में बीज वपन का काल रहा होगा। साहित्य कहलाने लायक भी उस समय की तुकबंदी या अभिव्यक्ति थी भी या नहीं कह नहीं सकता, मानक की बात तो बिल्कुल नहीं। परंतु यदि वह माहौल, वह हालात उस पृष्ठभूमि में नहीं होते तो शायद मैं साहित्यकार न बन पाता। परंतु यह कहना कठिन हो गया था कि कब मैं साहित्यकार हो गया था। मेरे लेखन की शुरुआत तुकबंदी से हुई थी, कविता करते–करते मैं किस्से–कहानियां लिखने लगा था। पागलपन की हद तक पढ़ने के शौक ने सीखने में मदद की। भाषाई कमजोरी धीरे–धीरे कम हुई। कहानियों और नाटकों के लिए शुरू में अवसर कम थे, कवि के रूप में ही मुझे कुछ कहने के अवसर मिले। मेरे गाँव के कुछ शिक्षकों ने मेरी काव्य–प्रतिभा को पहचाना था, जिनमें प्रेमपाल सिंह यादव के अलावा मास्टर कुंवर बहादुर यादव, रघुनाथ शास्त्री (स्वतंत्रता सेनानी) आदि प्रमुख थे। आगे चलकर मैं अखबारों के लिए संपादक के नाम पत्र भी लिखने लगा। कविताएं पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ भेजने लगा। यह समय 1977–87 का दशक था। उसी समय मैं दैनिक अमर उजाला के लिए चन्दौसी से रिपोर्टिंग करने लगा, वीरेन डंगवाल जी के संपादन वाले रविवारीय परिशिष्ट के लिए लिखने लगा। यहाँ यह भी याद रखना होगा कि डॉ. वीरेन डंगवाल जी से मेरी पहली मुलाकात राकेश 'रफीक' (बिलारी) ने कराई थी। मैं दलितों के संगठन बनाने लगा, कभी 'शोषित समाज संघर्ष समिति', कभी 'अम्बेडकर युवक संघ'। इसके अतिरिक्त चन्दौसी में मैं कामरेड दूल्हा खां, का. भगवान दास शर्मा, मदन दीक्षित और अरविन्द सक्सैना के संपर्क में आया। वामपंथी आंदोलन से जुड़ा, मैं ए. आई.एस. एफ. का तीन साल तक जिला कमेटी का अध्यक्ष भी रहा। 1981 में मैं एक माह के लिए स्कूल के लिए 'अजय भवन' दिल्ली में आया था उन दिनों क्लास शुरू होने से पहले हर दिन एक नई कविता लिख कर सुनाता था। मैं मार्क्स और अम्बेडकर दोनों को साथ–साथ पढ़ रहा था, समझ रहा था, जो बात कविता में नहीं कह पा रहा था, उसे कहानी में कहने लगा था। मेरी नजर में जो लोग अछूत–मुक्ति के लिए कुछ नहीं करता वह अम्बेडकरवादी नहीं हो सकता। 1982 या 1983 में मैंने **'फूलन की बारहमासी'** लिखी थी, यह लघु–पुस्तिका थी। एक बार मैं राजघाट से रेल के ऊपर चढ़ कर यात्रा कर रहा था तब मैंने देखा कि वहाँ एक

समूह लोकगीत गा रहा है, मैं उनके पास गया तो देखा कि वे मेरी उस छोटी–सी कितबिया से बारहमासी गा रहे थे।

मैं नहीं कह सकता कि छात्र जीवन में मैं दलित सैद्धांतिक और वैचारिकता से लैश हो गया था या मैं मार्क्स को भी बहुत नहीं पढ़ पाया था। बस इतना कह सकता हूँ कि मेरी रोजी–रोटी के हालात विपरीत थे। सो मैं कार्य करते हुए पढ़ता था, परंतु मेरा रुझान वामपंथ और दलित आंदोलन के प्रति बढ़ता गया था। यही कारण था कि हर चौदह अप्रैल को दैनिक अखबार में बाबा साहब पर मेरा एक लेख छपा करता था और अभी भी छपता है। पिछले दो सालों 2016 और 2017 में दैनिक हिन्दुस्तान ने बाबा साहब अम्बेडकर के ऊपर मेरे लेख छापे हैं। आपने देखे ही होंगे।

कविता : जी सर, बिलकुल देखे हैं। क्या आप अपनी साहित्यकार बनने की ट्रेनिंग हमें बताएंगे अथवा बताएंगे कि आप कितने दिनों में साहित्यकार बन गए थे ?

श्यौराज सिंह : साहित्यकार बनना एक निरंतर प्रक्रिया है, मैं नहीं कह सकता हूँ कि किस खास तारीख को मैं साहित्यकार बना। रचना छपने से प्रसन्नता होना स्वाभाविक है, परंतु बुनियादी तौर पर मैं लेखक के रूप में एक असंतुष्ट व्यक्ति हूँ। आज भी अपनी कविता, कहानी, निबंधों हर रचना से असंतुष्ट रहता हूँ, कि यह पूर्ण नहीं है, कुछ कमी है, मुझे अभी कुछ नहीं आता, मुझे अभी बहुत कुछ सीखना है, यही बात मेरे मन में बनी रहती है और शायद यही मुझे क्रियाशील भी बनाए रखती है।

मैं अखबारों से बहुत कुछ प्राप्त करता हूँ, आप जानती होंगी कि मैं पिछले 27 सालों से प्रतिदिन कम से कम पाँच–छः अखबार पढ़ता हूँ, चार अखबार तो अपने घर पर ही मंगावाता हूँ, जिनमें दो हिन्दी के और दो अंग्रेजी के होते हैं। हालांकि अखबारों में व टी.वी. चैनलों पर दलितों के लिए स्थान उतना ही होता है जितने में उनकी हत्याएं, बलात्कार, घरों में आग लगाना, उनकी जमीनों पर कब्जा करना, उनकी महिलाओं की अस्मत पर हमला करना इत्यादि के लिए ही होता है। उनकी शिक्षा, सम्मान, बराबरी के बारे में कोई जगह नहीं है।

कविता : आप किसी काल खण्ड को विशेष मानेंगे दलित साहित्य चेतना के उभार और विस्तार के लिए ?

श्यौराज सिंह : कविता जी, बिल्कुल मैं काल खण्ड को जरुर रेखांकित करना चाहूंगा। यह था सन् 1990 का कालखण्ड, इस में बाबा साहब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की जन्म–शती आने से मेरे लिखने–सोचने की गति भी बढ़ गई थी। मैं दलित साहित्य में योगदान करने को बेचैन हो उठा था। 14 अप्रैल, 1990 को दैनिक अमर उजाला के सभी संस्करणों में संपादकीय पृष्ठ पर मेरा बड़ा सा लेख छपा था। उसमें बाबा साहब अम्बेडकर की बहुत ही प्रभावशाली तस्वीर छपी, लाखों पाठकों ने वह पढ़ा। फिर भी गद्य लिखकर मेरा मन शांत नहीं हुआ। द्वंद्व यह चलता रहा कि तमाम राजनैतिक पार्टियाँ बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर का गुणगान तो कर रही हैं परंतु दलितों के अधिकारों की बात नहीं कर रही हैं, दलितों का उत्पीड़न घटने के बजाय बढ़ता जा रहा है। स्वराज प्राप्त सवर्ण हिन्दू दलितों का उत्पीड़न अंग्रेजों के उत्पीड़न से भी ज्यादा कर रहे हैं।

उसी दिन मैंने एक लंबी कविता लिखी, शीर्षक था **'दलितों पै सितम बाबा पै करम'**। यह कविता मैंने उसी दिन लिख कर दैनिक नवभारत टाइम्स दिल्ली को पोस्ट कर दी। सप्ताह भर बाद 22 अप्रैल 1990 के रविवारीय परिशिष्ट में पूरे सम्मानित स्थान के साथ वह कविता प्रकाशित हुई। उन दिनों जार्ज फर्नांडीज ग्रीन पार्क एरिया से एक 'प्रतिपक्ष' नामक पत्रिका निकालते थे, इस पत्रिका के संपादक थे – डॉ. मस्तराम कपूर और डॉ. शंभूनाथ सिंह कार्यकारी संपादक थे। उस पत्रिका ने भी उसी वर्ष 1990 में अम्बेडकर विशेषांक निकाला था। बल्कि डॉ. सिंह के कहने पर मैंने उस अंक के लिए कौशल्या बैसंत्री से एक लेख महाराष्ट्र के दलित महिला आंदोलन पर लिख कर दिया था। इसके अलावा मैंने बाबा साहब और दलितों को ध्यान में रख कर वहाँ भी एक लंबी कविता लिखी थी। तब तक राजेन्द्र यादव से मेरा परिचय हो गया था। मैं हंस में जाने लगा था। राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर भी मेरे घर आने लगे थे। मैंने यादव जी से आग्रह किया था कि आप भी हंस का एक अम्बेडकर विशेषांक निकालें। तब उन्होंने कहा था अम्बेडकर पर तो नहीं लेकिन हम कभी दलित साहित्य विशेषांक निकालना चाहेंगे। उसके चौदह साल बाद सन् 2004 में उन्होंने दलित विशेषांक निकाला और अतिथि संपादक का दायित्व मुझे सौंपा था।

इस तरह मेरा रुझान इस ओर बढ़ गया था। मैं दलित साहित्य में पत्रकारिता के माध्यम से आया था। हिन्दी की मुख्यधारा पत्रकारिता में भी मैं दलित मुद्दों पर ही लिख

रहा था और विशेष रूप से अपने कार्य को केंद्रित करने की दृष्टि से मैंने **'हिन्दी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अम्बेडकर का प्रभाव'** शीर्षक से अपना शोध–प्रबंध लिखा था। मैं हिन्दी साहित्य का विधार्थी था, हिन्दी में प्रगतिशील कवियों ने दलितों के बारे में भी काफी कुछ कविताएं, कहानियां लिखी हैं। उन्हें पढ़ते हुए मुझे लगा कि बाहरी लोगों को या तो दलितों की समस्याएं पता नहीं हैं या वे लिखना नहीं चाहते। जो लिख रहे हैं उसका सच से वास्ता नहीं है, मनगढ़ंत और पूर्वाग्रह से भरा है। अतः मुझे भी अपनी और अपने आसपास के उन लोगों की स्थितियों पर लिखना चाहिए जिनके बारे में न तो किसी ने लिखा है और न ही कोई लिखेगा।

मैं खुद तरह–तरह के लेखकों और उनके लेखन के संपर्क में गया। मैंने उर्दू के तरक्की पसंद शायर फैज अहमद 'फैज', कैफी आजमी, अली सरदार जाफरी, साहिर लुधियानवी को खूब पढ़ा और हिन्दी में निराला, प्रेमचंद, दिनकर आदि की रचनाएं पढ़ीं। इस तरह मैं लेखकों के संपर्क में जाता रहा और खुद अपनी लेखनी भी चलाता रहा। लेकिन जिस समस्या प्रधान लेखन से हमारा समभाव जुड़ा वह था अश्वेतों का रंग–भेद के खिलाफ लिखा गया साहित्य अमरीका व अफ्रीका में गोरों ने कालों की खरीद–फरोख्त की। उनको दो सौ साल गुलाम रखा, उसके विरुद्ध अमरीका व अफ्रीका में जो साहित्य लिखा गया वह भारत के दलित साहित्य के बहुत नजदीक था। उसने बहुत प्रभावित किया। मैं बाबा साहब की किताब जो रैदास, नंदनार और चोखामेला को समर्पित थी 'द अनटचेबल्स'। इस किताब में बताया गया था कि 'अछूत' की हालत गुलाम से भी ज्यादा खराब है। गुलाम को खरीद कर काम कराया जाता है, अछूत से मुफ्त बेगार ली जाती है। गुलामों का किस्सा कुल दो सौ साल का है अस्पृश्यों का अधिकार हनन चार हजार साल से जारी है। मिसेस हेरियट बीचर स्टो द्वारा लिखे गए उपन्यास 'अंकल टॉम्स केबिन' इस किताब ने मुझे बहुत प्रभावित किया। इसके अलावा आनंद स्वरुप वर्मा द्वारा अनुदित अफ्रीकी कहानियाँ पढ़ीं जिनमें 'गुगी' व 'थ्योंगो' की कहानी अंधेरा, एबिओस निकॉल की 'जिन्दगी' आदि कहानियों ने समस्या से परिचित कराया। अर्चना त्रिपाठी द्वारा अनुदित अफ्रीकी कवयित्रियों की कविताओं ने मुझे झकझोर कर रख दिया। खास कर इल्वा मैके, लिन्डिवे माबुजा, फेजेका माकोनेसे, लेरैटो कुमालो, एलिस तथा सूसन लामू की कविताओं ने।

कविता : सर, आप मुझे ये बताएं कि आपके लेखन का मूल प्रयोजन क्या है ?

श्यौराज सिंह : मेरे लेखन का मूल प्रयोजन है कि मैं अपने लेखन के द्वारा सामाजिक दासता को समाप्त करने की चेतना पैदा करूँ, जो देश के नीतिकार (योजनाकार) हैं, उनका ध्यान खींच सकूं कि इस तरह की राजनैतिक आजादी पूरी आजादी नहीं है, केवल वोट लेने–देने की स्वतंत्रता पर्याप्त नहीं है, बल्कि इस देश में अभी जो अस्पृश्यता है तो क्यों है ? जाति के कारण किसी पर जुल्म ज्यादतियां क्यों हो रही हैं ? स्वास्थ्य, शिक्षा, रोटी, कपड़ा और मकान की न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताएं पूरी नहीं हो रही हैं, तो वे कैसे स्वाधीन नागरिक हैं ? संविधान की प्रस्तावना में संकल्पित समानता लाने के संकल्प को छोड़ा क्यों गया है ? इंग्लैंड की कुल आबादी से अधिक संख्या में भारत में अनुसूचित जातियां यानी दलित रहते हैं। ये इस देश के मूल निवासी हैं। देश की संपदा के नैसर्गिक स्वामी हैं। कहीं बाहर से आए घुसपैठिये नहीं हैं। ये निर्वर्ण्य संप्रदाय के लोग हैं, इनका कोई वर्ण नहीं है। आज जब शशि थरूर जैसे लोग अंग्रेजों द्वारा दो सौ साल के शोषण की क्षतिपूर्ति मांगते हैं तो मांग जायज है, दलितों की चार हजार साल की क्षतिपूर्ति कब और कैसे होगी, जबकि सरकारें दलितों की शिक्षा, रोजगार आवास, कला, संस्कृति, मीडिया व साहित्य हर क्षेत्र में क्षति ही क्षति कर रही हैं, ये हमें समता का वायदा कर विषमता की ओर ले जा रही हैं, साहित्य (अकादमियां), कला, मीडिया, शिक्षा, स्वास्थ व आवास के क्षेत्रों से दलित बहिष्कृत रखे जा रहे हैं। समाजवाद के नारे दे रहे हैं और पूँजीवाद व ब्राह्मणवाद को बढ़ावा दे रहे हैं। संविधान की प्रस्तावना के प्रतिकूल यह जो हो रहा है इसको रोकना किसी भी दलित लेखक का उद्देश्य होना चाहिए। मेरे लेखन का तो मूल उद्देश्य यही है कि मैं उन प्रश्नों को उठाऊँ और अपनी पूरी कुब्बत से रचनात्मक विरोध करूँ।

कविता : आप वर्तमान में किस विधा पर काम कर रहे हैं या इस समय किस तरह के सृजन में रत हैं ?

श्यौराज सिंह : मैं थोड़ा–थोड़ा कई विधाओं पर काम करता हूँ, कविताएं मैं निरंतर लिखता रहा हूँ, महीने–दो–महीने में एक–आध कहानी लिख कर छोड़ देता हूँ। आत्मकथा का दूसरा भाग टंकित होकर आया तो लगा बड़ा हो रहा है, प्रथम भाग के

बड़े होने और उसकी कीमत बढ़ जाने की शिकायतें और देशी–विदेशी अन्य भाषाओं के अनुवाद में देरी होने की समस्याएं आई हैं। इसलिए उसे 300 पृष्ठों पर रोकना चाहा फिर लगा कुछ जरूरी प्रसंग छूट रहे हैं सो 400 पृष्ठों में हो गई है तीसरा भाग 200 पृष्ठों का है और मैं समझता हूँ कि वह भी पढ़ते–सोचते 400 पृष्ठों पर पहुँच ही जाएगा।

चार–पांच कविता संग्रह आ चुके हैं, दो तो इस पुस्तक मेले में आने थे, जिनमें से एक तो **'चमार की चाय'** तो जनवरी 2017 के पुस्तक मेले में ही आ गया था। दूसरा **'भोर भी अंधेरा भी'** आ चुका है। दो कहानी–संग्रह **'हाथ तो उग ही आते हैं'** और **'भरोसे की बहन'** आए हैं। एक प्रकाशित कहानियों का संकलन है, दूसरा एक दम नया है। उपन्यासों को अभी छपने से रोक रहा हूँ। एक उपन्यास धारावाहिक एक पत्रिका में छप चुका है। उसे पुस्तकाकार छपवाने की भी सोच रहा हूँ। इन अप्रकाशित उपन्यासों का शोध उपयोग बड़ौदा के प्रो. एन. एस. परमार ने एक शोध परियोजना में पहली बार किया है। इधर आत्मकथा का अंग्रेजी अनुवाद प्रो. तपन बासू तथा डॉ. दीवा जाफिर द्वारा ऑक्सफोर्ड ने तैयार कराया तो मुझे वह भी बार–बार देखना पड़ा है। हिन्दी में यह किसी भी दलित की पहली आत्मकथा है जो ऑक्सफोर्ड से इसी वर्ष अक्टूबर 2017 में छप कर आ रही है। कहानियों के अनुवाद भी देख रहा हूँ। मेरी डायरियों का एक बड़ा संकलन है, जो मैंने करीब 27 साल से लगातार लिखी हैं, उन्हें पुस्तकाकार छपने का काम चल रहा है। देश–भर के साहित्यकारों के पत्र समय–समय पर मिलते रहे हैं। उन पत्रों के प्रकाशन का काम भी इस सूची में है। मेरे साक्षात्कारों की भी लंबी सूची है उन्हें भी देखना है, छपवाना है। साथ ही मेरा पत्रकारिता में भी काम चल रहा है, करीब 30 सालों से अखबारों में निरंतर लिख रहा हूँ। महीना या पंद्रह दिनों में एक लेख तो अखबार में छपता ही है, वह लाखों पाठकों तक जाता है, इसलिए जब भी अखबार से फोन आता है तब मैं लिखने बैठ जाता हूँ। पत्रकारिता लेखन पर मेरी कई पुस्तकें आई हैं **'मीडिया : उत्तर आधुनिक अस्पृश्यता के दौर में'**, **'मीडिया में दलित'**, **'समकालीन हिन्दी पत्रकारिता में दलित उवाच'**, **'हिन्दी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अम्बेडकर का प्रभाव'** और **'अम्बेडकर गांधी और दलित पत्रकारिता'** आदि।

कविता : दलित साहित्य के योगदान में आप अपनी भूमिकाओं को किस तरह से देखते हैं ?

श्यौराज सिंह : मैं रचना और आलोचना दो मोर्चों पर काम करता रहा हूँ। आलोचनात्मक दृष्टि हमें उपलब्ध साहित्य का विश्लेषण करने का मौका देती है जिसमें हमें दलित के नाम पर दलित हितों के विरोधी लेखन के परिणामों को देखते हुए सकारात्मक साहित्य रचना करनी होती है। बहुत लोग दलित साहित्य में योगदान कर चुके हैं, परंतु शोध के अभाव में उन्हें न तो अपेक्षित सम्मान मिला और न उनका मूल्यांकन हो पाया है। इसलिए वह काम छूटा हुआ है। पत्रकारिता के क्षेत्र में मैंने ऐतिहासिक काम किया है, उसका मुझे श्रेय भी मिला, अवार्ड भी मिला और लिम्का बुक ऑफ रिकॉर्ड (1999) तक में उसका नाम दर्ज हुआ। पहला होने के कारण वह शुरूआती संदर्भ ग्रंथ भी बना। वह एक योगदान हुआ दलित पत्रकारिता एक विषय के तौर पर सामने आया। दलित साहित्य शोध के क्षेत्र में जिस दूर–दृष्टि से कार्य शुरू किया था वह फल–फूल रहा है। आप इस तथ्य से भी अवगत होंगी कि दलित पत्रकारिता पर मेरे शोध से पहले हिन्दी में कोई काम नहीं हुआ था। इसी तरह हिन्दी के दलित कवियों व कथाकारों की रचनाओं पर डॉ. रजत रानी 'मीनू' के एम.फिल. और पीएच.डी. से पहले का कोई शोध–प्रबंध किसी भी विश्वविद्यालय में नहीं मिलेगा। पर यहाँ मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि मेरा साहित्यिक या शोध योगदान केवल दलितों के लिए या दलित साहित्य तक सीमित नहीं है। यह भारतीय साहित्य में बल्कि आत्मकथा के विदेशी भाषाओं में अनुवाद के बाद विश्व साहित्य में योगदान है। कई समीक्षकों ने माना भी है।

कथा साहित्य में आत्मकथा **'मेरा बचपन मेरे कंधों पर'** आपके सामने है। दलित बच्चों के बचपन को लेकर मेरे बहाने जो चर्चा साहित्य और समाज में हो रही है, वह बाल सुधार, दलित बचपन बचाने की जरूरतों को रेखांकित कर रही है। नोबेल प्राइज भी गत वर्ष 'बचपन बचाओ' के कैलाश सत्यार्थी को मिला है तो इसमें आप मेरा थोड़ा योगदान मान सकती हैं। बाकी अपनी ओर से कुछ अधिक करना व कहना अच्छा नहीं लगता। ऐसे समय में जब मेरे कार्यों के शोध मूल्यांकन हो ही रहे हैं, तो मुझे अपने बारे में अधिक नहीं कहना, उनकी फिक्र ज्यादा है जो मुझसे पहले सामाजिक चेतना का बड़ा काम करके गए, उनके योगदान का आंकलन नहीं किया गया और इस कारण शिक्षा

और साहित्य में दलित का बहिष्कार जारी है अशरीरी बौद्धिक अस्पृश्यता ने आधुनिक और लोकतांत्रिक मूल्यों पर गहरा आघात कर रखा है।

मैं कमसकम कविता यादव को अपना योगदान अपने मुँह कैसे बखान करूँ, क्योंकि कविता ने एक शोधार्थी की दृष्टि से मेरे काम को जिम्मेदारी से देखा है। जे.एन. यू. जैसे विश्वस्तरीय विश्वविद्यालय से पीएच.डी. शोध–प्रबंध लिखा, आप मेरे रचना कर्म से बार–बार गुजरी हैं, विश्लेषणात्मक शोध–दृष्टि लेकर आप ने एक जिम्मेदार शोधार्थी के कर्त्तव्य का निर्वाह किया है। इसलिए योगदान क्या हुआ, कैसे हुआ, हुआ भी या नहीं हुआ, मुझे क्या और करना चाहिए ? इत्यादि सवालों के जवाब तो अब कविता के शोध–प्रबंध में मिलने चाहिए।

कविता : दलित साहित्य में मुख्य प्रश्न कौन–कौन से हैं ?

श्यौराज सिंह : मेरे विचार से दलित साहित्य में मुख्य प्रश्न या कहूँ कि मुख्य चिंताएं हैं कि –

1. पूरी साहित्य व्यवस्था को दलित साहित्य लोकतांत्रिक बनाने को मजबूर करेगा या नहीं, वर्ण–लेखकों पाठकों में यह अपराध–बोध जगाएगा या नहीं कि वे दलितों का हिस्सा ठगना बंद करें और प्रायश्चित करें।
2. दलित साहित्य अस्पृश्य–जातियों के आत्म–सम्मान, समान नागरिक अधिकार और मानवीय गरिमा प्रदान करेगा कि नहीं ?
3. दलित लेखक स्वतंत्र चेतना संपन्न होंगे कि नहीं, उनमें स्वतंत्रता समानता पाने की महत्त्वाकांक्षा और आत्मसम्मान जागेगा कि नहीं ?
4. दलित साहित्य, साहित्य में आसन्न 'साहित्यिक चमचा युग' के खतरे से आगाह करेगा कि नहीं ?
5. साहित्य में तार्किकता, प्रामाणिकता और साहित्यिकता आएगी या नहीं ?
6. दलित स्त्रियों की अपनी समान और स्वतंत्र पहचान बनेगी कि नहीं और स्त्रियाँ पराश्रय, पुनर्जन्म के अंधविश्वासों हिन्दुओं के देवी–देवताओं के जाल से बाहर आएंगी कि नहीं ?

7. दलित साहित्यकार बाबा साहब के रचनात्मक कार्यों का अनुसरण करेंगे या भावनात्मक कार्यों तक सीमित रह जाएंगे ?
8. मान्यवर कांशीराम ने राजनैतिक संदर्भ में एक किताब लिखी 'चमचा युग'। अब सवाल यह है कि क्या आज 'दलित साहित्य का चमचा युग' आ गया है ? क्योंकि दलित लेखक के नाम पर कई लेखक–लेखिकाएं चमचा साहित्य लिख रहे हैं। जो दलित नायकों, दलित बुद्धिजीवियों और दलित लेखकों की उपेक्षा कर गैर–दलितों की प्रशंसा में कसीदे कस रहे हैं। दलित लेखक व अलेखक संस्थाओं का संचालन और नेतृत्व कर रहे हैं। उम्र भर बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर का नाम तक न लेने वाले 'अम्बेडकरवादी लेखक' होने का प्रयास कर रहे हैं, न अम्बेडकर को पढ़े हैं, न समझे हैं और न उन पर कुछ लिखे हैं। बस्स हैं तो फकत वे ही अम्बेडकरवादी हैं। इसलिए कई गंभीर प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। जिनके माकूल जवाब साहित्य में ही दिए जा रहे हैं और दिए जाने हैं।

कविता : सर आत्मकथा लिखने की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली ?

श्यौराज सिंह : आत्मकथा किस रचना या किस लेखक से प्रेरित होकर लिखी तो मुझे स्पष्ट याद नहीं आ रहा है परंतु क्यों लिखी यह मुझे याद है।

जब मैंने बारहवीं पास करके स्नातक करने के लिए एस. एम. कॉलेज में दाखिला लिया था तब वहाँ मेरा संपर्क कुछ सामाजिक, राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं से हुआ था। मैं चारों ओर से सुन रहा था कि आजादी के बाद अनुसूचित जातियों को विशेष सुविधाएं दी गई हैं, उन्हें नौकरियां आरक्षित हैं, छात्रवृत्तियां मिल रही हैं सभी संस्थाओं में भागीदारियां मिल रही हैं, जातियां टूट रही हैं, दलित युवकों से गैर–दलित लड़कियां शादियां कर रही हैं और उन्हें सामाजिक न्याय मिल रहा है। मैंने इन अफवाहों को तुलनात्मक दृष्टि से देखा और गैर–दलितों की शिक्षा, आवास, रोजगार और उनकी तुलना में दलितों को मिलने वाली सुविधाएं सब बेमानी हैं। दलितों की दशा खराब है। इसे मैं खुद का साक्ष्य देकर ही प्रमाणित कर सकता था। सो मैंने अपने परिवार अपने आस–पास के लोग अस्पृश्य जातियों की दशा को ध्यान में रख कर लिखना शुरू कर दिया था।

मैं साहित्य में देख रहा था, वामपंथी सवर्ण खास कर ब्राह्मण बनिया और कायस्थों की हिन्दू मुसलमानों की गंगा–जमनी संस्कृति चल रही थी, परंतु दलितों को बराबरी देने की बात वे नहीं कर रहे थे। हालांकि मुझे वामपंथियों के साथ काम करने से चीजों को यथार्थ में समझने में काफी मदद मिली क्योंकि साइंटिफिक टैम्परामेंट की बात वहाँ होती थी। दलित घुटने टेक बुद्ध वंदना से आगे नहीं जा पा रहे थे। वे अपने रैदास, कबीर तक को छोड़े हुए थे। परंतु गैर–दलितों के नेतृत्व में दलित समस्या का समाधान संभव नहीं था, नहीं है। मार्क्सवादी होकर भी उनमें जात्याभिमान होता है जो उन्हें दलित नेतृत्व में काम नहीं करने देता। दलित उन्हें कैडर के रूप में चाहिए।

भाई साहब डॉ. नत्थूलाल चन्दौसी से संबंधित थे मौसा जी बचपन में ही अपना गाँव बकैनियाँ (बिलारी) छोड़ कर चन्दौसी आ बसे थे। भाई साहब ने मुझे स्वतंत्रता सैनानी कामरेड दूल्हा खां, का. भगवानदास शर्मा, अरविन्द सक्सेना, मदन दीक्षित एडवोकेट और वीके दत्ता से यह कह कर परिचित कराया था कि इंसानी दुनिया में 'कामरेड सबसे अच्छे लोग होते हैं'। यह वाक्य मेरे मन में बैठ गया था। बीए में दाखिला लेने से पूर्व ही मैं इन सबसे मिल कर आया था। इन सबसे मार्क्सवादी विचार मुझे मिला। मार्क्स ने मेरी बड़ी मदद की, वह यह कि मैं बेहद निर्धन व सर्वहारा था। दलितों में भी मेरे जैसे गरीब की कोई इज्जत नहीं थी, गैर–दलितों के लिए तो धनी दलित भी अछूत होता है। मुझे आत्महीनता से मार्क्स ने निकाला और समझाया मजदूर शोषित बेघर है, पर वही क्रांतिकारी है, वही दुनिया का निर्माता है। मैं सर्वहारा गरीब और भारत का अछूत सब एक साथ था। पर आत्मविश्वास से भरे सपनों के पंखों पर सवार था।

मैं टुकड़े–टुकड़े डायरियों में आत्मकथांश लिखता रहा। यह सोच कर कि मैं एक दिन समाज को बताऊंगा कि मेरी, मेरे परिवार की और मेरी कौम की जो यह दशा है तो क्या हमें स्वराज मिला है ? यदि मिला है तो हमारा शोषण क्यों हो रहा है ? हमारी क्षति क्यों हो रही है पीढ़ी–दर–पीढ़ी इस क्षति की पूर्ति कौन करेगा ? हमारी मेहनत का मेहनताना कौन दिलाएगा ? क्या हमारे मानवाधिकार संविधान में ही युगों–युगों तक बंद पड़े रह जाएंगे ?

कविता : रमणिका गुप्ता आदि गैर–दलित साहित्यकारों का मानना है कि 'आत्मकथा उम्र के अंतिम पड़ाव पर लिखी जानी चाहिए।' आपने चालीस से पचास की उम्र में अपनी आत्मकथा लिखी, क्या यह आपकी ओर से जल्दबाजी नहीं हो गई ?

श्यौराज सिंह : रमणिका की जीवन–शैली उपलब्ध सुविधाएं साधन और सोच दलितों से मेल नहीं खाते हैं, पर मेरा अनुभव है कि एक रमणिका गुप्ता तमाम गैर–दलित लेखक और गैर–लेखक ऐसा ही सोचते हैं। मैं एक उदाहरण दूंगा। मेरी आत्मकथा आई तो मैंने खुद अपने पैसों से खरीद कर सत्तर प्रतियां मित्रों और संबंधियों में बांटी। मुरादाबाद में मेरे एक मित्र मुशर्रफ अली हैं, मैं उनको आत्मकथा की प्रति दे चुका था। मैं उनके बेटे की शादी में गया था। उस शादी में कुछ और मित्रों से मुलाकात हुई। उन्हीं में से एक पुराने मित्र सुनील शर्मा ने जब यह सुना कि मैंने आत्मकथा लिखी है तो उन्होंने मुझसे सवाल किया कि तुम्हारी उम्र क्या है ? मैंने कहा 'तुम जानते हो'। तो तुमने आत्मकथा क्यों लिखी ? आत्मकथा तो सेवानिवृत्ति के बाद ही लिखनी शुरू करनी चाहिए। कम से कम साठ साल का होने का इंतजार तो कर सकते थे।

मेरा उनको और बाकी सबको यही बताना है कि यह उम्र की सीमा दलित के लिए उचित नहीं है। कौन इसकी गारण्टी लेगा कि दलित साठ के आसपास मर नहीं जाएगा ? वह रमणिका गुप्ता की तरह अस्सी या सौ साल जिंदा रहेगा ? यदि डॉ. तुलसीराम, ओमप्रकाश वाल्मीकि और डॉ. धर्मवीर ने साठ साल से पहले आत्मकथा न लिखी होती तो क्या उन्हें कहीं से वापस लाया जा सकता था ? वे दुनिया से चले गए। कारण यह है कि दलितों को बचपन में भरण–पोषण पूरा नहीं मिलता। कमोवेश कुपोषण के शिकार होते हैं। इसका कारण यही है कि वे रमणिका गुप्ता, नामवर सिंह, राजेन्द्र यादव आदि की उम्र तक नहीं पहुँच पाते।

दलितों में तो शरणकुमार लिंबाले ने महज 25 साल की उम्र में, लक्ष्मण गायकवाड ने 31 साल में, दया पंवार ने 40 साल में, मोहनदास नैमिशराय ने 45 साल में, सूरजपाल चौहान ने 50 साल में, मैंने 46 से 50 साल में आत्मकथा लिखी और अभी नहीं लिख पाता तो कभी नहीं लिख पाता, हरिवंशराय बच्चन ने 45 से 59 साल में, ओबामा ने 50 साल में, नेहरु जी ने 49 साल में, नेल्सन मंडेला ने 55 साल में

आत्मकथाएं लिखीं। इसलिए दलित लेखक पर गैर–दलितों वाली कोई शर्त लागू नहीं होती। इसलिए सुपोषित सुविधा भोगी लेखक व लेखिकाओं से कुपोषण के शिकार असुविधाग्रस्त दलित लेखकों की तुलना नहीं करनी चाहिए।

कविता : यह आरोप दलित साहित्य पर लगाया जाता है कि दलितों का साहित्य जातिवादी है और गैर–दलितों का साहित्य सर्व जाति साहित्य प्रगतिशील है, लोकतांत्रिक विविधता संपन्न है, इस विषय पर आप क्या कहना चाहेंगे ?

श्यौराज सिंह : देखिए कविता, पहली बात तो यह है कि साहित्य की कोई जाति नहीं होती उसका पाठक किसी भी जाति, किसी भी धर्म व किसी भी देश का हो सकता है, परंतु भारत में जातियों के साहित्य जरुर हैं। दलित साहित्य पर जातिवादी होने के आरोप का यदि कोई वस्तुपरक ठोस जवाब देना है तो साहित्य का जातिवार शोध अपेक्षित है। मतलब यह है कि आप भारत में लेखक व आलोचक की पहले जाति देखें उसके बाद उसका साहित्य। लेखक, आलोचक, कवि या पत्रकार यदि ब्राह्मण हैं तो देखें उसके लेखन में ब्राह्मण को कितनी जगह है और अछूत को कितनी जगह है, किस रूप में है, उसी तरह क्षत्रिय, ठाकुर व राजपूत की कविता, पत्रकारिता, आलोचना देखें। फिर नीचे उतरती जाएं वैश्य, कायस्थ व शूद्रों तक इनके द्वारा संपादित पत्र–पत्रिकाएं देखें और फिर दलितों का साहित्य देखें। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम देखें।

कविता : अम्बेडकरवाद और गाँधीवाद में आप क्या मूलभूत अंतर मानते हैं ?

श्यौराज सिंह : मेरे शोध–प्रबंध **'हिन्दी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अम्बेडकर का प्रभाव'** में इस प्रश्न को विस्तार से लिया गया है। हाल ही में अनामिका प्रकाशन से मेरी किताब आई है **'अम्बेडकर गाँधी और दलित पत्रकारिता'** में अम्बेडकर का 'जनता' और गांधी का 'हरिजन' तथा गाँधीवाद बनाम अम्बेडकरवाद शीर्षकों से पूरे–पूरे अध्याय हैं। इन दोनों महानायकों के विचारों, कार्यों और दृष्टिकोणों में क्या मूलभूत अंतर है, स्पष्ट लिखा है। सार रूप में कहूँ तो गाँधी जी अस्पृश्यों को यथास्थिति में रख कर 'स्वराज' की मांग कर रहे थे और डॉ. अम्बेडकर स्वराज में दलितों का भी राज हो ऐसी मांग कर रहे थे। गाँधी जी दलितों के अधिकार के लिए गैर–दलितों की स्वेच्छा पर छोड़ रहे थे,

जबकि डॉ. अम्बेडकर कानून बना कर अमल चाह रहे थे। अम्बेडकर स्त्रियों को और पिछड़ी जातियों को उच्च शिक्षा और सम्मान देना चाह रहे थे।

कविता : सर अलग से दलित साहित्य लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? दलित लेखक होने के नाते अपनी राय बताएं ?

श्यौराज सिंह : इस प्रश्न का जवाब समाज–व्यवस्था में छिपा है। पूछा जाए कि आजादी मिलने के बाद बराबरी देने के संकल्प के बाद भी किसी जाति को गाँव के बाहर बस्ती से अलग क्यों बसाया जाता है ? स्कूलों में दलित बच्चों को अलग क्यों बिठाया जाता है ? दलित बालक (ओमप्रकाश) से स्कूल में झाड़ू क्यों लगवाया गया ? जाति पता चलते ही बालक (धर्मवीर) के हाथ से सितार क्यों छीन लिया गया ? दलित का पता चलते ही कोई टी. वी. चैनल दलित को एंकर क्यों नहीं बनाते ? आज तक कोई दलित किसी अखबार का संपादक क्यों नहीं है ?

मतलब यह है कि दलित को संख्या वृद्धि दर्शाने के लिए अपनी सांप्रदायिक इच्छा पूर्ति के लिए हिन्दू में गिन लिया जाता है, परंतु उनको कला, शिक्षा, संस्कृति, साहित्य अकादमियों के पदों से उन्हें दूर रखा जाता है। कथित सैक्लुलर हिन्दू–मुसलमान बराबर परंतु दोनों दलितों को अलग रखते हैं और यह एक सरकार की बात नहीं है। हर सरकार में कुलपति, प्रिंसिपल, प्रोफेसर, जैसे बड़े पदों पर उन्हें भागीदारी नहीं दी जाती तो क्या दलितों में प्रतिभा का कोई अकाल है ? मैं नहीं मानता और आप भी यूपीएससी, आईआईटी के पिछले रिजल्ट देखें टॉपर्स में दलित छात्र–छात्राएं भी आ रहे हैं। यह अलग बात है कि दलित, गैर–दलित समाज का कर्ज नहीं लौटा रहे हैं। 'पे बैक टू सोसाइटी' वाली बाबा साहब की सलाह कोई नहीं मान रहा।

जब भारत पाक–विभाजन हुआ तब सीमा के एक ओर मुसलमान, दूसरी ओर हिन्दू, वहाँ खड़े थे। दलित का क्या हो, तब नेहरु जी ने और जिन्ना साहब दोनों ने कहा ये तो अछूत हैं, इनसे तो काम ही लिया जाएगा। आधे आप ले जाओ और आधे हमारे यहाँ काम करेंगे।

दलितों को भी आजाद होना है, उसे भी स्वराज में अपना राज प्राप्त करना है, यह चिंता न नेहरु जी को हुई और न ही जिन्ना को। आज तक राजनीति का वही ढर्रा चला आ रहा है। सरकारें चाहे भाजपाई हों, कांग्रेसी हों या किसी अन्य की दलितों की हालत जस की तस है, बल्कि गैर–दलितों की तुलना में निरंतर बद से बदतर होती जा रही है। जहाँ तक विविधता व डाइवर्सिटी के संबंध का प्रश्न है सो उस पर अमल कोई नहीं करता। 1976 में जब दिल्ली के पास कंझावला के जाटों ने किसान यूनियन बनाई थी, सरकार से उनकी प्रमुख मांग होती थी कि 'हरिजनों' (अब दलित) को रिजर्वेशन मत दो, उनके बच्चों को मत पढ़ाओ, ये पढ़ लिख जाएंगे तो हमारा गोबर–कूड़ा नहीं उठाएंगे।

दलित साहित्य की अलग से आवश्यकता इसलिए पड़ी चूँकि उसकी 'पहचान ही अलग होने से है'। उसका चिंतन अलग है, वैचारिकी अलग है, वह पौराणिक कर्मकांडी साहित्य में समा कर नहीं रह सकता। दलित के पास तर्क हैं, विमर्श हैं, आँख बंद आस्था कम है। वह क्रान्ति और मुक्ति का साहित्य है। मैंने वर्ष 1996 में एक किताब लिखी थी, जिसका शीर्षक था **'दलित क्रान्ति का साहित्य'** वह किताब समता प्रकाशन से छपी थी। दलित क्रान्ति का साहित्य क्या होता है वह मैंने स्पष्ट करने का प्रयास किया था। जोर इस बात पर दिया गया कि दलित क्रान्ति न तो 'बोल्शेविक क्रान्ति' जैसी है और न देवी–देवताओं के चमत्कारी कारनामों से उसका कोई संबंध है। दलित क्रान्ति में मानव हिंसा को स्थान नहीं है। दलित क्रान्ति विद्या, विवेक और वैचारिक विकास से संभव होगी।

कविता : क्या यही कारण है कि कोई गैर–दलित दलित साहित्य नहीं लिख सकता क्योंकि डॉ. धर्मवीर ने 'बालक श्यौराज : महा शिलाखण्डों का संग्राम' शीर्षक पुस्तक में आप की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' के हवाले से लिखा है कि 'अब कौवों की कांउ– कांउ बंद हो जानी चाहिए कि गैर–दलित भी दलित साहित्य लिख सकते हैं', क्या आप दलित साहित्य में स्त्री–विमर्श की स्थिति स्पष्ट करना चाहेंगे ?

श्यौराज सिंह : दलित (पुरुष) लेखक अपनी माता–बहनों व पत्नियों के बारे में जो भी लिख रहे हैं अगर वही स्त्रियां खुद अपने बारे में लिखेंगी तो ज्यादा प्रामाणिक होगा।

क्योंकि कई दलित लेखकों पर भी पुरुष सत्ता का प्रभाव दिखाई पड़ता है। मैं ऐसे कई लोगों को जानता हूँ जो अलेखक हैं, परंतु दलित लेखक संघ के अध्यक्ष हैं। वे अपनी बेटी को उसी स्कूल में नहीं पढ़ाते जिसमें उनका बेटा पढ़ता था। वे स्त्रियों के बारे में समान नागरिक की भावना से नहीं देखते।

खुद दलित महिलाएं साहित्य में सक्रिय हो रही हैं, वे दूर–दराज गाँव में जुल्म–ज्यादतियों की शिकार हो रही हैं, दलित माता–बहनों की संवेदना से जुड़ रही हैं, उनकी कई सार्थक रचनाएं भी आ रही हैं जो कि स्वागत योग्य हैं, पर उन्हें और सावधान व जिम्मेदार होना होगा। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ मैंने एक लेखिका की कुछ किताबों में देखा, उन्होंने शीर्षक मात्र बदले हैं। एक महिला की नई–नई आत्मकथा मिली भूमिका के पहले ही पृष्ठ की हर पंक्ति में चार–पांच अशुद्धियों ने पढ़ना रोक दिया। गलतियां सुधारी जा सकती हैं। रचना को पठनीय और अर्थपूर्ण बनाना चाहिए। साहित्य लापरवाही से नहीं धैर्य और जिम्मेदारी से आना चाहिए, परंतु अभी दलित महिला लेखन बहुत कम है। कुछ सामाजिक और एनजीओ कार्यकर्त्ताओं का लेखन आ रहा है। वे किसी को पढ़ नहीं रही हैं, इसलिए सीख नहीं रही, यह कमी भी दिख रही है। परिपक्वता धीरे–धीरे आएगी। विश्वविद्यालयों में तो दलित महिला लेखन का मूल्यांकन आरंभ हो गया है, परंतु वह छात्रों का अध्ययन भर है। अभी समर्थ आचार्यों, समीक्षकों द्वारा मूल्यांकन होना शेष है।

दलित साहित्य की सार्थकता और कसौटी यह है कि वह कितनी संख्या में दलित पाठकों को प्रबोधन देता है ? उसमें पठनीयता के साथ–साथ संदेश संप्रेषणीयता भी होनी चाहिए। वह हजारों लाखों पाठकों तक पहुँचनी चाहिए। इसलिए बड़े सर्कुलेशन वाले प्रकाशक मिलें लाखों की संख्या में छपने वाले अखबार और पत्रिकाओं में छपें। पर इसका मतलब यह नहीं कि कम पाठक संख्या वाले दलित पत्र–पत्रिकाएं बंद कर दी जाएं।

दलित साहित्य की पाठक संख्या बड़ी होनी चाहिए। पत्र–पत्रिकाओं की मदद लेनी चाहिए। कंप्यूटर से पचास प्रतियां निकलवा लेने से दलित साहित्य जनता में नहीं

पहुँचता। रजनी अनुरागी, सुशीला टाकभौरे और रजत रानी 'मीनू' इसलिए अच्छा लिख रही हैं क्योंकि वे साहित्य का पठन–पाठन कर रही हैं।

कविता : सर, आप स्त्रियों की मुक्ति के बारे में क्या कहना चाहेंगे ?

श्यौराज सिंह : स्त्रियों की मुक्ति पुरुषों के साथ–साथ ही होनी चाहिए। उनके मानवाधिकार भी उन्हें मिलने चाहिए। दलित–पिछड़ी जातियों की दासता सारे देश में बहुत ही चिंताजनक है। उनकी आजादी उनकी संस्थाओं में भागीदारी नगण्य है। यहाँ तक कि उन्हें महिला कमीशनों की चेयरपर्सन होना चाहिए। ये संस्थाएं जिला स्तर से लेकर केंद्र तक स्थापित होनी चाहिए।

कविता : आज दलित साहित्य के समक्ष कौन–कौन सी मुख्य चुनौतियां हैं ?

श्यौराज सिंह : दलित लेखकों के समक्ष अनेक चुनौतियां हैं। हर क्षेत्र में चुनौतियां हैं। ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ चुनौतियां न हों, पर निर्भर इस बात पर करता है कि कौन दलित लेखक चुनौती को समझता है, कौन चुनौती को चुनौती के रूप में लेता है। इसी कारण दलितों के साहित्य के समक्ष भी भारी चुनौतियां उपस्थित हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में दलित प्रतिभाओं की अघोषित हत्याएं हो रही हैं, बच्चों को तालीम न देकर मारना ही हो रहा है। प्राथमिक राजकीय स्कूलों की हत्या प्रकारांतर से दलित शिक्षा का सर्वनाश करना था, सो हो रहा है। ऐसा कत्लेआम अंग्रेजों व मुगलों ने दलितों का नहीं किया और हैरत यह है कि मायावती तक ने तीन बार के मुख्यमंत्री काल में दलित शिक्षा, साहित्य और स्वास्थय किसी पर भी ध्यान न दिया हो, ऐसा कहना कठिन है। पर वे गाँव की शिक्षा–व्यवस्था को मरने से नहीं बचा पायीं।

साहित्य क्षेत्र की चुनौती की बात करूं तो वहाँ भी बड़ा घमासान है। कुछ लोग सचेतन रूप से फर्जी दलित साहित्य रच कर लगातार दूध में पानी, दवा में जहर मिलाये जा रहे हैं। कुछ मूर्खतावश कर रहे हैं। मैंने 2006 से 2009 के बीच एडवांस स्टडी शिमला में दलित साहित्य का इतिहास लिख कर प्रस्तुत किया तो देखा–देखी कई दलितों ने ऐसा लिखा, एक बुजुर्ग ने तो दलित साहित्य का इतिहास में दलित लेखकों को छोड़कर बाकी ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, कायस्थों सब को दलित साहित्यकार

लिख मारा और दिल जलाने को रख दिया मेरे सामने कि इसकी भूमिका लिख दो। परंपरागत हिन्दू साहित्य वर्चस्व बनाए रखने के लिए लिखा जा रहा है। दलित साहित्य शोषण, अपमान और अन्याय से मुक्ति के लिए लिखा जा रहा है। अस्पृश्यता–निवारण, गरीबी–उन्मूलन, भागीदारी और संस्थाओं में 'सामाजिक न्याय' की अवधारणा के तहत समस्याएं दलित साहित्य के सामने हैं। गैर–दलितों को तो 1947 में ही स्वराज मिल गया था, लेकिन दलितों को अभी तक स्वराज नहीं मिला है। प्रो. एस. के. थोरात के शब्दों में कहूँ तो– 1995 से 2014 तक 43 लाख केस जाति–भेद के हो चुके हैं और दलित उत्पीड़न के केस 13000 से अधिक हैं। आज भी दलित न्यायधीशों में, संपादकों में, फिल्मी नायकों में, स्तंभकारों में, न्यायपालिका, मीडिया, सिनेमा, अकादमिक और विश्वविद्यालयों के उच्च पदों कुलपतियों के पदों पर दलितों का प्रतिनिधित्व कहाँ है ? देश में आठ सौ विश्वविद्यालय हैं और आठ भी कुलपति नहीं, प्रतिनिधित्व कहाँ हैं ?

समस्याएं दलित साहित्य में आ रही हैं और साहित्य अकादमी, मेहती सदस्यता, ज्ञानपीठ, सरस्वती इत्यादि सम्मान दिए जा रहे हैं। गैर–दलितों को उच्च शिक्षा में कुलपति ही नहीं प्रोफेसरों के भी पद नहीं भरे जाते। यह चुनौतियां नहीं हैं तो और क्या हैं ? बड़ा हिस्सा तो फर्जी जाति प्रमाण पत्रों के द्वारा गैर–दलितों में ही भरे गए हैं। नई सरकार शिक्षा से भ्रष्टाचार दूर करना चाहती है पर जब एक ही जाति के कुलपति होंगे तो यह कैसे दूर होगा ?

राजनैतिक क्षेत्र की चुनौतियां यह है कि यहाँ दलितों को अपना प्रतिनिधि नहीं मिलता। मिलता वही है जिसे गैर–दलित दलितों के लिए चुन कर देते हैं और जो दलितों की क्षति गैर–दलितों की तरह ही करता रहा है। यह पूना–पैक्ट का पेच है इस पर बात संक्षेप में नहीं हो सकती।

कविता : दलित साहित्य में दलित लेखक के साथ–साथ गैर–दलित भी रचना कर रहे हैं, क्या उनको भी दलित साहित्य के अंतर्गत रखा जाना चाहिए ?

श्यौराज सिंह : गैर–दलितों का दलितों के बारे में लिखा साहित्य गैर–दलित साहित्य कहलाएगा, 'दलित विषयक गैर–दलित साहित्य' इसे नाम दिया जा सकता है। दलित अधिकारों के विरोधी लोग दलित साहित्य के समर्थक या खुद दलित साहित्य बनने की

इच्छा रखने वाले ईमानदार नहीं हैं वे क्रूर और अलोकतांत्रिक जातिवादी हैं। किसी के बारे में लिखने के लिए किसी को भी नहीं रोका जा सकता। मैं दलित हूँ मेरी रचनाओं के पात्र ब्राह्मण भी हैं, ठाकुर भी हैं, वैश्य या कायस्थ जातियों के पात्र हैं, उनके बारे में लिखने से मेरा साहित्य सवर्ण साहित्य नहीं हो जाएगा। उसी तरह गैर–दलित दलित के बारे में लिखने से कोई ठाकुर ब्राह्मण दलित साहित्यकार नहीं हो जाएंगे।

मैं तो यहाँ तक सोच रहा हूँ कि साहित्य की सभी विधाओं का जातिवार अध्ययन और शोध होना चाहिए। उससे पता चलेगा कि किसी कायस्थ ने लिखा तो गैर कायस्थ को कहाँ रखा था, यदि ब्राह्मण लेखक हैं तो उन्होंने अछूत या किसी भी गैर ब्राह्मण पात्र का चित्रण कैसा किया है ? क्या उसकी खुद की जाति ने उसकी रचना पर कोई छाप छोड़ी है, इत्यादि।

अपवाद यह होगा कि कई दलित लेखक दलित समस्याओं को गंभीरता से आत्मसात किए बगैर गैर–दलित साहित्य के प्रभाव में ऐसा दलित साहित्य लिखते हैं जो किसी भी बीमारी की दवा नहीं होता।

कुछ दलित लेखक मनोरंजन के लिए या अश्लीलतापूर्ण सैक्स प्रधान कहानियां लिख कर नाम कमाने के चक्कर में रहते हैं। वे इस गंभीर मिशन में भीतर घाती बने हुए हैं। वे चिन्हित हैं परंतु प्राथमिकता में नहीं हैं। इधर दलित साहित्य का वैश्विक बाजार बढ़ जाने के कारण किसी भी रचना को मात्र दलित शीर्षक देकर बेचा जा रहा है। किसी लाश के कफन को कहें चादर है बन्दा सो रहा है तो देर सवेर जल्दी ही राज तो खुलेगा ही।

कविता : दलित साहित्य को विकसित करने में पत्र–पत्रिकाओं और इलैक्ट्रोनिक मीडिया का किस तरह का योगदान रहा है ?

श्यौराज सिंह : पत्र–पत्रिकाएं साहित्य की प्राणवायु हैं, इसलिए दलितों को अपनी साहित्यिक पत्रिकाएं खड़ी करनी चाहिए। परिवर्तन कामी विचारों का संरक्षण भी पत्रिकाओं में भी संभव होता है। बाबा साहब अम्बेडकर ने 'मूकनायक', 'बहिष्कृत भारत', 'समता', 'जनता', और 'प्रबुद्ध भारत' पत्र निकाले।

मराठी में दलित साहित्य की भी अनेक पत्रिकाएं निकलीं 'अस्मितादर्श' प्रमुख रही। हिन्दी में 'निर्णय', 'निर्णायक भीम', 'जमीं के तारे', पिछले दिनों 'अपेक्षा', 'बहुरि नहीं आवना' में दलित लेखकों को जगह मिली। 'सम्यक भारत' में थोड़ी प्रदर्शन प्रियता का एक रूप रहता है, परंतु वह साहित्य को स्थान देता है। जबकि 'दलित दस्तक' और 'अम्बेडकर इन इंडिया' में कभी कोई कहानी उपन्यास अंश मेरी नजर में नहीं आया है। 'दलित अस्मिता' के बारे में मैं 'वाक्' पत्रिका में लिख चुका हूँ। 'दलित साहित्य वार्षिकी' ने शुरू में दलित रचनाएं छापी थीं। परंतु जब से वह कट्टर बौद्धिष्टों के अधिकार में चली गई उसकी भूमिका संकुचित हो गई। कुल मिला कर हिन्दी में साहित्य की साहित्य–समाज केंद्रित पत्रिका की आवश्यकता है।

कविता : देश के वर्तमान परिदृश्य पर अपना मत स्पष्ट करें ?

श्यौराज सिंह : देश का वर्तमान परिदृश्य चिंताजनक है। चिंताजनक इसलिए कि जिन संकल्पों और सपनों के साथ भारत का संविधान लागू हुआ, प्रस्तावना में समाजवाद की ओर बढ़ने की बात रखी गई उस समाजवाद की ओर जिस में समता होगी, सुरक्षा होगी, सबको शिक्षा, स्वास्थ्य आवास होगा। केवल इतना रट लेना काफी नहीं है कि बाबा साहब ने शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो। देखना चाहिए कि इस दिशा में हो क्या रहा है ? हम लिख क्यों रहे हैं ? कविता मैं याद दिलाऊं कि मैं साल 2012 में अफ्रीका गया था जोहन्सिंग बर्ग में हमने नेल्सन मंडेला को जिस जगह सजा सुनाई गई थी और जिस जेल में उन्हें रखा गया था वहाँ अंग्रेजी में कुछ शब्द लिखे देखे थे एज्यूकेशन, स्ट्रगल, फ्रीडम आदि।

कहना चाहूँगा कि हर दलित लेखक को अपने घर में ऑफिस में संविधान की प्रस्तावना को लिख कर टांग लेना चाहिए। हो सके तो सप्ताह में एक दिन इस प्रस्तावना का पाठ करना चाहिए। बुद्ध विहार की बुद्ध वंदना में 22 प्रतिज्ञाएं पढ़ी जाती रहनी चाहिए।

तब अभिव्यक्तियों की विविधताएं भी फूलेंगी–फलेंगी। ईसाई साहित्य, मुस्लिम साहित्य, दलित साहित्य और हिन्दू साहित्य सबको फलने फूलने का मौका मिलेगा ? जहां तक सामाजिक हालातों का प्रश्न है वे अच्छे नहीं हैं, क्यों अच्छे नहीं हैं कैसे अच्छे

होंगे ? मैं पिछले करीब तीस साल से रोज अखबारों पर नजर दौड़ाता हूँ मुझे दलित उत्पीड़न हत्या बलात्कार और भूख–गरीबी के जितने समाचार मिलते हैं उनका सौवां हिस्सा भी राहत की खबर का नहीं होता है। मैं अपना सकून खो बैठता हूँ, आखिर करूँ तो क्या करूँ ?

कविता : परंपरागत सौन्दर्यशास्त्र और दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र में आप क्या बुनियादी अंतर मानते हैं ?

श्यौराज सिंह : अंतर ही अंतर हैं। सौन्दर्यशास्त्र साहित्य से निकलता है और साहित्य जीवन से निकलता है। दलित व गैर–दलितों के जीवन अलग–अलग हैं। उनके साहित्य और साहित्य के सौन्दर्य भी अलग–अलग ही होंगे।

जहाँ तक दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का सवाल है, उस पर आधारित उपलब्ध ओमप्रकाश वाल्मीकि और शरण कुमार लिंबाले की दो किताबें हैं। उन्होंने विषय के साथ न्याय नहीं किया। किसी भी तरह के निबंधों को बांध कर छपवा देना सौन्दर्यशास्त्र नहीं हो जाता। दलित की ओर से जिस तरह हमने पत्रकारिता पर काम किया है, उसी तरह सौन्दर्यशास्त्र पर भी काम करने की जरूरत है। अब पर्याप्त दलित साहित्य उपलब्ध है उसका अध्ययन–मंथन कर के उसमें से सौन्दर्य निचोड़ कर निकाल लाना होगा। डॉ. धर्मवीर ने यह काम शुरू किया था शायद पूरा नहीं कर सके।

कविता : दलित साहित्य के भविष्य के बारे में आपकी क्या धारणा है ?

श्यौराज सिंह : भविष्य को लेकर हर शोधार्थी सवाल करता है। परंतु भविष्य तो वर्तमान की नींव पर ही खड़ा होता है। अब मैं कहूँ कि शिक्षा साहित्य और समाज में दलित आदिवासियों के अच्छे दिन आने की कोई संभावना है, तब भी दलित साहित्य उसी अनुपात में अच्छी स्थिति में होगा जिस अनुपात में स्थितियां अच्छी होंगी। जरूरी नहीं और कहूँ कि संकट आसन्न है तो साहित्य तो संकट में ही शक्ति बन कर उभरता है।

स्थिति द्वंद्वात्मक है। दलित साहित्य को अभी पहचान पर भी सोचना पड़ सकता है क्योंकि कोई कह रहा है खाली दलित साहित्य नहीं, अम्बेडकरवादी साहित्य होना चाहिए, कोई कहता है बौद्ध साहित्य लाओ, कोई कह रहा है अब दलित शब्द

अप्रासंगिक हो गया है अब तो आजीवक साहित्य आएगा, एक समूह कहता है कि ओबीसी साहित्य को साथ लेकर 'बहुजन साहित्य' बनाया जाए, कुछ लोग अपनी उपजाति का साहित्य अलग करना चाहते हैं। असल बात यह है कि साहित्य आना चाहिए, साहित्य होगा तो सब तय हो जाएगा। गैर–ब्राह्मण साहित्य अभी तक कायस्थों, वैश्यों, क्षत्रियों और ब्राह्मणों का मूल रूप में ब्राह्मणी साहित्य ही है।

भविष्य की बात है तो संभव है कि दलित साहित्य का रूप बदल जाए, नाम बदल जाए, परंतु जिस चौथाई आबादी के जीवन चित्रण का सवाल है वह आएगा हो सकता है ओबीसी साहित्य भी आ जाए और मिल कर बहुजन साहित्य का रूप आख्त्यार कर ले। क्योंकि दलित शब्द फिलवक्त संकट के दौर से गुजर रहा है। यह विवशता में और विकल्प की कमी में लिया गया। यह सर्व स्वीकार्य शब्द नहीं है। अदालत तो इसे मान्यता ही नहीं देती। वहाँ एस. सी., एस. टी., ओबीसी शब्द ही मान्य हैं।

अति पिछड़ा साहित्य की तर्ज पर अति दलित साहित्य भी आ सकता है। अति दलित का मतलब अति शोषित पीड़ित अति वंचित होगा, उसके उलट अति सवर्ण, अति उत्पीड़क, अति दबंग, अति शोषक साहित्य भी चिन्हित होगा। कुल मिला कर उथल–पुथल होना तय है। ब्राह्मण साहित्य में ठाकुर साहित्य भी शामिल होगा या ये भी अलग होंगे यह साहित्य को समझने की विश्लेषणात्मक पद्धति के तहत होगा। इसकी जरूरत बढ़ रही है।

कविता : ऐसा आप किस लिए कह रहे हैं ?

श्यौराज सिंह : इसलिए कि सदियों से दलितों की सब प्रकार की क्षति ही क्षति की जा रही है। जब समता परक सभ्य समाज बनेगा तो क्या किसी को अपराध बोध होगा ? बात क्षतिपूर्ति की होगी तो दलित साहित्य इसके लिए मानस तैयार करेगा या नहीं करेगा ? साहित्य में सर्वाधिक उपेक्षित हैं दलित लेखिकाएं। उनको अपने अधिकार पाने में घर–बाहर दोनों ओर संघर्ष करना है, दलित पुरुषों से भी और गैर–दलितों की समाज व्यवस्था से भी, साहित्य व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था इत्यादि से भी। आप देखें आजादी के बाद से स्वराज पा चुके गैर–दलितों ने दलित स्त्रियों पर अत्याचारों की

पराकाष्ठा की है। बिहार के जाति सैना ने बच्चे और औरतों तक जिंदा जलाए, बेल्छी पारस बीघा सिलसिला रुका नहीं कि गुजरात में ऊना और उत्तर प्रदेश में शब्बीरपुर (सहारनपुर) दलित शोषण के ताजा उदाहरण हैं। बलात्कार हत्याएं तो आम बात हो गई है। दलित स्त्री को शिक्षा में, न्यायपालिका में, राजनीति में अपना संविधान प्रदत्त स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। देश में जिला राज्य और केंद्र हर स्तर पर अनुसूचित जाति, जनजाति महिला आयोगों की जरूरत है, परंतु यह व्यवस्था नहीं है एक केंद्रीय महिला आयोग बनता है उस पर वे महिलाएं बिठा दी जाती हैं जिन्हें दलित महिलाओं के ऊपर होने वाले अत्याचारों का न अनुभव है न सहानुभूति और प्रतिनिधित्व देने की इच्छा शक्ति इस तरह आजादी दलित स्त्री को गुलामी से बदतर स्थिति की ओर ले जाती है। ऐसे में आशा की किरण के रूप में 15 जून 2017 को दलित बुद्धिजीवी महिलाओं ने दिल्ली के कॉफी हाउस में मीटिंग कर 'दलित लेखिका संघ' बनाया। अच्छी बात यह है कि बिना पुरुष के सहारे के बनाया। दलित आदिवासी को प्रतिनिधित्व दिए बगैर उच्च शिक्षा साहित्य समूची ज्ञान व्यवस्था स्वस्थ नहीं हो सकती। आप देखें इन समाजों को भागीदारी न देकर क्या वे मैरिटो–रियस संस्थाएं बना सकें हैं ? दलित कुलपतियों से विहीन हमारे विश्वविद्यालय विश्व के सर्वोत्तम विश्वविद्यालयों में दो सौ से दो सौ पचास की सूची में हैं। अगर दलित नेतृत्व–प्रतिनिधित्व से संस्थाएं पीछे जाती हैं तो उच्च शिक्षा में कुलपति, प्रिंसिपल व प्रोफेसर जैसे नेतृत्व कारी पदों पर दलित नगण्य हैं। वह शर्मनाक स्थिति क्यों है ? विश्व गुरुओं को तो सबसे ऊपर होना चाहिए था।

साहित्यिक संस्थाओं पर भी दलित स्त्री को नेतृत्व में हिस्सा नहीं दिया जाता चाहे वह साहित्यिक अकादमियां हों हिन्दी मराठी अकादमियां हों। उनकी प्रधानी खास कर ब्राह्मण स्त्रियों को ही सौंपी जाती है। फिर चाहे 'आम आदमी' की बात करने वाली आम आदमी की सरकार की 'हिन्दी अकादमी' ही क्यों न हो ? पिछले दिनों मैत्रेयी की अध्यक्षता में हिन्दी अकादमी की पुरस्कारों की घोषणा हुई। प्रो. कालीचरण स्नेही ने मेरा ध्यानाकर्षित करते हुए कहा कि झाड़ू वाली सरकार ने दलितों की भागीदारी पर झाड़ू फेर दिया।

कविता : आप पर आरोप लगता है कि आप भविष्य की बात तो करते हैं परंतु अतीत को छोड़ना नहीं चाहते क्यों ?

श्यौराज सिंह : हम भविष्य की चिंता करेंगे तो अतीत से सबक लेने होंगे। पूरे देश के संदर्भ में पराधीनता और आजादी के सवाल समझने होंगे। इस संदर्भ में एक नई किताब आई है जो गैर–दलितों के स्वराजवादी चिंतन का नया नतीजा है। 'एन इरा ऑफ डार्कनेस', 'अंधकार का एक युग' शीर्षक से एलेफ बुक कंपनी से प्रकाशित शशि थरूर की यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। क्योंकि इसका सरोकार भारतीय जनता के मानवाधिकारों से है।

अंग्रेजी में आई इस किताब में श्री थरूर ने भारत में अंग्रेजी राज को अंधकार युग कहा है। इस युग की अंधेरगर्दी है अंग्रेजों द्वारा भारतीय जनता का शोषण भारतीय संपदा का दोहन लूट और कब्जाकरण।

किताब अकादमिक शोध दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शोषण के कारकों, तथ्यों प्रमाणों का सोदाहरण वर्णन किया है। भारत के कच्चे माल का इस्तेमाल उद्योगों के लिए करना और उन उद्योगों पर ब्रिटिश मालिकाना कायम करना गांधी के हस्तक्षेप पूर्व कपड़ा मिलों के द्वारा चेस्टर से वस्त्रों का विस्तार करना मिलों के द्वारा भारत का पैसा ब्रिटेन में ले जाना। 1857 तक आते–आते भारत को आर्थिक रूप से तबाह करना, भारत में बनने वाले जहाजों से लेकर सुई तक पर मुनाफा कमाना। इससे भारत की क्षति हुई। श्री थरूर ने अंग्रेजों से क्षति की पूर्ति करने शोषण के लिए क्षमा याचना करने का आग्रह किया। क्षतिपूर्ति का विचार न्याय और आत्मशुद्धि का विचार है, जो क्षतिपूर्ति करते हैं या अपनी क्षतिपूर्ति मांगते हैं। जाहिर है किसी की क्षति करने के पक्ष में नहीं होते हैं।

अब ऐसी स्थिति में भारत की क्षति को कैसे समझा जाए व कैसे आंका जाए ? भारत में अंग्रेजों ने भारतीय जनता को गुलामी के अंधकार युग में लूटा शोषण किया और क्षति पहुंचायी। परंतु शशि थरूर के लोगों ने तो दलितों को स्वराज के उजाले में भी लूटा और अंग्रेजी राज तक अछूत बनाये रखा। छब्बीस करोड़ की जनसंख्या वाले 'दलित–भारत' को द्विज दबंगों द्वारा आज भी दलितों का उत्पीड़न दमन चक्र थमा नहीं है। अशिक्षा अज्ञानता के अंध कूप में धकेला और अमानवीय अत्याचारों की पराकाष्ठा की। आज भी दलित ने गैर–दलित लड़की से प्रेम विवाह किया तो गैर–दलितों की

खाप पंचायत ने उसके माता–बहन के साथ सामूहिक बलात्कार करने का फैसला सुना दिया।

थरूर जी, आप और अधिक क्षति कर रहे हैं। आप दलित को तालीम दुर्लभ कर रहे हैं दलितों गरीबों को सस्ती सुलभ शिक्षा की संभावना समाप्त कर के आप उसे खास लोगों तक सीमित कर रहे हैं। संस्थाओं का निजीकरण कर रहे हैं। वहाँ फीस में लूट हो रही है। पारदर्शिता गायब है रसीद दिए बिना चैक भुगतान के वहाँ दशकों से नाजायज पैसा लूटा जा रहा है। यह काले धन के बड़े स्रोत पकड़े नहीं जा रहे हैं। इन संस्थाओं के स्वामी दलित–आदिवासी नहीं हैं। दलित तो बेचारे एडमिशन में रियायत भर मांग रहे हैं। यह बढ़ती क्षति किसी थरूर को दिखलाई नहीं पड़ती ? वर्ण बुद्धिजीवियों में कोई एक दलित क्षतिपूर्ति तो छोड़ो वे आज भी जुल्म–ज्यादतियों को विराम नहीं देना चाहते। अंग्रेजी राज को फुले–अम्बेडकर की नजर से क्यों नहीं देख सकते थरूर ? हिन्दुओं के ये पंचपरमेश्वर गाँधी के ये ग्राम स्वराज वादी ये सब अंधेरे 'दलित–भारत' के लिए कितने निर्मम कितने अमानवीय कितने गहरे हैं ? बाबा साहब का 'बहिष्कृत भारत' आज 'दलित–भारत' के रूप में रूपांतरित हुआ है।

कैसे करोगे जब आपने सरकारी स्कूल और विश्वविद्यालय में दलित की भागीदारी तक पूरी नहीं की, 'दलित–भारत' में पूर्ण साक्षरता तक अभी तक नहीं पहुंची। शशि थरूर की तो अग्रिम क्षतिपूर्ति ब्रिटिश कर गए, उन्हें अपनी शेरनी का दूध (अंग्रेजी विद्या) पिला गए। डेमोक्रेसी दे गये, जो थरूर उसी के देश में उनकी कठोर आलोचना कर रहे हैं। दलितों की क्षति ही क्षति किए जा रहे हैं, पूर्ति का प्रश्न भी नहीं ?

कविता : बाबा साहब अम्बेडकर विश्वविद्यालय (बिहार) में 26 अप्रैल को विश्व ज्ञान दिवस के रूप में मनाया गया। डॉ. अम्बेडकर की जयंती के विशाल आयोजन पर आपने उद्घाटन भाषण दिया उसकी शुरुआत आपने अपनी एक नई कविता से की, वह क्या है ? मैंने दैनिक हिन्दुस्तान, दैनिक भास्कर, दैनिक जागरण और दैनिक प्रभात खबर आदि अखबारों की खबरें देखी जो फेसबुक के द्वारा सार्वजानिक भी थीं। तथा रिकॉर्डिंग भी सुनी। उस कविता के बारे में बताएं ?

श्यौराज सिंह : हाँ मैंने अपना उद्घाटन वक्तव्य के आरंभ करने से पहले अपनी एक कविता सुनाई थी, जिसकी कुछ पंक्तियां निम्नलिखित हैं –

"विविधता देश में हो,
संस्थाओं में नहीं दिखती
तो ऐसे हाल में स्वाधीनता
ज्यादा नहीं टिकती।"

यानी राजकीय और निजी सभी संस्थाओं में अफरमेटिव एक्शन से डाइवर्सिटी लागू होनी चाहिए। वरन् आजादी–प्रगति खतरे में है। ऐसा मेरा कहना था।

कविता : 23 अप्रैल, 2017 को आप बतौर मुख्य अतिथि के रूप अम्बेडकर जयंती के आयोजन में मऊ जनपद में बोल रहे थे तब आपसे पूछा गया था कि दलित की जगह बहुजन शब्द क्यों इस्तेमाल नहीं करते, आप इस पर क्या सलाह देते हैं ?

श्यौराज सिंह : मैं कहता हूँ कि आपके बाबा साहब ने कानून भी बनाया, परंतु आप उसका कोई लाभ नहीं उठा पा रहे, बल्कि कानून के दुरूपयोग से और दलितों–पिछड़ों में अविद्या व्याप्ति के कारण उल्टी क्षति ही हो रही है। इसलिए कानून सभी को पढ़ना चाहिए। इससे बौद्धिक सशक्तिकरण होगा और मुक्ति पाने की आधारभूत शर्ते पूरी होंगी। नेल्सन मंडेला ने जब अश्वेतों को दासता से आजाद कराया था तो कानून का रास्ता अपनाया था आजादी के लिए एज्युकेशन चाहिए इसलिए एज्युकेशन को आंदोलन बनाना चाहिए।

कविता : क्या कानून और साहित्य की जानकारी होने भर से समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक गैर–बराबरी समाप्त हो जाएगी ?

श्यौराज सिंह : मेरा मानना है कि यह एक हद तक हो सकती है परंतु पढ़ाई केवल जानकारी भर के लिए नहीं, उत्पाद के लिए भी हो। आप साहित्य पढ़ने में समर्थ हों तो कुछ रचने में भी हाथ बटाएं उसी तरह कानून के भी बहुत जानकार हैं तो कानून बना भी सकें, इतनी सामर्थ्य पैदा करें। धाराएं बदलना काफी नहीं होता है।

कविता : सर सन् 2004 में आपकी एक कहानी 'भरोसे की बहन' कथादेश में छपी थी उस कहानी में आपने दलित राजनीति की जो तस्वीर खींची थी और जो भविष्य का अनुमान लगाया था वह आज शत–प्रतिशत सही घटित हो रहा है। आप ऐसा कैसे कर पाए ?

श्यौराज सिंह : सामान्य जन वर्तमान भी नहीं देख पाता, परंतु कवि या चिंतक को कल ही नहीं आने वाले युग दिखाई देते हैं। वह भविष्य का अनुमान अपनी वैज्ञानिक समझ और अध्ययन से लगाता है, कोई ज्योतिषाचार्य नहीं हूँ मैं भी।

संदर्भ–ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

मूल पुस्तकें

1. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *अम्बेडकर गांधी और दलित पत्रकारिता*, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2010
2. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *उपन्यास साहित्य में दलित समस्या और समाधान*, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014
3. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *उत्तर सदी के हिंदी कथा–साहित्य में दलित–विमर्श*, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014
4. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *क्रौंच हूँ मैं*, सहयोग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1995
5. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *गांधी–अम्बेडकर हरिजन–जनता*, समता प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011
6. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *चमार की चाय*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2017
7. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *नई फसल कुछ अन्य कविताएँ*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014
8. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *फूलन की बारहमासी*, राजेश प्रिंटिंग प्रेस, चन्दौसी, प्रथम संस्करण, 1982
9. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *भरोसे की बहन*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2010
10. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *मीडिया : उत्तर आधुनिक अस्पृश्यता के दौर में*, साहित्य–संस्थान, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 2010
11. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *मेरा बचपन मेरे कंधों पर*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2013
12. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच*, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007

13. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका*, साहित्य–संस्थान, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 2009
14. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, *हिन्दी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अम्बेडकर का प्रभाव*, समता प्रकाशन, दिल्ली, संशोधित संस्करण, 2012

संपादित पुस्तकें

1. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह और डॉ. देवेंद्र चौबे (सम्पा.), *चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य*, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, संस्करण, 2010
2. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह और डॉ. रजत रानी 'मीनू' (सम्पा.), *दलित दखल*, आकाश पब्लिशर्स, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, संशोधित संस्करण, 2011
3. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह (सम्पा.), *दलित क्रान्ति का साहित्य*, समता प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2013
4. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह और एस. एस. गौतम (सम्पा.), *मीडिया और दलित*, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014
5. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह (सम्पा.), *सामाजिक न्याय और दलित साहित्य*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014

अनुदित पुस्तकें

1. अम्बेडकर, डॉ. भीमराव, *मूल खोजो विवाद मिटेगा*, अनु. डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन', माण्डवी प्रकाशन, नोएडा, प्रथम संस्करण, 1995
2. अम्बेडकर, डॉ. भीमराव, *बहिष्कृत भारत*, अनु. डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' और डॉ. रजत रानी 'मीनू', गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008
3. अम्बेडकर, डॉ. भीमराव, *मूकनायक*, अनु. डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' और डॉ. रजत रानी 'मीनू', गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008

पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखन

1. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कहानी– अस्थियों के अक्षर, *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), राजेन्द्र यादव (सम्पा.), फरवरी, 1996
2. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, रपट– परिवेश सम्मान के बहाने दलित साहित्य पर बहस, *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), राजेन्द्र यादव (सम्पा.), जुलाई, 1996
3. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– मनु का नाती, *कल के लिए* (त्रैमासिक पत्रिका), दलित साहित्य विशेषांक, डॉ. जयनारायण (सम्पा.), दिसंबर, 1998
4. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह (अतिथि संपादक), संपादकीय– अघोषित पाबंदियों के बीच सत्ता विमर्श और दलित, *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), दलित विशेषांक, अगस्त, 2004
5. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– साहित्य के जंगल में लोकतंत्र किस चिड़िया का नाम है, *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), राजेन्द्र यादव (सम्पा.), फरवरी 2005
6. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कहानी– कार्ड संख्या 2118, *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), राजेन्द्र यादव (सम्पा.), अक्टूबर, 2012
7. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– भोगे हुए यथार्थ के कथाकार का जाना, राजेन्द्र यादव की फुले से तुलना मत करो !, *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), राजेन्द्र यादव द्वारा स्वीकृत नाम संजय सहाय (सम्पा.), दिसंबर, 2013
8. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कहानी– हाथ तो उग ही आते हैं, *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), राजेन्द्र यादव द्वारा स्वीकृत नाम संजय सहाय (सम्पा.), जनवरी, 2014
9. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कहानी– आग और फूस, *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), राजेन्द्र यादव द्वारा स्वीकृत नाम संजय सहाय (सम्पा.), जुलाई, 2016

10. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– दाखिले की शर्त, *वाक्* (त्रैमासिक पत्रिका), सुधीश पचौरी (सम्पा.), अंक–11, वर्ष–2012
11. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– अम्मा, मनोरमा और मैं, *वाक्* (त्रैमासिक पत्रिका), सुधीश पचौरी (सम्पा.), अंक–18, वर्ष–2014
12. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश – ब्राह्मण की रसोई का स्वाद, *वाक्* (त्रैमासिक पत्रिका), सुधीश पचौरी (सम्पा.), अंक–21, वर्ष–2015
13. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– नाम ही लेना छोड़ दिया !, *युद्धरत आम आदमी* (कथा मासिक पत्रिका), रमणिका गुप्ता (सम्पा.), अप्रैल, 2014
14. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– पथरीली पगडंडियों पर....., *युद्धरत आम आदमी* (कथा मासिक पत्रिका), रमणिका गुप्ता (सम्पा.), मई, 2014
15. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– देखो कामरेड, हमारे यहां जाति कोई समस्या नहीं है....., *युद्धरत आम आदमी* (कथा मासिक पत्रिका), रमणिका गुप्ता (सम्पा.), जून, 2014
16. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– गंगुर्रा वाली– मौसी की कथित बहू, *युद्धरत आम आदमी* (कथा मासिक पत्रिका), रमणिका गुप्ता (सम्पा.), जुलाई, 2014
17. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– क्या कहिये !, *युद्धरत आम आदमी* (कथा मासिक पत्रिका), रमणिका गुप्ता (सम्पा.), अगस्त, 2014
18. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– अलविदा कामरेड दूल्हा खां, *युद्धरत आम आदमी* (कथा मासिक पत्रिका), रमणिका गुप्ता (सम्पा.), सितंबर, 2014
19. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– दलित स्त्रियों ने छीनी दरोगा की पिस्तोल, *युद्धरत आम आदमी* (कथा मासिक पत्रिका), रमणिका गुप्ता (सम्पा.), अक्टूबर, 2014
20. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– जन आन्दोलन क्यों नहीं बना चन्दौसी का आन्दोलन, *युद्धरत आम आदमी* (कथा मासिक पत्रिका), रमणिका गुप्ता (सम्पा), दिसंबर, 2014
21. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– अस्पृश्यता का प्रश्न, *युद्धरत आम आदमी* (कथा मासिक पत्रिका), रमणिका गुप्ता (सम्पा.), जनवरी, 2015

22. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– दलितों के मशाल जुलूस को पुलिस ने रोका, *युद्धरत आम आदमी* (कथा मासिक पत्रिका), रमणिका गुप्ता (सम्पा.), फरवरी, 2015
23. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, आत्मकथांश– अछूतों से दूर, ब्राह्मणों में मजबूर, *युद्धरत आम आदमी* (कथा मासिक पत्रिका), रमणिका गुप्ता (सम्पा.), मार्च, 2015

समाचार–पत्रों में प्रकाशित लेखन

1. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– दैनिक मजदूरों को बेदखल कर नई भर्ती, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार पत्र), 20 जून, 1989
2. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– अफसर खा गये भारतीय रेल, *समकालीन नजरिया* (साप्ताहिक समाचार–पत्र), 6 से 12 जनवरी 1991
3. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– एक अराजनैतिक आंदोलन का पतन भाकियू, *समकालीन नजरिया* (साप्ताहिक समाचार–पत्र), 3 से 9 फरवरी, 1991
4. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– ऐसे नहीं टूटती जातियां, *रविवारीय नवज्योति*, 24 जनवरी, 1999
5. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– हिन्दी दलित साहित्य के आधार स्तम्भ स्वामी अछूतानंद, *दैनिक हिन्दुस्तान*, नई दिल्ली, 26 जनवरी, 1999
6. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– लोक संस्कृति के कवि बिहारीलाल हरित, *दैनिक हिन्दुस्तान*, नई दिल्ली, 14 मई, 1999
7. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– उच्च शिक्षा में दलितों को जगह, *दैनिक हिन्दुस्तान,* नई दिल्ली, 19 जनवरी, 2001
8. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– डॉ. अम्बेडकर की प्रासंगिकता, *दैनिक हिन्दुस्तान*, 14 अप्रैल, 2001
9. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– आरक्षण का क्या दोष, *जनसत्ता* (दैनिक समाचार–पत्र), 19 मई, 2001

10. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– 'जहराना' तो बहाना है, *दैनिक हिन्दुस्तान*, नई दिल्ली, 19 जून, 2001
11. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– डरबन सम्मलेन और दलित, *दैनिक हिन्दुस्तान*, नई दिल्ली, 22 अगस्त, 2001
12. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– शिक्षा में न्याय का सवाल, *जनसत्ता* (दैनिक समाचार–पत्र), 27 सितंबर, 2001
13. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– दलितों के धर्म परिवर्तन के बाद, *दैनिक हिन्दुस्तान*, नई दिल्ली, 16 नवंबर, 2001
14. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– वंचितों के वृत्तांत, *रविवारीय जनसत्ता* (दैनिक समाचार–पत्र), 25 नवंबर, 2001
15. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– सूरीनाम से वैंकूवर तक भारतीय दलित, *दैनिक हिन्दुस्तान*, नई दिल्ली, 29 जुलाई, 2003
16. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– सपा–बसपा : भविष्य के संकेत, *दैनिक हिन्दुस्तान*, नई दिल्ली, 29 सितंबर, 2003
17. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– आगे बढ़ता बसपा का कारवां, *दैनिक हिन्दुस्तान*, नई दिल्ली, 14 अप्रैल, 2004
18. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– विजातीय नजदीकी, *दैनिक हिन्दुस्तान*, 03 जून, 2005
19. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कविता– जो नहीं बदला जा सकता, *रविवारीय जनसत्ता* (दैनिक समाचार–पत्र), 02 सितंबर, 2007
20. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– भूख की कीमत पर, भोजन की उपलब्धता के बगैर भला कैसी आजादी, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 31 अगस्त, 2010
21. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– जाति का विभाजन, जाति विभाजन खत्म किए बिना हम आधुनिक समाज नहीं बना सकते, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 19 अक्टूबर, 2010
22. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– दलितों की आवाज, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 20 नवंबर, 2010

23. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– कितना बदला दलित, दलित समाज में भी जातिगत विभाजन चिंतित करने वाला है, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 06 जनवरी, 2011

24. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– दलितों का दर्द, हाशिये के लोगों को कानून के जरिये आत्मनिर्भर नहीं बना सकते, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 19 फरवरी, 2011

25. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– राजनीति के निपुण गुरु थे कांशीराम, *जनसंदेश टाइम्स*, लखनऊ, 15 मार्च, 2011

26. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– सत्ता में दलित (कांशीराम ने वंचितों के असंतोष को राजनीतिक धार दी), *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), दिल्ली, 15 मार्च, 2011

27. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– अधूरी है अंबेडकर की मुहिम, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 14 अप्रैल, 2011

28. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, कहानी– सिस्टर, *रविवारीय जनसत्ता*, 01 मई, 2011

29. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– पीड़ा से आगे हिस्सेदारी का सवाल, *प्रभात खबर*, रांची, 29 जनवरी, 2012

30. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– भय से बड़ी कोई हिंसा नहीं होती, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 01 नवंबर, 2012

31. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– उन अबलाओं की भी सुध लीजिए, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 10 जनवरी, 2013

32. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– आधुनिक दलित साहित्य की एक शताब्दी, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 03 जनवरी, 2014

33. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– पेरिस में दलित चिंतन, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 31 अगस्त, 2014

34. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– क्या हम संविधान के अनुरूप चल रहे हैं ?, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 09 दिसंबर, 2015

35. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– जैतखाम, सतनाम और धवल ध्वजा, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 10 जनवरी, 2016

36. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– अम्बेडकर : जरूरी भी, मजबूरी भी, *दैनिक हिन्दुस्तान*, नई दिल्ली, 14 अप्रैल, 2016

37. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– ज्ञान की चुनौती लें, इसमें हार नहीं होती, *दैनिक भास्कर* (दैनिक समचार–पत्र), नई दिल्ली, 25 अप्रैल, 2016

38. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– रैदास न होते तो क्या अंबेडकर होते, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), दिल्ली, 10 जुलाई, 2016

39. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख – काम तो बाबा साहब की सोच के उलट ही हो रहा है, *दैनिक हिन्दुस्तान*, नई दिल्ली, 14 अप्रैल, 2017

40. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह, लेख– गांव अब भी यातनागृह क्यों हैं ?, *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), दिल्ली, 28 मई, 2017

द्वितीयक या सहायक ग्रंथ

सहायक पुस्तकें

1. अम्बेडकर, डॉ. भीमराव, *बुद्ध और उनका धम्म*, अनु. डॉ. भदंत आनंद कौशल्यायन, समता सैनिक दल, नागपुर, संस्करण, 2003
2. अम्बेडकर, डॉ. बाबा साहब, *शूद्रों की खोज*, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, सातवीं आवृत्ति, 2008
3. अम्बेडकर, डॉ. भीमराव, श्याम सिंह शशि (सम्पा.), *संपूर्ण वाङ्मय खंड 1*, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 2011
4. अम्बेडकर, डॉ. बाबा साहब, *अछूत कौन और कैसे ?*, अनु. आचार्य जुगल किशोर बौद्ध, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2011
5. आगलावे, डॉ. सरोज, *जोतिराव फुले का सामाजिक दर्शन*, अनु. मीना काम्बले, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2010
6. आहूजा, राम और मुकेश आहूजा, *समाजशास्त्र विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य*, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, संस्करण, 2008
7. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश, *इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन (साहित्य एवं समाज चिंतन)*, पंकज पुस्तक मंदिर, दिल्ली, संस्करण, 2013
8. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश, *दलित विमर्श : साहित्य के आईने मे*, अभिनय प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2014
9. कुमार, डॉ. विवेक, *बहुजन समाज पार्टी एवं संरचनात्मक परिवर्तन (एक समाजशास्त्रीय अवलोकन)*, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2008
10. कौशल, डॉ. ललिता, *चर्चित हिन्दी की दलित आत्मकथाएँ एक मूल्यांकन*, साहित्य–संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, 2010
11. गायकवाड, नितिन (सम्पा.), *दलित बचपन : वेदना का विस्फोट*, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013

12. गुप्ता, रमणिका (सम्पा.), *दलित चेतना : साहित्य*, नवलेखन प्रकाशन, बिहार, प्रथम संस्करण, 1996
13. गुप्ता, रमणिका, *दलित कहानी संचयन*, साहित्य अकादमी, दिल्ली, संस्करण, 2003
14. गुप्ता, रमणिका, *दलित चेतना साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार*, समीक्षा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, संस्करण, 2004
15. गुप्ता, रमणिका, *दलित हस्तक्षेप*, अक्षर शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2008
16. गौतम, एस. एस., *बुद्ध कबीर अम्बेडकर*, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2010
17. चंचरीक, कन्हैया लाल, *महात्मा ज्योतिबा फुले*, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2000
18. चौधरी, उमा शंकर, *दलित विमर्श कुछ मुद्दे कुछ सवाल*, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्रथम संस्करण, 2011
19. चौबे, डॉ. देवेंद्र कुमार (सम्पा.), *साहित्य का नया सौन्दर्यशास्त्र*, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2006
20. चौबे, डॉ. देवेंद्र कुमार, *आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श*, ओरियंट ब्लैक स्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, प्रथम संस्करण, 2009
21. चौहान, सूरजपाल, *हैरी कब आएगा ?*, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2003
22. चौहान, सूरजपाल, *हिन्दी के दलित कथाकारों की पहली कहानी*, अनुभव प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, 2004
23. चौहान, सूरजपाल, *तिरस्कृत*, अनुभव प्रकाशन, गाजियाबाद, द्वितीय संस्करण, 2005
24. चौहान, सूरजपाल, *नया ब्राह्मण*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009
25. टाकभौरे, सुशीला, *हाशिए का विमर्श*, नेहा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015

26. डॉ. धर्मवीर, *दलित आत्मालोचन की प्रक्रिया*, मुहिम प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संस्करण, 2007
27. डॉ. धर्मवीर, *बालक श्यौराज महा शिलाखंडों का संग्राम*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014
28. डॉ. धर्मवीर, *जूठन का लेखक कौन है ?*, अदीबा बुक्स, हापुड़, संस्करण, 2015
29. तिवारी, बजरंग बिहारी, *दलित साहित्य : एक अन्तर्यात्रा*, नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, 2015
30. दास, डॉ. श्यामसुंदर (सम्पा.), *कबीर ग्रंथावली*, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1985
31. दुबे, अभय कुमार (सम्पा.), *आधुनिकता के आईने में दलित*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति, 2007
32. दुसाध, एच. एल., *भूमण्डलीकरण के दौर में ब्राह्मणवाद कितनी बड़ी समस्या*, दुसाध प्रकाशन, उत्तर प्रदेश, संस्करण, 2008
33. नैमिशराय, मोहनदास, *अपने अपने पिंजरे भाग–1*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1995
34. नैमिशराय, मोहनदास, *आवाजें*, समता प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998
35. नैमिशराय, मोहनदास, *हमारा जवाब*, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005
36. नैमिशराय, मोहनदास, *अपने अपने पिंजरे भाग–2*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2006
37. नैमिशराय, मोहनदास, *हिन्दी दलित साहित्य*, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011
38. पचौरी, सुधीश, *भूमंडलीकरण और उत्तर–सांस्कृतिक विमर्श*, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003
39. पाण्डेय, डॉ. मैनेजर, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, तृतीय संस्करण, 2006

40. पाण्डेय, मैनेजर, सर्वेश कुमार मौर्य (सम्पा.), *साहित्य और दलित दृष्टि*, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015

41. प्रसाद, माता, *हिंदी काव्य में दलित काव्यधारा*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1982

42. प्रसाद, माता, *दलित साहित्य दशा और दिशा*, भारतीय दलित साहित्य अकादमी, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003

43. प्रसाद, माता, *दलित साहित्य में प्रमुख विधाएँ*, आकाश पब्लिशर्स, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, 2009

44. फुले, महात्मा ज्योतिबा, *रचनावली खंड 1*, अनु. डॉ. एल. जी. मेश्राम विमलकीर्ति, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2009

45. बड़गूजर, डॉ. राजेन्द्र, *हिन्दी दलित आत्मकथाओं में बचपन*, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013

46. बड़त्या, सूरज, *सत्ता संस्कृति और दलित सौंदर्यशास्त्र*, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012

47. बटोही, दयानंद, *सुरंग*, ज्योत्स्ना गहलौत प्रकाशन, बोकारो, बिहार, प्रथम संस्करण 1995

48. बर्धन, ए. बी., *वर्ग जाति आरक्षण और जातिवाद के खिलाफ संघर्ष*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2010

49. बैसन्तरी, कौशल्या, *दोहरा अभिशाप*, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1999

50. बैसन्तरी, देवेन्द्र कुमार, *भारत के सामाजिक क्रान्तिकारी*, दलित साहित्य प्रकाशन संस्था, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2001

51. बौद्ध, शांति स्वरुप, *ज्योतिबा फुले की अमर कहानी*, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008

52. भारती, कंवल, *डॉ. आम्बेडकर : एक पुनर्मूल्यांकन*, बोधिसत्त्व प्रकाशन, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1997

53. भारती, कंवल, *दलित साहित्य की अवधारणा*, बोधिसत्त्व प्रकाशन, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 2006

54. भारती, कंवल, *दलित विमर्श की भूमिका*, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहबाद, पुनर्मुद्रण, 2007

55. भारती, कंवल, *राहुल सांकृत्यायन और डॉ. अंबेडकर*, साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007

56. भारती, कंवल, *आजीवक परम्परा और कबीर अर्थात् दलित धर्म की खोज*, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2010

57. भारती, कंवल, *स्वामी अछूतानन्द जी 'हरिहर' और हिन्दी नवजागरण*, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011

58. भारती, कंवल, *दलित धर्म की अवधारणा और बौद्ध धर्म*, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012

59. भारती कंवल, *दलित कविता का संघर्ष*, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012

60. भारती, डॉ. रामविलास, *बीसवीं सदी में दलित समाज*, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014

61. भारती, अनिता और संजीव चंदन (सम्पा.), *दलित स्त्रीवाद, द मार्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन*, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2017

62. भंडारे, डॉ. मनोहर (सम्पा.), *दलित साहित्य समग्र परिदृश्य*, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013

63. मस्के, साक्षांत, *परम्परागत वर्ण–व्यवस्था और दलित साहित्य*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009

64. मण्डल, सुमन, *भारतीय सामाजिक व्यवस्था*, अमेजिंग पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण, 2015

65. माचवे, प्रभाकर, *भारतीय साहित्य के निर्माता कबीर*, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण, 2014

66. मान्यवर कांशीराम, *चमचायुग*, अनु. मोजेज माइकेल, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2010

67. मिश्र, डॉ. महेन्द्र कुमार, *महिलाओं के कानूनी अधिकार*, दिव्यम प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014

68. 'मीनू', डॉ. रजत रानी, *हिन्दी दलित कविता*, नवभारत प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009

69. 'मीनू', डॉ. रजत रानी, *हिन्दी दलित कथा–साहित्य अवधारणाए और विधाएं*, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014

70. मीनू, डॉ. रजत रानी, *पिता भी तो होते हैं माँ*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015

71. मेघवाल, डॉ. कुसुम, *भारतीय नारी के उद्धारक : बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर*, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2010

72. मैनी, धर्मपाल, *भारतीय साहित्य के निर्माता रैदास*, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण, 2015

73. यादव, चौथीराम, *उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज*, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014

74. यादव, राजेन्द्र (सम्पा.), *आदमी की निगाह में औरत (स्त्री विमर्श और स्त्री लेखन)*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति, 2010

75. रत्तू, डॉ. कृष्ण कुमार, *समकालीन भारतीय दलित समाज बदलता स्वरुप और संघर्ष*, बुक एन्क्लेव, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2003

76. राजे, सुमन, *इतिहास में स्त्री*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2015

77. राम, दिनेश, *दलित मुक्ति का प्रश्न और दलित साहित्य*, श्री साहित्यिक संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2002

78. राम, डॉ. तुलसी, *मुर्दहिया*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012

79. लाल, डॉ. चमन, *भारतीय साहित्य में दलित एवं स्त्री लेखन*, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2001

80. लिंबाले, शरण कुमार, *दलित ब्राह्मण*, अनु. निशिकांत ठकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2008

81. लिंबाले, शरणकुमार, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, अनु. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति, 2010

82. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *जूठन*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997

83. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *सलाम*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2000

84. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *मुख्यधारा और दलित साहित्य*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002

85. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *घुसपैठिये*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003

86. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति, 2009

87. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *छतरी*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013

88. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *जूठन दूसरा खंड*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण दिसंबर, 2015

89. वियोगी, डॉ. कुसुम, *समकालीन दलित कहानियाँ*, मुहिम प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संस्करण 1998

90. वियोगी, डॉ. कुसुम, *चर्चित दलित कहानियाँ*, गौतम प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2008

91. वियोगी, डॉ. कुसुम, *दलित महिला कथाकारों की चर्चित कहानियाँ*, वैभव प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2008

92. वीरोदय, डॉ. यशवंत, *दलित शिखरों के साक्षात्कार*, नवभारत प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, 2013

93. सत्यप्रेमी, पुरुषोत्तम, *दलित साहित्य : सृजन के संदर्भ*, कामना प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1999

94. सन्तोषी, हरकिशन, *दलितों के दलित स्थिति, परिस्थिति और संभावनाएँ*, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, संस्करण, 2009

95. सरोए, गणेशदास, *श्यौराज सिंह 'बेचैन' के काव्य में दलित चेतना*, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, 2014

96. सर्राफ, डॉ. रामकली (सम्पा.), *दलित लेखन का अन्तर्विरोध*, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2012

97. सिंघल, डॉ. धर्मपाल (टीकाकार), *गुरु रविदास दर्पण (श्री गुरु रविदास का टीका)*, अमरज्ञान प्रकाशन, पटियाला, प्रथम संस्करण, 1996

98. सिंह, पी. एन., *अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य*, आधार प्रकाशन, पंचकूला, संस्करण 2009

99. सिंह, डॉ. एन., *दलित साहित्य के प्रतिमान*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति, 2014

100. सिंह, डॉ. एन., *दलित चिन्तन : अनुभव और विचार*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015

101. सिंह, डॉ. तेज, *दलित समाज और संस्कृति*, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्रथम संस्करण, 2007

102. सिंह, डॉ. तेज, *अंबेडकरवादी कहानी रचना और दृष्टि*, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2010

103. सिंह, डॉ. तेज, *अंबेडकरवादी साहित्य की अवधारणा*, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2012

104. सिन्हा, सच्चिदानन्द, *भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति 2016

105. त्रिपाठी, कुसुम, *स्त्री संघर्ष के सौ वर्ष*, भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013

सहायक पत्रिकाएं

1. अहमद, डॉ. एम. फीरोज, *वाङ्मय* (त्रैमासिक पत्रिका), जनवरी–मार्च, 2006
2. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश (सम्पा.), *दलित साहित्य वार्षिकी,* 2002, 2011, 2012
3. गगन, धर्मवीर यादव (सम्पा.), *बहुजन वैचारिकी* (डॉ. तुलसी राम पर केंद्रित विशेषांक), जनवरी, 2016
4. गुप्ता, रमणिका (सम्पा.), *युद्धरत आम आदमी* (कथा मासिक पत्रिका), जुलाई–सितंबर, 2013, मई, 2017
5. चारुमित्र, द्वारिका प्रसाद (सम्पा.), *अनभै साँचा* (दलित विमर्श पर केन्द्रित विशेषांक), अक्टूबर–दिसंबर, 2008
6. तिवारी, विनोद (सम्पा.), *पक्षधर* पत्रिका, जनवरी, 2012
7. थोरात, विमल (सम्पा.), *दलित अस्मिता* (त्रैमासिक पत्रिका), अक्टूबर–दिसंबर, 2010, अप्रैल–जून, 2011
8. पचौरी, सुधीश (सम्पा.), *वाक्* (त्रैमासिक पत्रिका), अंक–13, वर्ष–2012
9. परवीन, फरहत (सम्पा.), *आजकल* (कथा मासिक पत्रिका), मार्च, 2014, अप्रैल, 2014
10. पाण्डे, मृणाल, कादम्बिनी (कथा मासिक पत्रिका), अगस्त, 2004
11. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह और अजय नावरिया (अतिथि संपादक), *हंस* (दलित विशेषांक), अगस्त, 2004
12. 'बेचैन', डॉ. श्यौराज सिंह (प्रधान संपादक), *बहुरि नहिं आवना* (त्रैमासिक पत्रिका), अंक – जनवरी से मार्च, 2010, अक्टूबर से दिसंबर, 2010, अक्टूबर 2011 से मार्च 2012, जनवरी 2015 से दिसंबर 2015
13. भट्ट, डॉ. जीतराम (सम्पा.), *इन्द्रप्रस्थ भारती* (त्रैमासिक पत्रिका), जनवरी–मार्च, 2016
14. मिश्र, शिवकुमार (सम्पा.), *नया पथ,* जनवरी, 1998
15. मौर्य, मंजू (सम्पा.), *सम्यक भारत* (प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' पर केंद्रित विशेषांक), नवंबर, 2012

16. यादव, राजेन्द्र (सम्पा.), *हंस* (कथा मासिक पत्रिका), अंक – जुलाई 2000, सितंबर 2005, मई 2006, जनवरी 2013, जुलाई 2013, मार्च 2014, सितंबर 2016
17. सिंह, डॉ. तेज (सम्पा.), *अपेक्षा* (त्रैमासिक पत्रिका), जुलाई से दिसंबर, 2010

सहायक समाचार–पत्र

1. *अमर उजाला* (दैनिक समाचार–पत्र), 22 जुलाई, 2008, 30 मई, 2017
2. *दैनिक भास्कर* (दैनिक समाचार–पत्र), 31 जनवरी, 1999, 07 फरवरी, 1999
3. *दैनिक जागरण* (दैनिक समाचार–पत्र), मुरादाबाद, 17 और 18 अप्रैल, 2013
4. *जनसत्ता* (रविवारीय परिशिष्ट), 28 जून, 2015
5. *राष्ट्रीय सहारा* (दैनिक समाचार–पत्र), 18 जनवरी, 1997, 25 जनवरी, 1997

अंग्रेजी पत्र–पत्रिकाएं

1.Divyal, Vibhanshu, A milestone in Dalit literature, *SUNDAY PIONEER* (Daily), 29 August, 2010

2.Mani, Brij Ranjan, The Dalit as a Literary Metaphor, *TEHELKA*, 25 September, 2004

3.Ram, Dinesh, Selling nimboos, writing poetry, *SUNDAY PIONEER* (Daily), 18 April, 1999

4.Kumar, Kuldeep, Reservation in literature?, *THE HINDU* (Daily), 26 April, 2013

5.'Bechain', Dr. Sheoraj Singh, Voices of awakening, Traslated by Tapan Basu, *THE HINDU* (Daily), 03 August, 2008

6.*The Times Of India* (Daily), 23-24 October, 2007 and 03 July, 2009

7.Basu, Prof. Tapan, a long long way….., *THE HINDU* (Daily), 12 April, 2015